

सहजानंद शास्त्रमाला

रत्नकरंड श्रावकाचार प्रवचन

भाग 2

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य कृत

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

टीकाकार :

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

“श्रीमत्सहजानन्द” महाराज

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल

ग्रन्थ क्रमांक.....

प्रकाशक

सुनील कुमार जैन

मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण
११००

सन् १९९६

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मूल्य
६० रु

प्रस्तावना रत्नकरण्ड श्रावकाचार

भारतीय धर्मों में जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसके अहिंसा और अपरिग्रहवाद आदि सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन हैं। इसके प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव हैं। जिन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है। जैन सिद्धान्त ने ही लोक में समता-समानता अथवा विश्व प्रेम की अनुपम धारा को जन्म दिया है। अनेकान्त के व्यवहार द्वारा उनके पारस्परिक विरोधों का निरसन करता हुआ उनके जीवन में समन्वय और सहिष्णुता का आदर्श पाठ सिखाता है।

जैन धर्म में भावों की प्रधानता है, उस में परिणामों की अच्छाई, बुराई का जो स्वरूप एवं फल बतलाया गया है और जो जीवन की उन्नति अवनति का स्पष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से मानव अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकता है और पूर्ण विकास तक पहुँच सकता है।

जैन धर्म में जहाँ भावों की प्रधानता है वहाँ उनके आचार को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। उसके सिद्धान्त चार भागों में विभक्त हैं जिन्हें चार अनुयोग भी कहते हैं, चरणानुयोग में जीवों के आचार मार्ग का विधिवत कथन है। इसमें गृहस्थ और साधुओं के आचार-विचार का विवेचन है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी आचार मार्ग से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण इस का नाम “रत्नकरण्डश्रावकाचार” है। ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ उपलब्ध श्रावकाचारों में सब से प्राचीन है। ग्रन्थ में आप्त-आगम और गुरु के लक्षणों की परिभाषायें तथा रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन किया है साथ ही जैन तीर्थंकर केवली की धर्म देशना को सुन्दर उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है।

इस ग्रन्थ के कर्ता प्रतिभा सम्पन्न विद्वान्, आचार्य, तर्कशिरोमणि और महान् योगी थे आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी। आप में वाद करने की अद्भुत शक्ति थी। आप का व्यक्तित्व महान् और प्रज्ञायें असाधारणता थी। आप क्षत्रिय राजपुत्र थे। आप का बाल्यकालीन नाम शान्ति वर्मा था। उन्होंने सांसारिक वैभव निःसार समझकर छोड़ दिया था। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी का समय विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी माना जाता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर जो पूज्य गुरुवर्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज ने प्रवचन दिये हैं वह इतने लोकप्रिय हुए कि स्वाध्याय प्रेमियों की मांग को देखते हुए पुनः प्रकाशित करायें जा रहे हैं एक-एक सूत्र पर यह प्रवचन श्री सहजानन्द जी के जीवन की आत्म साधना अथवा ज्ञानाभ्यास का अनुपम फल है। इन प्रवचनों के अवलोकन से महाराज श्री की आन्तरिक भावना का परिज्ञान और उनकी लगन, कर्तव्यनिष्ठा, उत्साह तथा आत्म जागृति का भान सहज में हो जाता है।

पाठक प्रवचनों की भाषा विशेषता और विवेचन शैली का स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार यह प्रवचन गृहस्थों के लिए बहुत ही उपयोगी है। प्रवचनों में कहीं-कहीं पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा कहा गया है। अर्थात् आचार मार्ग का विधि विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरूपित किया गया है। क्योंकि श्री सहजानन्द जी महाराज का आशय विशुद्ध और वस्तु स्थिति के दिखलाने का रहा है।

इस संस्करण को नया रूप देने में मान्यवर खेमचन्द जी जैन सर्राफ मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्र माला ने अथक परिश्रम किया है, जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, इसके लिए वह बधाई के पात्र हैं। मेरी तो यही भावना है कि सभी धर्म स्नेही बन्धु इस ग्रन्थ का पठन-पाठन रूप स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनावें।

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल

ग्रन्थ क्रमांक.....

सुमेर चन्द जैन
सम्पादक
“वर्णी प्रवचन”

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

<http://sahjanandanishastra.org/>

पूज्य श्री १०५ क्षु० गुरुवर्य मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराज



जन्म स्थान—दुमदुमा (जिला टीकमगढ़), बुन्देलखण्ड (म० प्र०)

जन्म तिथि—कार्तिक कृष्ण दशमी ब्रह्ममुहूर्त सं० १९७२, सन् १९१५

साहित्य निर्माण—१९४२ से १९७८ तक, ग्रन्थ-संख्या लगभग ५००

शरीरत्याग काल—३० मार्च सन् १९७८ त्यागी भवन सदर सेरह ।

रत्नकरण्ड प्रवचन द्वितीय भाग

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसज्ज्ञानः ।

रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ॥

चारित्रपालनका अधिकारी—मोहरूपी अंधकारके नष्ट होनेपर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा साधु रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यक्चारित्रको धारण करता है। इस छंदमें कितनी ही बातोंका तथ्य बताया गया है। चारित्रको साधु प्राप्त करता है, साधुता बिना, निरारम्भ निष्परिग्रह हुए बिना, अपने आपके स्वरूपका परिचय पाये बिना चारित्र नहीं पाया जा सकता। गृहस्थावस्थामें जो कुछ पाया जाता है धर्म, जो कुछ किया जाता है व्यावहारिक कर्म, आवश्यक बातें, उनका कितना असर है। बस जब कर रहे तब थोड़ा ध्यान है, बादमें उससे भी उल्टे चलने लगे, इसे कहते हैं गजस्नान। जैसे हाथी तालाबमें खूब नहाये सूँढमें पानी भर-भरकर पीठमें खूब डाले और बाहर आने पर अपनी आदतके अनुसार सूँढमें धूल भर-भरकर अपनी पीठमें डाले। ऐसे ही गृहस्थ किसी किसी प्रसंगमें धार्मिक कार्य करता है—मंदिर आया, स्वाध्याय किया, सत्संगमें बैठे, गुरुभक्ति की, अनेक कार्य किया और कुछ ही देर बाद चूँकि गृहस्थीका प्रसंग ही ऐसा है कि आजीविका बिना कार्य चल नहीं सकता है। सो अन्य बातें उपयोगमें चित्रित होने लगती हैं। तो चारित्र पालनका अधिकार साधुओंको है क्योंकि वे आत्मज्ञानी हैं। आरम्भ परिग्रहसे अत्यन्त दूर हैं। अच्छा तो साधुजन किसलिए चारित्र पालते हैं? रागद्वेषके बिल्कुल हटानेके लिए। यहां एक बात जानना कि चारित्र नाम है आत्माके स्वभावमें अपने उपयोगको रमाना यह कहलाता है चारित्र, जो कर्मोंके क्षयका हेतुभूत है। इसकी पात्रता आती है उनके, जिनके व्यवहार चारित्र होता है। गुप्ति समितिकी योग्य क्रियाओंसे आवश्यक कार्य करना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदिक जो व्यवहार चारित्र हैं उनके पालनहार इस निश्चय चारित्रका अधिकारी हो पाता है।

चारित्रपालनका प्रयोजन—चारित्र किसलिए है कि रागद्वेष बिल्कुल हट जायें। रागद्वेष क्यों हटावें कि रागद्वेष ही दुःख है, संसार है, कष्ट है। रागसे कष्ट होता है यह बात तो दूर की है, पर राग ही स्वयं कष्टरूप है। द्वेष करनेसे कष्ट होता है, यह बात तो दूरकी है पर द्वेष परिणाम होते ही तत्काल कष्टका अनुभव होता है क्योंकि रागद्वेष परिणाम अपने स्वभावसे विपरीत हैं। बाहरमें उपयोग झुलाने वाले हैं। सो जैसे मछली जलसे अलग हो जाय तो जैसे स्वयं ही तड़फती है उसे कोई तड़फाने वाला नहीं है ऐसे ही चूँकि वह अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गया तो यह स्वयं ही तड़फता है, कष्टरूप होता है। तो चूँकि रागद्वेष ही संकट है सो उसकी निवृत्तिके लिए साधुजन चारित्र प्राप्त करते हैं। जिसके अन्दरमें यह निर्णय बन गया कि मुझे जगतके इन पौद्गलिक और मायामय संगोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

मेरेको तो अपने आपके स्वरूपमें उपयोग चाहिए। बस मैं केवल अपने स्वरूपको ही निरखूँ, उस ही में अपना अनुभव करूँ कि मैं यह हूँ और जो वस्तु स्वभावसे हो रहा है, होता ही है उत्पाद निरन्तर, सो हो, मुझे अन्य कुछ बाधा नहीं है, पर जिनका वास्तवमें वस्तु स्वरूपका सही निर्णय हो गया तो उनको भीतरमें आकुलता नहीं है। आकुलता होती है बनावटसे, आनन्द होता है सहज। आनन्द होनेमें किसी बाह्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं होती। अपेक्षा हो तो आनन्द नहीं रहता, किन्तु सुख और दुःख पाने में बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा है। इन्द्रिय विषयोंसे सुख माना जाता है, उसका आश्रय है, उसका विकल्प है, परापेक्ष है। किसी प्रकारका कष्ट बनता है तो उसमें किसी परका आलम्बन है। किसी परका ख्याल करके ही तो यह दुःखी हो रहा है। परापेक्ष भाव सब कष्टरूप है। पर वास्तविक आत्मीय आनन्द यह केवल आत्माके आश्रयसे होता है। परका ध्यान आ जाय तो सहज आनन्द नहीं रह सकता, स्वलीनतामें आनन्दमय होना यह है चारित्रकी स्थिति। सम्यग्दर्शनसे तो जान लिया कि आनन्दका धाम यह आत्मा है और अनुभव करके पहचान लिया कि बाहरके किसी पदार्थमें आनन्द नहीं है और उनका लगाव व्यर्थ है। सब बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं, नष्ट हो जायेंगे। सर्व बाह्यपदार्थ मुझसे अत्यन्त जुड़े हैं, उनसे मुझमें आता क्या है? बाह्यपदार्थोंपर उपयोग किया तो चूँकि यह उपयोग अपनी जगहसे हट गया उपयोग मुखेन तो स्वस्थान भ्रष्ट होनेसे यह आकुलित होता ही है, इस कारण किसी भी पर और परभावसे मेरेको लगाव नहीं रखना है। ऐसा जिसका निर्णय हुआ है कि यह ध्येय बन जाता है कि रागद्वेषको मूलसे हटाना ही है, इस ही में मेरा लाभ है। ऐसा जानकर पुरुष आरम्भ परिग्रहसे रहित होकर चारित्रको धारण करता है, जिसके ऐसा सम्यग्ज्ञान नहीं जगा वह चारित्र कैसे पा लेगा? बाह्य क्रियाकाण्ड उस ही के लिए मददगार है, सहायक है पात्र बनानेके लिए जिसने अपने सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाया कि मैं यह हूँ अमूर्त ज्ञानमात्र बस इन दो विशेषणोंसे अपने आपका पौरुष बनायें स्वमें लीन होनेका।

आत्माके बन्धनका रूप व बन्धन मुक्तिका सुगम उपाय—यह आत्मा शरीरसे बंधता नहीं, कर्मसे बंधता नहीं पर निमित्त नैमित्तिक बंधन है। एक बंधना होता है ऐसा जैसा कि रस्सीसे रस्सी बांध ली। एक होता है कि जैसे गायको बांध दिया। कोई भी मनुष्य एक हाथमें गायका गला पकड़कर और दूसरे हाथमें रस्सी पकड़कर गलेसे रस्सी नहीं बांधता। बांध ही नहीं सकता, और कोई मान लो पहलवान हो, जोर लगाकर बांधना चाहे तो गाय जिन्दा नहीं रह सकती, मर जायगी। तो गायके गलेसे रस्सी कोई नहीं बांधता, रस्सीके एक छोरसे दूसरा छोर बांधता है। गाय निमित्त नैमित्तिक बंधनसे बंध जाती है। कहीं जा नहीं सकती, ऐसे ही शरीरसे शरीर बंधा, कर्मसे कर्म बंधा, यों डायरेक्ट नहीं बंध सकता कि इस अमूर्त आत्माको शरीरसे कर्मसे बांध दिया जाय। पर निमित्त नैमित्तिक बन्धन भी बड़ा विचित्र बन्धन है। वह इस तरहसे बांधेकी ही तरह है। जैसे किसी गायके एक दो दिन पहले ही बछड़ा हुआ है और उस गायको कहीं बाहरले जाना है तो लोग उस गायको रस्सीसे बांधकर नहीं ले जाते, उसके बछड़ेको गोदमें लेकर आगे आगे चलते जाते हैं। और गाय पीछे पीछे चलती जाती है। उस गायको किसी चीजसे बांधा नहीं फिर भी उसके आश्रय वाला बंधन ऐसा विकट है कि जहां बछड़ेको ले जावेगा वहां गाय अपने आप चली जायगी। तो निमित्त नैमित्तिक बंधन भी विकट बंधन होता है

फिर भी ऐसी स्थितिमें ज्ञानी संतजन केवल आत्माके सहज अमूर्त ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखते हैं और इस निरखनेके अभ्याससे आटोमेटिक स्वयं ही निमित्त नैमित्तिक योगवश कर्म झड़ते हैं, और जो शेष राग रहा शुभ राग, उसका निमित्त पाकर पुण्यरस बढ़ता है, यह स्थिति स्वयं होने लगती है।

अपने भावोंकी निर्मलतापर अपना पवित्र होनहार—जीवका अधिकार भाव करने पर है। सर्व कुछ बात जीवके भावोंपर निर्भर है। लौकिक आनन्द जीवके भावोंपर निर्भर है। मोक्षका आनन्द जीवके भावोंपर निर्भर है। जिसको शरीर निरोग मिला, रूपवान मिला, आकर्षक मिला अथवा जिसको वाणी मनमोहक मिली, जिसका आज मन बड़ा पवित्र बना, जो सबका भला चाहता। दीन दुःखियों पर दया करता, ये सब बातें जो मिली हैं ये पूर्वमें जो शुभ भाव किए उसके प्रतापसे मिले हैं। धन भी खूब आये यह बात भी आत्माके भावोंपर निर्भर है, पर वर्तमान भाव पर नहीं। किन्तु पूर्वभाव शुभ किया था, जिनका निमित्त पाकर पुण्यबंध होता। आज उस उदय कालमें इष्ट समागम मिला। तो देखिये सर्वकुछ बात अपने भावोंपर निर्भर है। अतः भाव विशुद्ध होने चाहिए। सबकी भलाईकी हो, आत्मदृष्टि की हो। अपने आपको अकेला निरखिये, आपका कोई सहयोगी नहीं है, आपके परिणमनमें कोई योग दे सके, ऐसा न कभी हुआ, न कभी हो सकेगा। आप अकेले ही परिणमते हैं, अकेले ही अवस्था बनाते हैं इसलिए खुद खुदके ही जिम्मेदार हैं। ऐसा विश्वास रखना है। अपना कर्तव्य देखिये। जिस जीवने सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा साधु रागद्वेषके हटानेके लिए चारित्रको धारण करता है।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी निष्पत्ति—सम्यक्त्वने मार्ग दिखाया, चारित्रने मार्गमें चला दिया, अब यह जीव अपने मंजिल पर पहुंच ही जायगा। मार्ग दिख जानेपर जितनी उमंग होती है भीतर चलनेके अभिमुख होते हैं। इतनी बात तो सम्यक्त्वाचरण हो ही गई है, किन्तु उसपर प्रयोग बने, यह सम्यक्चारित्रमें होता है जिसने सम्यग्ज्ञान पाया है वह साधु चारित्र पालता है। सम्यग्ज्ञान मिला कैसे? सम्यक्त्वके लाभसे। सम्यक्त्व कब पाया? सर्वसे निराले अमूर्त ज्ञानमात्र इस परमार्थ अंतस्तत्त्वकी दृष्टि रखकर इसके अभ्याससे जब ज्ञान इस ही ज्ञानमात्रको अनुभवने लगे, जानने लगे उस कालमें इसके सम्यक्त्व उत्पन्न होता। जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न होता उसके सम्यक्त्वसे पहलेका ज्ञान झूठा न था, सही था फिर भी सम्यग्ज्ञान न था। जैसे जिसने जो देश नहीं देखा, मानो अमेरिका नहीं देखा। उसने पुस्तकोंसे पढ़कर, नक्शोंको देखकर, अमेरिका गए हुए पुरुषोंसे मुहजबानी सुनकर अमेरिकाका ज्ञान तो किया। वह ज्ञान सही है मगर अभी सम्यक् नहीं है, और वही पुरुष उस देशमें जाकर आंखों देखे वहांके नदी, पहाड़, महल, सड़कें आदि तो उसका वहां जो ज्ञान स्पष्ट बना है उसे मानलो लौकिक सम्यक्। जिसने श्रवण बेलगोल में बाहुबलिके दर्शन नहीं किया वह जान रहा सही सही पुस्तकोंसे पढ़कर या दर्शन कर चुकने वाले पुरुषोंसे सुनकर पर वही पुरुष जब वहां पहुंचकर साक्षात् रूपमें दर्शन करता है। सामने मूर्तिको निरखता है तो बताओ इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें कुछ फर्क है कि नहीं? हां है फर्क। साक्षात् दर्शन करनेसे पूर्वका जो ज्ञानथा वह सही था पर अनुभवपूर्ण ज्ञान न था। सामने निरखनेसे बना अनुभवात्मक ज्ञान। अनुभवात्मक ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अनुभवसे पहलेका ज्ञान सम्यक् नहीं है। जो पुरुष जीव अजीव आदिक तत्त्वोंका ज्ञान नहीं रखते। आत्माके स्वरूपकी

बात नहीं सुनते उन पुरुषोंके तो सम्यक्त्व दुर्लभ है, पर जिन्होंने ७ तत्त्वोंका ज्ञान किया, सही आत्माके स्वरूपकी बात समझी, जानी, उस ही सही ज्ञानके आधार पर तो आत्माकी उपासना करते हैं। उस उपासना को करते हुए मैं जिस समय ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इसका परिचय बनता है वहां जगता है अपना अनुभवात्मक ज्ञान और ज्ञानानुभव होनेके बाद अब जो आत्माका ज्ञान है वह है सम्यग्ज्ञान। ज्ञानानुभवके साथ ही जो ज्ञान बना वह है सम्यग्ज्ञान। जैसे किसीने जो चीज नहीं खाया, मानो एक अनन्नास फल है जो बंगाल आसाम में अधिक होता, कभी कभी यहाँ भी बिकने आ जाता, तो जिसने उसको कभी नहीं खाया, उसे कोई कितना ही समझाये कि उसका ऐसा मीठा स्वाद होता है कितने ही उदाहरण दे देकर समझाये फिर भी उसको उस अनन्नास फलका सही-सही स्वाद अनुभवमें न आयगा। हां यदि वही फल उसे जरा सा चखा दिया जाय तो झट उसे उसका अनुभवपूर्ण ज्ञान हो जायगा। तो अनुभवसहित ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन जब उत्पन्न होता है तो वह अनुभव पूर्वक ही होता है। सम्यक्त्व हुए बाद फिर उसका अनुभव बहुत दिन तक न भी बने तो भी सम्यक्त्व रहता है प्रतीति रूपमें, पर अनुभव बिना सम्यग्दर्शन नहीं है।

निर्मोह स्थितिही सुखदाता—सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता है? मोहरूपी अंधकारके नष्ट होनेपर। जहां मोह बसा है वहां सम्यक्त्व नहीं है। मोह अज्ञान पड़ा है वहां सम्यक्त्वका क्या काम? मोह मिटाकर गृहस्थ धर्म रह सकता है। राग दूर करके घरमें न रह पायेंगे। मोह दूर करके घरमें रहने वाला गृहस्थ ज्ञानसे रहता है, गौरवसे रहता है। अनाकुल रहकर रहता है और मोही गृहस्थ घरमें व्याकुल होकर रहता है, अव्यवस्थित रहता है। तो मोह दूर करके घर रहनेमें आपका क्या बिगाड़ है? घर है आपका माना हुआ, वह कहीं जायगा नहीं। न भी मोह करें तो उसमें फर्क क्या पड़ता है। न किसी बच्चेको कोई तकलीफ होती, न किसीके बीचमें ही मृत्यु होती। आपके मोह न करनेसे नुकसान क्या होता है? आप भले प्रकार व्यवस्थित रहने लगें, अनाकुल रहने लगें, सदगृहस्थ बनकर रहें, स्वयं किसीसे मोह न करें और परिजनोंको भी हितके मार्गमें लगायें, उन्हें समझायें कि देखो यहां किसीका कोई कुछ नहीं है, सर्व जीवोंकी सत्ता स्वतंत्र स्वतंत्र है। सर्वमें अपने भावोंके अनुसार कर्मबन्धन है, उसके अनुसार संसारके सुख दुःख प्राप्त होते हैं, सो ये भी न चाहिए। इन सब विकारोंसे हटकर अपने आपके सहज स्वरूपका मनन करनेमें कल्याण है। मोह न करो कोई किसीसे। ऐसा परिजनोंको समझायें तो देखिये कितना शुद्ध वातावरण होता है। शान्तिमय वातावरण होता है। सबको लाभ मिलेगा। पर मोह करनेसे, घबड़ानेसे, लगाव रखनेसे आकुलता, अव्यवस्था अशान्ति रहती, इस कारण तत्त्वज्ञान बढ़ायें जिससे मोहभाव न रहे। तो मोहरूपी अन्धकारके दूर होनेपर सम्यक्त्वका लाभ होता है। अच्छा तो मोह अन्धकार दूर हो इसके लिए क्या करना? जिसमें मोह रंच भी न रहा ऐसे वीतराग प्रभुके गुणोंका स्मरण करना। जिनके मोह नहीं है ऐसे गुरुजनोंका सत्संग करना, वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत आगमका अभ्यास करना, ये सब काम करने होते हैं।

देव शास्त्र गुरुकी आस्थाकी सम्यक्त्वोत्पादमें प्रयोजकता—यहां यहभी जानना है कि देव शास्त्र गुरूपर ही दृष्टि रखनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता। कोई ऐसा ही जानले कि ये भगवान ही मुझे सम्यक्त्व

देंगे, ये गुरु ही मुझे सम्यक्त्व देंगे, को यों सम्यक्त्व न मिलेगा, क्योंकि उसकी श्रद्धामें वह सम्यक्त्वका धाम सहज आत्मस्वरूप दृष्टिमें नहीं आया है तब फिर सम्यक्त्व कैसे मिलेगा? सारे विकल्प छूट कर जब यह सहज चैतन्य स्वरूपको ही ज्ञानमें लेगा तो सम्यक्त्व होगा, तो यहां कोई कहे कि जब अपने ही भगवान सहज आत्म स्वरूपकी दृष्टिके आश्रयसे सम्यक्त्व होता है तो फिर ये उपाय क्यों बताये जाते कि देव, शास्त्र, गुरुकी उपासना करो। सत्संग, स्वाध्याय, तत्त्वज्ञान, अध्ययन आदि इन उपायोंको क्यों बताया जाता है? तो भाई इन उपायोंको किये बिना वे शुभ भाव नहीं बन सकते हैं जिन शुभ भावोंके अनन्तर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अशुभ भावके बाद कभी भी सम्यक्त्व नहीं होता। एक भी दृष्टांत ऐसा नहीं है कि अशुभोपयोगके बाद ही सम्यक्त्व हुआ हो किसीको। जिन्हें कारण लब्धियाँ कहा करते, उनके पाये बिना सम्यक्त्व नहीं होता और ये उपलब्धियाँ शुभापयोगमें हैं। तो शुभोपयोगके ये सब साधन हैं। ये उपाय है, जानकर, समझकर और करनेका कर्तव्य क्या है कि जिससे सम्यक्त्व लाभ हो? आत्माके स्वरूपका ज्ञान करें, उसका मनन करें, उसका साधन है स्वाध्याय व अध्ययन और वीतराग सर्वज्ञ देवके गुणोंका स्मरण करना। आत्म स्वभावके इस स्वरूपको एक दृढ़ता पूर्वक समझिये, यही है जानबूझकर पौरुष करनेकी बात। फिर किसी क्षण बाल विकल्प छूटकर अपने आपमें अपना ज्ञानोपयोग आयेगा, रमेगा, सम्यक्त्व लाभ होगा। तो यह जो बाहरी भौतिक पौद्गलिक मायामय पदार्थ हैं इनको ही जो अपना हितकारी मानता है, सुखकारी मानता है। यह तो एक घोर अन्धकार है। सत्य परिचय रखिये और फिर गृहस्थीमें हैं तो उसके योग्य कार्य करिये। करना पड़ेगा मगर इसमें मेरा हित होगा, ऐसे मिथ्या आशयको निकालना होगा। मेरा हित ज्ञानानन्द निधान मेरे चैतन्य स्वरूपके आश्रयसे ही होगा, दूसरा कोई मेरा हित नहीं। तो ये सब बातें जिनके चित्तमें बसी हैं और इस ही आत्माकी धुन लगी है वे पुरुष इस आत्मतत्त्वके पानेके लिए सर्व कुछ त्याग कर देते हैं, निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होते हैं और वे रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए अपने आत्मस्वरूपमें रमनेका पौरुष करते हैं। इसीका नाम है सम्यक्चारित्र। जिसमें यह सम्यक्चारित्र संयम नहीं बन पाता वह गृहस्थ धर्ममें रहकर श्रावकके योग्य आचरण कर अपनी पात्रता बनाये रहता है।

रागद्वेष निवृत्तिहिंसादिनिवर्तना कृता भवति।

अनर्पेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ ४८ ॥

• रागद्वेषादिकी निवृत्तिमें ही हिंसादिकी निवृत्ति—रत्नकरण्डका यह तीसरा अधिकार चल रहा है। इसमें सम्यक्चारित्र का वर्णन होगा। चारित्र क्या कहलाता है? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंसे निवृत्त हो जाना और अपने ज्ञान स्वभावमें उपयुक्त हो जाना वह सम्यक्चारित्र है। चारित्र एक है, निवृत्तिकी दृष्टिसे कथन है। एक प्रदेशकी दृष्टिसे कथन है। निवृत्तिकी ओरसे यह परिभाषा बनेगी। हिंसा आदिक ५ पापोंसे निवृत्त होना चाहिए। वृत्तिकी दृष्टिसे यह परिभाषा चलेगी कि आत्माके ज्ञानस्वभावमें उपयोगका स्थिर होना, लीन होना सम्यक्चारित्र है। इस छंदमें यह बतला रहे कि हिंसा आदिक ५ पापोंसे निवृत्त होना चाहिए। वृत्तिकी दृष्टिसे यह परिभाषा चलेगी कि आत्माके ज्ञानस्वभावमें

उपयोगका स्थिर होना, लीन होना सम्यक्चारित्र्य है, इस छंदमें यह बतला रहे कि हिंसा आदिक ५ पापोंकी निवृत्ति वहां हो जाती है जहां रागद्वेषकी निवृत्ति है। कोई भी जीव क्यों हिंसा करता है? रागद्वेषादिक विकार जगे हैं उनसे प्रेरित होकर हिंसा करता है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोंकी भी यही बात है। क्यों करता है यह जीव पाप? भीतरमें रागद्वेष उठते हैं, उनकी पीड़ा नहीं सही जाती है और उस पीड़ाको शान्त होनेका उपाय यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करना समझता है, विषयोंमें लगता है रागद्वेष न रहें तो फिर पापमें वह कैसे प्रवृत्ति करेगा? जैसे जिसको कोई अपेक्षा न हो वह राजाकी क्यों सेवा करेगा? राजाकी सेवामें अनेक अनर्थ हैं। हमेशा दिल सम्हालते रहनेसे राजा गुस्सा हो जाय तो अनर्थ और कैसे राजा प्रसन्न हो उस प्रकारकी चापलूसीकी बात सोच डालना, हर समयका डर। अनेक उसमें अनर्थ चलते हैं तो ऐसा एक अनर्थकी बात, कष्टकी बात कोई क्यों करता है कि उसके कोई रागद्वेष है। रागद्वेष आया है इसलिए जीव हिंसाकी चेष्टा करता है। रागद्वेष दूर हो गए तो फिर कोई क्या करेगा? ब्रह्म गुलाल एक ऋषि हुए हैं, जिनका कथानक यों है कि उनको भेष धारण करनेकी कला आती थी। कुछ विद्या भी थी कि जिसका भेष बनाया वही जंचे। राजा उसकी इस कलाको देखकर उनपर खूब प्रसन्न रहा करता था। जिसके कारण अन्य मंत्रीजन उनसे जलने लगे कि इसकी तो मेरेसे ज्यादा पूछ होने लगी। तो मंत्रियोंने सोचा कि ऐसा उपाय करें कि ब्रह्म गुलालसे छुटकारा ही हो जाय। क्या उपाय? राजासे यह कहा कि राजन आप ब्रह्मगुलालसे यह कहो कि सिंहका रूप रखकर दिखाये। कहा राजाने तो ब्रह्मगुलालने कहा—राजन् यह काम तो हम तब दिखा सकते जबकि हमसे मानो एक दो अपराध हो जायें तो माफ कर दिया जाय। राजाने कहा माफ। आखिर ब्रह्म गुलालने सिंहका रूप रखा, वहां राजाके लड़केने उस सिंहको कोई अपशब्द बोल दिया, मानो कुत्ता आया ऐसा बोला हो तो सिंहने पंजा मारकर उस लड़केको खत्म कर दिया। मंत्री लोग तो चाहते ही थे कि इस ब्रह्मगुलालसे कोई अपराध बन जाय और राजा इसको फांसी दे दे। हो सकता है कि इस उपायमें मंत्रियोंने राजाके पुत्रको पहलेसे ही सिखा दिया हो कि सिंहको देखकर तुम ऐसा बोल देना। पर राजा कैसे फांसी दे सके क्योंकि अपराध माफ कर चुका था। जब इस तरह भी मंत्रियोंकी चाल न चली तो एक उपाय उन्हें और सूझा।

राजासे कहा—राजन् इस बार ब्रह्म गुलालसे कहो कि वह मुनिका भेष धर कर दिखावे। कहा राजा ने, तो ब्रह्म गुलाल बोले—राजन् इस कामको करके तो दिखायेंगे पर अभी नहीं, छः महीनेकी मोहलत दीजिए उसकी तैयारीके लिए तब दिखायेंगे। ठीक है। अब छः माह तक ब्रह्मगुलालने खूब ध्यान मग्न तत्त्वचिंतन वैराग्य आदिसे पूरित अपना उपयोग कर लिया और छः माह बाद मुनि होकर राजदरबारके सामनेसे निकला। वहां राजाने बहुत-बहुत मित्रतें की, अरे लौट आओ हमने तो सिर्फ दिल बहलानेके लिए भेष धरनेको कहा था, पर ब्रह्मगुलाल मुनि अब वापिस न हुए। मुनिभेष रखकर फिर बदला नहीं जा सकता। तो जब उसने ६ माह तैयारीकर ली कि मेरेमें कोई रागद्वेष न जगे, तो उनसे उनके पांचों पाप छूट गए। तो मुख्य बात है रागद्वेषकी निवृत्ति होना।

रागद्वेषादि भावसे सहजात्म प्रभुकी हिंसा पांचों प्रकारके पाप रागद्वेषके वश होते हैं इस

कारण इनको पाप कहते हैं। किसी बाहरी द्रव्यचेष्टासे पाप नहीं लगता किन्तु उसका अनर्थ करनेका भाव है इसलिए उसे हिंसा लगती है। पाप जितने होते हैं वे भीतरके आशयसे होते हैं, बाहरी चेष्टाके कारण नहीं होते। तब कोई मानो कहे कि हम भीतरका आशय तो पवित्र बनाये रहेंगे और हमारे शरीरकी चेष्टा चलेगी, तो ऐसा नहीं होता। जैसे भीतरी भाग होता है उसके अनुसार चेष्टायें होती हैं। कोई अपवाद की चीज है ऐसी कि भाव भाव नहीं है और कोई चेष्टा या हिंसा हो जाय यह अपवादकी बात है, पर अक्सर यह होगा कि जैसी भीतरी हृदय होगा वैसी चेष्टायें बनेगी। वैसे वचन निकलेंगे, वैसी प्रवृत्ति होगी। तो मूल बात चारित्रिकी यह है कि रागद्वेष दूर हो जाना। अच्छा जरा भीतर तो निहारो 'मेरेको दुःख पहुंचाने वाला कौन है' आप कहेंगे कि अमुक लोग, अमुक चीज, जड़का नाम बताया, किसी जीवका नाम बताया। तो यह तो निरखिये कि उस जड़से उस वस्तुसे दुःख निकलता है क्या? जो दुःख निकलकर मुझमें आया। किसी पदार्थसे दुःख नहीं होता, यह बिल्कुल निश्चित बात है—दुःख होता है आपकी विरुद्ध कल्पनासे। तो कितने ही दुःख हों, सर्व दुःखोंमें आप यही बात पायेंगे कि हमारे भीतर वस्तु स्वरूपके विरुद्ध कल्पनायें जगती हैं उससे हमको दुःख होता है।

दुर्लभ नरजन्ममें सहजात्मस्वरूपदर्शनकी कला पानेका महत्त्व—देखिये यह जीवन बड़ा दुर्लभ है जो हम आपको मिला है। इस जीवनमें यदि यह शौक लग जाय, यह अभिरुचि हो जाय, यह धुन बन जाय कि मुझको तो अधिक समय इस सहज आत्मस्वरूपके अनुभवमें लगना है, बाकी बातें बेकार हैं। अपने सहज स्वरूपके अनुभवमें अपना उपयोग लगायें तो उसके प्रतापसे जब तक संसारमें रहना शेष है तब तक वैभव राज्य या अन्य अन्य बातें ये मिलेंगी, मिलनी पड़ेंगी, पर इनकी भी चाह नहीं होती। ये होते हैं ऐसे। एक अपने घरके किसीको आप विलायत भेजें, अमेरिका भेज रहे तो कितना सुगम समारोह करके आप भेजते हैं, उससे बीसों आदमी आ आकर मिलेंगे, मोटरसे पहुँचाने जायेंगे, उसका तिलक करेंगे, उसे नारियल भेंट करेंगे, सगुन मनायेंगे, चूँकि दो-चार वर्षको वह जा रहा है ना इसलिए उसका सगुन समारोह मनाया और इतने ठाठसे वह जाता है वैभवके साथ। लोगोंकी प्रशंसाके साथ सुखपूर्वक जाता है। अनेक साधन उसे देते हैं। तो साल-दो सालको यहां ही कोई विलायत जाय तो कैसा ठाठ समारोह वैभव आरामके साथ जाता है। तो जो जीव सदाके लिए इस संसारसे विदा होगा मायने मोक्ष जायगा जो हमेशाके लिए निर्वाणको जा रहा है उसकी विदायगीके लिए अगर इन्द्र आकर निर्वाण कल्याणक मनाते, बड़े उत्सव समारोह मनाते तो उसमें कोई आश्चर्य है क्या? वे तो अनन्त कालके लिए विलायत जा रहे हैं, और वे जो जायेंगे तो क्या दुःख पूर्वक जायेंगे? बड़े सुख वैभव ठाटबाट इन सबके बीच रहकर जायेंगे। तो अपनी एक धारणा बनायें और निरखें कि मेरेको कर्तव्य और शरण केवल एक ही चीज है कि मेरा जो सहज आत्मस्वरूप है, अपनी सत्ताके ही कारण अपने आपमें जो मेरा स्वरूप है अमूर्त ज्ञानमात्र, इस स्वरूपमें मैं आत्मबुद्धि करूं कि मैं यह हूँ और जो मैं चेतनमें चेतन इस तरहकी एक निरंतर वृत्ति बनती है, प्रतिभास बनता है, भीतर जो एक प्रतिभास चलता है वह मेरा काम है और ऐसे प्रतिभासनके समय जो मेरेको सहज आनन्द जग रहा है बस उसको भोगना मेरा काम है, इससे बाहर मेरा मतलब कुछ नहीं।

आत्मस्वरूपके दर्शनकी धुनमें ही आत्महितका निर्णय—भैया कुछ जा रहा है बाहर चित्त तो वह बेकार है और अपने लिये अनर्थ है। धुनमें यह बात समाये और इसीका लक्ष्य बने कि इस जीवनमें मेरेको सहज आत्मस्वरूपका अनुभव करना है, बाकी जगतकी अन्य बातों पर मेरा अधिकार भी नहीं है। हो जाय पुण्योदयसे अनुकूल और उस पुण्ययोगके अनुसार पुरुष पौरुष और प्रयत्न भी हो जाय तो भी अधिकार पूर्वक यह बात नहीं आयी है कि मैं अमुक पदार्थकी ऐसी घटना बना दूंगा। मेरा मेरे पर अधिकार है, मेरा मेरे पर वश है। इस कला की प्राप्ति करनेके लिए इतना ज्ञान प्रकाश चाहिए कि बाहरकी घटनाओंमें मान अपमान महसूस न करें, केवल एक ही बात है, आत्मकल्याणकी ही धुन है, यह बात चाहिए भीतर ऐसा करनेमें आपको किसी तरहका नुकसान नहीं है। जब तक रहेगा संसारमें तब तक ठाठसे रहेगा, निर्वाण पायेगा, अनन्त कालके लिए छुटकारा पायगा, इस कार्यके सिवाय दूसरा कोई बड़प्पनका कार्य नहीं है, बाकी सब मायाजाल है। कौनसा कार्य करना है? अपने आपके आत्मामें जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस रूप अपनेको अनुभवना कि मैं यह हूं, बाकी क्या नहीं करना? अमुक चंद हूं, अमुकका पिता हूं, अमुकका पुत्र हूं... ये सब बातें माया जाल हैं, इनका विकल्प नहीं करना है। हां गृहस्थीमें है तो गृहस्थीके नाते कुछ कर्तव्य करने होते हैं मंदिर जाना, धर्म ध्यान करना, आजीविका सम्बंधी कार्य करना, ये सब तो होंगे मगर चित्तमें किसी समय यह बात तो बसना चाहिए कि मेरा हित केवल सहज आत्मस्वरूपके अनुभवमें है, अन्य बातोंमें मेरा हित नहीं है। अन्य बातें तो परिस्थितिके कारण करनी पड़ती हैं।

ज्ञानीके आत्महितके कार्यकी मुख्यता—अज्ञानीके और ज्ञानीके विचारमें कितना अन्तर होता है। अज्ञानीजन ऐसा सोचते कि आजीविकाके कामसे समय मिलेगा तो मन्दिर जाऊंगा। अरे इतनी भी फुरसत नहीं कि जिनवाणीके दो शब्द सुननेका भी मौका निकाल सकें। कह देंगे अजी फुरसत नहीं है क्या करें, मन्दिर नहीं पहुंच पाते। तो उनका इस प्रकारका बहाना करना ठीक नहीं। फुरसत सबको है पर व्यर्थके विकल्पके रोजगार बनाये जा रहे इससे फुरसत नहीं, अर्थ सम्बंधी रोजगारकी वजहसे फुरसत न हो सो बात नहीं। ज्ञानीजनोंको इतनी लगन होती कि मन्दिर दर्शन, स्वाध्याय, चर्चा, गुरुसेवा, मनन आदि करनेमें उनको उमंग होती। आजीविका सम्बंधी कार्यके लिए तो उन्हें दुःखी होकर परिस्थितिबश जाना पड़ता है। इसमें तो उन्हें कष्ट मालूम देता। आत्माकी चर्चामें, मननमें ज्ञानीजनोंकी उमंग रहती इतना अन्तर रहता ज्ञानी और अज्ञानीके आशयमें। सारभूत काम केवल सहज आत्मस्वरूपका मनन है। सहज आत्मस्वरूपके मायने आत्मा है या नहीं पहले यह निर्णय करें। है, जिसमें हूं हूं की बात चल रही। वही तो मैं हूं। मेरा अस्तित्व है। ये दुःख सुख किसमें होते? है कोई पदार्थ कि मैं हूं। अब यह विचारें कि जो है, होता है वह अपने आप अपने स्वरूपसे है होता है। सदासे हूं तो यह मैं अपने आपके स्वरूपसे अपने ही सत्त्वसे। मैं क्या हूं? केवल चैतन्यस्वरूप। एक भीतर झलकता हुआ चैतन्यप्रकाश। जहां ज्ञान और आनन्दका ही अनुभव है। वह स्वरूप बस मैं यह हूं, ऐसा ही अपना ध्यान बनायें। बस यह ही उपाय है सहज आत्मस्वरूपके अनुभवका। अब आप सोच लीजिए कि जगतमें अभी तक कितने ही काम कर डाले मगर इस जीवने यह काम नहीं किया अब तक और

इस सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाये बिना यह कभी निर्वाण नहीं पा सकता, शान्ति नहीं पा सकता। कर्मोंसे छुटकारा नहीं हो सकता, शरीरसे छुटकारा नहीं हो सकता। तो वास्तवमें केवल एक ही काम है करनेका, दूसरा काम करना पड़े तो उसे यह समझिये कि परिस्थितिबश करना पड़ रहा है, पर करनेका काम तो यह है। इतनी ही बात चित्तमें हो तो उसकी धर्म मार्गमें प्रगति हो सकती है। हां तो अब देखिये—स्वरूप तो मेरा यह है केवल चैतन्य प्रकाश, इससे आगे नहीं है। आगे जो विकल्प चल रहे, विकार हो रहे, रागद्वेष हो रहे वे सब कर्मकी उपाधिकी छायामें हो रहे, केवल मेरे इस स्वरूपके कारण नहीं हो रहे। तो ये रागद्वेष ये ही कष्ट हैं। रागद्वेषके भाव न हों तो ये कष्ट मिट जायेंगे। तो रागद्वेषकी निवृत्ति ही हिंसा आदिक पापोंकी निवृत्ति कहलाती है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।

पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ४९ ॥

पापोंसे विरक्तिमें ही आत्माको महत्त्वका लाभ—पापभव आनेकी नालियां ये ५ हैं—
(१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) कुशील और (५) परिग्रह। इनसे विरक्त होना सो सम्यग्ज्ञानीका चारित्र है। कोई यदि यह ही ठान ले कि मैं बिना प्रयोजन कोई अटपट काम न करूं तो भी इसके बहुतसे पापोंसे निवृत्ति हो जायगी। लोग तो बिना ही प्रयोजन कितने ही पाप करते रहते हैं। प्रयोजन क्या? आपको आजीविकाके परिणाम रहें यह ही एक लौकिक प्रयोजन है। पर बहुत देर तक गप्पें कर रहे, दूसरों की निन्दामें उमंग आ रही है, दूसरोंके दोष बतानेमें यह बड़े योद्धा की तरह बढ़ रहा है, दूसरेका बुरा विचार करनेके लिए कमर कसे है, दुनियामें मेरी बड़ाई हो, सबसे मैं प्रधान माना जाऊं, इसके विकल्पमें चित्त चल रहा है और दूसरे लोगोंको तुच्छ माना जा रहा है। ये सब बिना प्रयोजन अटपट काम हैं। कोई पुरुष स्वच्छंद रहकर, आराम मौजमें बसकर कोई संघर्ष न सहे, कोई संकट न सहे, किसी दूसरेके उपकारमें न आये, खुदगर्जी अधिक रखे और वह लोकमें बड़ा कहला सके, यह बड़ी कठिन बात है। अगर लौकिक बड़प्पन ही चाहे कोई तो वह परोपकार किए बिना, संघर्ष सहे बिना, न्यायनीति पर रहे बिना लोकमें भी बड़ा नहीं बन सकता। लोकमें जो बड़ा बनता है ना उड़दका उसकी ही बात देख तो, कितने-कितने संघर्ष सहनेके बाद वह बड़ा कहलाता है। खेतमें खड़ा है, पेड़ सूख गया, पहले तो उन्हें सुखाया, फिर उन पर बैल चलाया, फिर उनको चक्कीमें दला, याने कितने संघर्ष आये उड़द पर तब वह बड़ा कहला सका। शामको पानीमें भिगो दिया, रात भर फूले, सुबह उनको हाथसे मरोड़ा गया याने हाथसे उनकी खाल छुड़ा दी गई, फिर उन्हें सिलबट्टेमें पीसा और पीसकर उनमें नमक, मिर्च, मसाला भूनकर फिर उनकी शकल बिगाड़ा, फिर उनको खौलते हुए तेलमें डाला, जब वह फूल गया तो इतने पर भी उसका पीछा न छोड़ा, उसके पेटमें एक लकड़ी चुभोया यह देखनेके लिए कि कहीं कच्चा तो नहीं रह गया, फिर उसको कड़ाहीमें नमकीन पानीमें डाल दिया। देखिये कितने-कितने संघर्ष आये उस उड़द पर तब उसका बड़ा नाम पड़ा। और यहां देखो लोग मुफ्तमें मौजमें ही बड़ा कहलवाना चाहते। जरा सा भी कष्ट नहीं सह सकते फिर भी बड़ा कहला सकें यह कैसे हो सकता? लोकमें भी

बड़ा बन सकते मगर उसकी भी धुन क्यों हो ? वह तो होगा स्वयं अपने आपकी स्वरूपदृष्टि करके अन्तः तो अपनी उपासना करिये और चूंकि जो ज्ञानी पुरुष हैं, भीतरमें अपनी उपासना कर रहे हैं उनसे मन, वचन, कायकी चेष्टा तो होगी ही ऐसी कि जिससे दूसरोंका भला हो, किसीका अपकार न हो ।

स्वानुभूतिकलाकी प्राप्तिमें आत्मकर्तव्य पालनकी सुगमता—देखिये और बात तो सब जगह मिल जायगी दया, परोपकार, उपकार, जय-जय बोलना, जलूस निकालना आदि बातें तो सर्वत्र मिल जायेंगी मगर सहजआत्मस्वरूपका अनुभव बनाये इस बातकी शिक्षा देने वाला जैन शासन है, इसको पाकर यदि इस कामकी उमंग न बना सके तो जिसे कि कहते धिक्कार है इस जीवनको, ऐसे ही समझ लीजिए आप लोग कि धिक्कार है मेरे जीवनको । यदि अपने आपके स्वरूपमें बसे हुए भगवान सहज आत्मस्वरूपका परिचय न पा सके, इसकी धुन न बना सके, अपने आपका अनुभव न कर सके तो लोकमें जो कुछ भी हो रहा है उससे क्या फायदा ? यदि एक यही काम कर लिया तो उससे सब पाप कर्म दूर हो जायेंगे । देखिये एक तो होता है सिखाये-सिखाये व्रत पालन और एक होता है भीतरके सहज आत्मस्वरूपके अनुभवकी कला जगनेका व्रत पालन । यदि अपने आपके स्वरूपके अनुभवकी कला किसीमें जग जाय तो फिर उसे अधिक उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती । स्वयं ही यह भगवान आत्मा सब निर्णय बना लेगा । तो अपने आपका एक निर्णय कीजिए, धुन बना लीजिए कि हमको तो इन रागद्वेष मोहादिक विकारोंसे हटना है, और इनसे हटनेके लिए तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे, सर्वस्व अर्पित करनेको तैयार रहें । यदि इन रागद्वेष मोहादिक विकारोंसे हट गए तो समझो कि हमने सर्वस्व पाया ।

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।

अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ॥ ५० ॥

चारित्रके दो भेदोंमें प्रथम चारित्र सकलचारित्रके अधिकारी—चारित्र दो प्रकारका होता है—(१) सकल चारित्र और (२) विकल चारित्र । सकल मायने सम्पूर्ण और विकल मायने कुछ कम । सकल चारित्र तो होता है सर्व परिग्रहोंसे रहित साधुजनोंके और विकल चारित्र होता है परिग्रह सहित श्रावकजनोंके । श्रावकोंके पास परिग्रह न हो तो श्रावकोंकी चर्या नहीं चल सकती और साधुओंके पास परिग्रह हो तो साधुओंकी चर्या नहीं चल सकती । इस कारण श्रावकोंको तो बताया है सत्संग और साधुओंको बताया है निसंग । श्रावकोंको दूसरा नाम दिया है सागार याने अगार सहित, घर सहित । और साधुओंका नाम है अनगार अर्थात् अगार रहित, घर रहित । सम्पूर्ण चारित्र क्या कि उपयोग आत्म स्वरूपमें भले प्रकार लीन बन सके, सो यह उनके ही सम्भव है जिनके तिलतुष मात्र भी कुछ परिग्रह नहीं, क्योंकि एक पूर्ण रीतिसे आत्मा-आत्मामें समाये, ज्ञानमें ज्ञान समाये, यह तब ही सम्भव है जबकि किसी प्रकारका अंतरंगमें संकल्प न जगे, विकल्प न बने । विकल्प न बने उसका मुख्य साधन तो है तत्त्वज्ञान, आत्मपरिचय, आत्माकी धुन और बाह्य वातावरण चाहिए उसे ऐसा कि किसी भी पदार्थका विकल्प न आना । सर्वपरिग्रहोंसे रहित साधु हो तो केवल एक ही धुन होती है और यही धुन रहना

चाहिए कि मेरेको सहज भगवानके दर्शन, अनुभव बना रहे। आत्मका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें ही उपयोग बना रहे अधिकाधिक। केवल यह ही काम है साधुजनोंका। समाज व्यवस्था या अन्य-अन्य प्रकारके कर्तव्य ये साधुजनोंके कर्तव्य नहीं किन्तु मेरे आत्मका मुझमें अनुभव बना करे, रहा करे, बस यह ही एक उनका काम है क्योंकि साधुपना हुआ करता है मोक्षमार्गके लिए, मैं निकट कालमें मुक्ति प्राप्त करूँ, ऐसी जिसकी दृढ़ भावना बनी है वह निशंक होकर आत्मा आत्माकी ही दृष्टिमें रहेगा ऐसे साधुजनोंके सकल चरित्र होता है।

ससंग गृहस्थोंके विकल चरित्र नामक द्वितीय चरित्रकी संभवता—गृहस्थ जनोंके चूँकि भोजनका साधन तो धनार्जन है। पैसा पास होगा तो भोजनका साधन बना लेंगे। साधुवोंने तो आहार आदिककी आशाका ही त्याग कर दिया। जब कभी चर्याको निकले तो भक्तिपूर्वक जिसने बुलाया वहाँ आहार कर लिया। अब उनको धनार्जनकी जरूरत नहीं रही और इसी कारण वे सर्वथा निसंग रह पाते हैं मुख्य समस्या तो भोजनकी है। सो गृहस्थजनोंका काम धनार्जनके बिना न चलेगा। उन्होंने घर बसाया ही है इसलिए कि हम पूर्ण शील ब्रह्मचर्य धारण नहीं कर सकते तब अन्य पापोंमें तो न लगना—वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, अटपट विचार इनमें तो न लगना। इनसे तो बचना, इस भावसे उन्होंने विवाह किया कि मेरे अन्य पाप तो बच जायें। गृहस्थकी जो प्रवृत्ति है उसमें पापसे बचनेके लिए प्रवृत्ति है। पापमें लगनेके लिए नहीं। तो जब एक घर बसाया तो मकान भी चाहिए, कमायी भी चाहिए, इसके लिए गृहस्थजनोंका परिग्रह रखना आवश्यक हो जाता है। मगर ज्ञानी गृहस्थकी भीतरी मंशा यह है कि मैं कब परिग्रहसे विरक्त हो जाऊँ और एक केवल निज आत्मतत्त्वके ध्यानमें रहूँ। अगर यह भाव नहीं है गृहस्थका तो श्रावक नहीं, सदगृहस्थ नहीं। जो परिग्रह रखा है वह पकड़नेके लिए नहीं रखा है। केवल गुजारेके लिए रखा है और लक्ष्य है गृहस्थका कि अविकार निसंग ज्ञानस्वभाव निज अंतस्तत्त्वमें मेरा उपयोग लीन होवे। यदि श्रावकजनोंका ऐसा नियंत्रण न हो, ६ आवश्यक कर्तव्योंका कार्य न हो तो ये गृहस्थ तो अत्यन्त उद्वण्ड और स्वच्छंद हो जायेंगे, फिर ये धर्मके पात्र ही नहीं रह सकते। तो गृहस्थजन ससंग रहते हैं और इसी कारण उनके सम्पूर्ण चरित्र नहीं बन सकता, फिर भी जितना चरित्र बन सकता है, उसमें भी जो उत्कृष्ट श्रावक हैं उनके और अधिक बन सकता है। जितना सम्भव है उतना चरित्र पालते हैं इस कारण गृहस्थोंके चरित्रका नाम है विकल चरित्र।

सदगृहस्थकी न्यायमार्गानुसारिता—सदगृहस्थ परिग्रहसहित तो है पर न्यायमार्गका उल्लंघन नहीं करता। गृहस्थकी यह तारीफ है। बड़ीसे बड़ी कुर्बानियां कर देगा, न्याय मार्गका उल्लंघन न करेगा। जो महापुरुषोंकी प्रशंसाकी जाती, श्रीरामको मर्यादापुरुषोत्तम कहा, और और भी सेठ और राजाओंके कथानक हैं। किस बातपर उनकी प्रशंसा है कि उन्होंने न्याय नीतिका उल्लंघन नहीं किया। जो न्याय नीतिका उल्लंघन कर दे उसमें और पशुमें अन्तर क्या रहा? न्याय मार्गको गृहस्थ कभी नहीं छोड़ता। ऐसे गृहस्थके विकल चरित्र होता है। श्रावक पापसे भयभीत रहता है। मेरेसे पाप मत बनो। लेकिन जहाँ अज्ञानका फैलाव होता वहाँ पापका डर नहीं रहता। पापका डर न रहा तो लोगोंने अपने नाम भी पाप धरा लिया। पापका अर्थ है पाप करने वाला। यहाँ तो लोग पापा नाम धराकर खुश

होते। सद्गृहस्थ पापसे भयभीत रहते हैं, देवद्रव्य, धार्मिक द्रव्यको तो छूनेमें भी पाप मानते। पहले जमानेके लोगोंने यह बात थी कि अगर धर्मका पैसा गिनना पड़े तो उसे गिनकर रख दिया, बादमें हाथ जोड़ते थे। इतना पापका भय था। ब्लेक वगैरहके शब्द ही पहले कहां थे, सब न्याय मार्गके अनुसार चलते थे, शान्त वृत्तिसे रहते थे। आज कुछ समय है, कुछ मनकी स्वच्छंदता है जिसके कारण न्यायमार्ग बहुत कम रह गया है, पर जो सद्गृहस्थ हैं वे न्याय मार्गका उल्लंघन नहीं करते। उनहीके एक देश चारित्र होता है। गृहस्थ भी मोक्ष मार्गमें है, मुनि भी मोक्ष मार्गमें है, मुनि जरा आगे बढ़ा हुआ है, गृहस्थ कुछ पीछे-पीछे चल रहा है, पर कोई मुनि होकर आत्मदृष्टि न कर सके और गृहस्थजनों जैसा आराम चाहे तो वह मुनि मोक्ष मार्गमें नहीं है और गृहस्थ धन धान्य कुटुम्ब परिजन आदिके बीच रहकर भी उनसे हटना चाहता है और अपने एकाकी आत्मस्वरूपमें रमना चाहता है तो वह गृहस्थ मोक्षमार्गमें स्थित है। धर्म एक बहुत जिम्मेदारीके निभावकी चीज है। गृहस्थ धर्ममें रहकर कितने अंश धर्मपालन किया जा सकता है वह भी एक आदर्श बात है। वह गृहस्थका चारित्र इस ग्रन्थमें मुख्यतया बताया जायगा, उसीके सम्बंधमें एक संक्षेपसे उसका चारित्र अगले छंदमें कह रहे हैं।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठ त्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।

पञ्चत्रिचतुर्भेदं, त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥ ५१ ॥

गृहस्थोंके अष्टमूलगुणका अनिवार्यतपना व बारह व्रतोंका पालन—गृहस्थोंका चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत इन तीन प्रकारोंमें चलता है। ५ अणुव्रत होते हैं, तीन गुणव्रत हैं, और चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रतका अर्थ है छोटा व्रत। गृहस्थ पूरी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता मगर बहुत कुछ हिंसाका त्याग किया है। पूर्ण सत्य तो नहीं बोल पाता मगर उसने बहुत असत्यका त्याग किया है। पूरे रूपसे चोरीका त्याग तो नहीं बन पाता मगर लोकमें जनताको कष्ट देने वाली ऐसी चोरी गृहस्थ नहीं करता। पूर्ण ब्रह्मचर्यका निभाव तो गृहस्थके नहीं हो पाता फिर भी अपनी स्त्रीमात्रमें संतोष करके शेष समस्त परस्त्री वेश्या आदिक सर्वका पूर्ण रूपसे त्याग बना हुआ है। परिग्रहका त्याग तो नहीं कर पाता मगर परिग्रहके त्यागकी भावनायें हैं, और परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं, इससे अधिक परिग्रह नहीं रखना, इस प्रकार गृहस्थ बारह व्रतोंका पालनहार होता है। चूँकि गृहस्थ गृहवास छोड़नेमें असमर्थ है और धर्मकी धुनमें बना हुआ है, सम्यग्ज्ञान है इस कारण वह इस परिस्थितिमें बारह व्रतोंका पालन करता है। गृहस्थके ८ तो मूल गुण कहलाते और १२ उत्तर गुण कहलाते, जिन मूल गुणोंके पाले बिना मुनि-मुनि नहीं रह सकता, उत्तर गुण पालनेमें चाहे न आयें, पर मूल गुण पूरे होने ही चाहिए। यदि ८ मूल गुण नहीं हैं तो वह श्रावक नहीं है, अन्य जनोंकी तरह वह भी साधारण लौकिक पुरुष है। उसके चाहे बारह व्रत न हो पायें किन्तु ८ मूल गुण तो अवश्य ही होने चाहिए। श्रावकके ये ८ मूल गुण हैं मद्य मांस मधुका त्याग, ५ उदम्बर फलोंका त्याग, ये ८ मूल गुण किसके लिए हैं? कोई शूद्र हैं, अन्य जन हैं, जो धर्म मार्गमें जरा भी नहीं आये हैं उनके लिए हैं ये ८ मूलगुण, और जो उच्च कुलमें उत्पन्न हुए हैं। जैन कुलमें जन्म लिया है उनके ८ मूल गुण और तरहके हैं। ये बहुत छोटे दर्जेके लिए हैं,

अथवा कहो घरमें बच्चा हुआ है, अबोध है तो ८ वर्षकी उम्र तक माता पिता पर उसके धर्मपालनका भार रहता है, ऐसोंके लिए कह दीजिए ८ मूल गुण, पर जो उच्च कुलमें जन्में हैं उनके लिए ८ मूल गुण ये हैं—मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बरका त्याग, जितने उदम्बर हैं उन सबको एकमें लिया है। चार ये हैं और चार हैं—देव दर्शन, रात्रि भोजनका त्याग, जल छानकर पीना और जीव दया करना। ये ८ मूल गुण हैं उनके लिए जो लोग अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए।

श्रावकके आठ मूल गुणोंमें देवदर्शन, रात्रि भोजनत्याग व जलगालनका निर्देशन—देव दर्शनमें जहां मन्दिर हो वहां मन्दिरमें दर्शन करें। मन्दिर अधिक दूर हो, या हो ही नहीं, या कहीं बाहर परदेश गए हुए हैं वहां मन्दिर नहीं हो तो ध्यान करलें स्तुति विनती वगैरह करलें, जाप जपलें। इसमें ही देवदर्शनकी बात निभ जायगी। जहां हो मन्दिर निकट वहां मन्दिर आकर धर्मसाधना करें। रात्रि भोजन त्यागमें जल और औषधिके सिवाय बाकी कोई चीज रात्रिमें न लेना। उसमें यह विकल्प नहीं है कि हमारा काम नहीं चलता तो रात्रिमें दूध चाय रख लिया या अन्नकी चीज रात्रिमें न लें तो उसकी जगह किसमिस, काजू, बादाम, मिठाई आदि रख लें। अरे रात्रिको अगर कुछ लेना ही पड़े तो जल और औषधि रख लो। गुजारेके लिए यही काफी है। अब यदि किसीसे न बन पाये तो यह उनके मनकी बात है। जो जितना करता उतना ठीक है मगर हिसाबसे तो इसमें कम नहीं बताया गया। क्योंकि एक होती है प्यासकी वेदना, वह सही नहीं जा पाती तो उसके लिए जल बता दिया। एक होती है रोगोंकी पीड़ा नहीं सही जाती तो औषधि रख लो। अब और तीसरी चीजकी जरूरत क्या रही सो तो बताओ? दिन भर खा खाकर गुजारा न चलेगा क्या? चलेगा, तभी तो कोई तीसरी चीज नहीं बतायी गई। यह बात कह रहे हैं उनकी जो व्रती श्रावक नहीं हैं, उनकी, जो ८ मूलगुण धारें उनकी। जल छानकर पीना। जलमें ऐसे त्रस जीव भी होते हैं जो आपको आंखों न दिखें। दूसरी बात—दो मत हैं इस सम्बन्धमें कि दुहरे गाढ़े छत्रेसे छानने पर जल कायका जीव भी नहीं रहता, दूसरा मत है कि जलकायका जीव तो रहता है एकेन्द्रिय, पर अन्य त्रस जीव नहीं रहते। तो मानो दुहरे गाढ़े छत्रेसे छानने पर ४८ मिनटको ही अचित्त मान लिया जाय जल तो देखिये अहिंसाका कितना पालन हुआ। अथवा सूक्ष्म त्रस जीव न आ सकें तो अहिंसाका वहां भी पालन हुआ। पानी छनता नहीं है कभी। जैसे कोई कहे कि छत्रेसे छान लो, तो जैसे लोहेकी बहुत बारीक जाली आती है उस जालीसे घी छानते वैसे ही गाढ़े कपड़ेसे पानी छाना तो बताओ पानी छाना क्या? नहीं छाना। अरे यदि कोई गाढ़ेके सूखे छत्रेसे जल छानना चाहे तो न छनेगा। हां जब वह छत्रा पानीसे भीग जायगा, उस छत्रेके सब छिद्र पानीसे बन्द हो जायेंगे तब कहीं वह पानी उस छत्रेसे चू-चूकर गिरेगा। इस कारण जिन आचार्योंका यह मत है कि कपड़ेसे छानने पर उसमें जलकायका भी जीव नहीं रहता, यह भी ठीक हो सकता, अथवा जो चूसकर पानी निकला वहां सूक्ष्मसे सूक्ष्म त्रस जीव नहीं आ सकते, इसलिए बताया है गाढ़े छत्रेसे छानना। उसमें कोई यह शंका न करे कि अगर गाढ़े छत्रेसे छाना गया तो पानी कैसे निकलेगा? याद रहे, पानी कभी छिद्रोंसे नहीं निकलता, जब वह छत्रा भीग जाता तो उसमेंसे पानी चूकर निकलता है। तो जल छानकर पीना, यह ८ मूल गुणोंमें भी है। कभी किसी पानीमें यह दिखे कि इसमें तो त्रस जीव

दिखते ही नहीं, बिल्कुल साफ पानी है, जैसे हैण्डपाइपसे पानी निकाला गया तो वह यद्यपि देखनेमें साफ है फिर भी उसको छानकर पीनेकी आज्ञा है। चाहे कितना ही साफ जल हो फिर भी छानकर पीना यह ८ मूल गुणमें से है।

सद्गृहस्थकी सदयता व सदाचारके कारण विश्वासपात्रता—अष्ट मूलगुणोंमें एक है जीवदया। कोई राजा या बड़ा पुरुष कहे कि मैं आपको एक हजार रुपया दूंगा, तुम इस चींटीको मार दो, तो वह उस चींटीको नहीं मार सकता। जो अष्टमूल गुणधारी है। श्रावक है उसका हृदय ऐसा जीवदयासे भरा है कि क्लेशमें, लालचमें, किसी भी परिस्थितिमें जीवको नहीं मार सकता। एक जगहकी घटना है कि कुछ लोगोंने राजासे कहा—महाराज जैन लोग जीव हिंसा नहीं करते, तो राजाको उनकी परीक्षा करनेका विचार हुआ। उसे कोई जैन दिखा, वह कहीं जा रहा था तो उसे अपने पास बुलवाया। वहीं खड़ी थी कोई बकरी, तो राजा बोला—उस बकरीको यहां पकड़ लावो। फिर दिया छुरी और कहा कि अब इस बकरीका गर्दन छुरीसे काट दो, तो वह जैन बोला—महाराज यह काम तो हमसे नहीं हो सकता। राजाने बहुत-बहुत कहा पर वह जैन अपनी बात पर अत्यन्त दृढ़ रहा। उसकी दृढ़ता देखकर राजा बोला—हमने जो बात जैन लोगोंके सम्बन्धमें सुना था कि वे हिंसा नहीं करते तो यह बात बिल्कुल ठीक है। आज बहुतसे जैन लोग अपने आचरणसे गिर गए, जब जैसा मौका देखा तब तैसा कर डाला। पर था कभी एक ऐसा जमाना कि लोग जैनियोंपर बड़ा विश्वास करते थे। अगर किसी जैनने कहीं गवाही दे दिया तो उसकी बात सही मानकर निर्णय दे दिया जाता था। आज भी कुछ-कुछ तो विश्वास है जैनियों पर तभी तो बैकोंके खजाज्ची अधिकतर जैन लोग मिलते हैं, विश्वास लोगोंको अब बहुत कम हो गया। जैन लोग स्वयं अपने आचरणसे गिर गए, अपने आचरणमें उन्हें दृढ़ता नहीं रही फिर भी अन्य समूहसे आज भी अच्छे हैं। जैन लोग मांस, अंडा, शराब आदि नहीं खाते पीते। अधिकांश लोग तो अच्छे आचरण वाले अब भी मिलेंगे मगर पूर्ण रूपसे यह बात होती तो आज कितनी प्रभावना और प्रशंसा होती। आचरणमें दृढ़ता न होनेसे बड़ी अस्थिरता हो जाती है जीवन तो एक बारके खानेसे भी चल जाता है। दो बार खा लिया जाय अब कौनसी कमी रह गई जो रात्रिको खाना ही पड़े? अनेकों बार खाया, रात्रिमें खाया तो खा खाकर स्वास्थ्य बिगड़ गया, मन खराब हो गया, दृढ़ता न रही, मनका संकल्प भी लघु हो गया। तो जो अष्ट मूल गुण बतलाये गए हैं, जिनको अपना भला चाहिए उन्हें इन अष्ट मूल गुणोंका पूर्ण पालन करना चाहिए।

गृहस्थके बारह व्रतोंका प्रतिपादन—गृहस्थके अणुव्रत कहा गया है। पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। और इस अणुव्रतकी रक्षाके लिए गुणव्रत बताये गए। गुणव्रत स्वतंत्र कोई मूल बात नहीं है। कोई कहे कि हम अणुव्रतका पालन तो न करेंगे और गुणव्रत धारण कर लेंगे सो ऐसा नहीं होता। जिसने अणुव्रत धारण किया है। ५ पापोंका एक देश त्याग किया है वे पापोंके त्यागके पूर्ण निभावके लिए इन तीन गुण व्रतोंका पालन करते हैं—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत और (३) अनर्थ दण्डव्रत। यावज्जीव जाने आनेके व्यवहारका परिमाण कर लिया कि हजार मील तक चारों ओर सम्बन्ध रखेंगे। इससे आगे नहीं, तो उससे बाहरकी हिंसाका तो त्याग हो गया। फिर भी कुछ समयकी म्याद लेकर और थोड़ा

क्षेत्र रख लेते हैं। और निष्प्रयोजन जिन पापोंका त्याग नहीं हो पाता गृहस्थीमें उन पापोंको भी गृहस्थ नहीं करता, यह गुणव्रत है। और यह गृहस्थ मुनि धर्मकी शिक्षा पानेके लिए ४ शिक्षा व्रतोंको लेता है। गुण व्रतसे तो होता है अणुव्रतका पूर्ण पालन और शिक्षा व्रतसे होता है मुनि बननेका अभ्यास। जैसे तीन बार समता परिणाम करना, सामायिक करना मुनिको तो सदैव हो जाता है, उनके रागद्वेषका भाव ही नहीं होता, तो गृहस्थ सोचता है कि मैं ऐसा नहीं कर पाता तो दो समय तो करूँ। प्रोषधोपवास प्रोषधपूर्वक उपवास करना, यह सब आगे आयगा, वह सप्तमी, अष्टमी, नवमीको शामको कुछ नहीं लेता, एक ही बार लेगा, यह जघन्य प्रोषधोपवास है। अष्टमीको केवल पानीले यह मध्यम प्रोषधोपवास है और अष्टमीको कुछ न ले तो यह उत्तम प्रोषधोपवास है। यहां शिक्षा मिली है कि सप्तमी, अष्टमी और नवमीको तीनों दिन वह सदगृहस्थ कुछ नहीं लेता, पर मुनि तो कभी भी दूसरी बार कुछ नहीं लेता, तो उस मुनिका अभ्यास गृहस्थ भी महीनेमें १२ दिन करता है। ऐसे ही भोगोपभोगके प्रकरणमें अतिथि संविभाग व्रतकी बात है।

प्राणातिपातवितथव्यवहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः ।

स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥ ५२ ॥

पांच अणुव्रतोंमें अहिंसाणुव्रतका निर्देशन—इस श्लोकमें अणुव्रतका लक्षण कहा है। अणुव्रत पालन करो। यह सब मनुष्योंके लिए आवश्यक है अपनी शान्तिके लिए, देशके हितके लिए। उन व्रतोंका वर्णन इस आर्या छन्दमें किया है। स्थूलपापसे विरक्त होना अणुव्रत है। वे कौनसे पाप हैं? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसाके मायने है प्राणोंका अतिघात। दूसरेके प्राणोंका घात हो, दिलको चोट पहुंचे, दुःख पहुंचे या मरण हो वह प्राणातिपात है। सो यह गृहस्थ श्रावक स्थूल प्राणघातसे विरक्त रहता है। यह संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता। त्रस और स्थावर सभी संसारी जीवोंका घात रुक जाय यह बात मुनियोंसे सम्भव है। पर जिनको आजीविका लगी है अथवा नहाने धोनेके आरम्भ लगे हैं, घर गृहस्थीके भी कार्य लगे हैं वे विचार तो करेंगे, पर हिंसाका पूर्णत्याग सम्भव नहीं है। इसलिए मोटे पापोंसे, मोटी हिंसासे सदगृहस्थ विरक्त रहा करता है। इसका विशेष वर्णन अणुव्रतका जब स्वरूप आयगा उसमें किया जायगा, पर मोटे रूपसे यह जानना कि संकल्पी हिंसाका त्याग होता है गृहस्थके। चार प्रकारकी हिंसा कही गई है—(१) संकल्पी, (२) उद्यमी, (३) आरम्भी और (४) विरोधी। हिंसा तो हिंसा ही है, चाहे किसी रोजिगारमें हिंसा हो, या आरम्भमें हिंसा हो या शत्रु अपना घात करने आया है उसका बचाव करनेमें हिंसा हो तो उस हिंसाका दोष गृहस्थको नहीं लगता ऐसा नहीं है। हिंसाका दोष तो लगेगा पर उस हिंसाके दोषका त्याग गृहस्थके नहीं है यह बात है। यदि यह हो जाय कि गृहस्थको संकल्पी हिंसासे ही हिंसा लगती है और अन्य हिंसायें नहीं लगती हैं तब तो गृहस्थ रहना ही अच्छा है। मुनि बनना बेकार है वहां रहे और चूक गए तो हिंसा लग जायगी। गृहस्थ रहे तो हिंसा तो न लगेगी (हंसी)। सो भाई ऐसी बात नहीं है। हिंसा तो जहां है वहां है ही, पर गृहस्थने सबका त्याग नहीं किया है। मुनिके चार हिंसाओंका त्याग है।

संकल्पसे हिंसा न करेगा, इसके मायने यह है कि कोई जबरदस्ती कर रहा हो या लोभ दे रहा हो कि तू इस जीवको मार, मैं तुझको इतना वैभव दूंगा। तो वह लोभके वश आदिकसे संकल्पतः हिंसा नहीं करता, पर कोई शत्रु, कोई डाकू एकदम ही चढ़ आया तलवार लेकर और इसके सामर्थ्य है तो यह तो अपने प्राण बचायगा और प्राण बचानेमें यह भी तलवार चलायगा और उस संघर्षमें वह डाकू या शत्रु मर गया तो वह तो विरोधी हिंसा है, संकल्पी हिंसा नहीं है। और विरोधी हिंसाका त्याग गृहस्थ कर नहीं पाया। तो गृहस्थके संकल्पी हिंसाका त्याग होनेसे और अन्य हिंसाओंका त्याग न हो पानेसे उसके मोटी हिंसाका त्याग कहा जायगा।

सत्याणुव्रतका निर्देशन—असत्यका त्याग, मोटे असत्यका त्याग। जिन वचनोंसे दूसरे प्राणियोंका घात हो जाय ऐसे असत्यका त्याग गृहस्थके रहता है। ज्ञानी पुरुषके ऐसा भाव रहता कि सर्वजीव सुखी हों। उसने अपने स्वरूपकी तरह सबका स्वरूप निरखा। सो सबके सुखी होनेकी भावना रहती है उसकी। और वहां भी मूलतः हितकी भावना है। इस जीवको अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो जाय तो यह संकटोंसे छूट जाय, ऐसी मूलमें दया उत्पन्न होती है। वैसे गृहस्थ है तो और भी उपाय बनाता। भूख है तो भोजन दिया, ठंडसे पीड़ित है तो कपड़ा दिया। और भी उपाय करता है मगर यह जानता है कि गृहस्थ दाताके एक भोजन मिल जानसे इसका संकट हमेशाको तो चलेगा नहीं, हमको तो आत्मदृष्टि बनेसो सदाके लिए संसार संकट छूट जायें, ऐसी मूलमें दया होती है सब जीवोंकी। गृहस्थ ऐसा असत्य न बोलेगा जिसमें दूसरे प्राणियोंका धर्म बिगड़े, अपना धर्म बिगड़े, दूसरेका अपवाद हो। जिनसे प्रीति होती है उनके प्रति तो भावना रहती है सबकी कि कोई ऐसी बात न बोलनेमें आये कि इसका अपयश हो जाय। तो ज्ञानी जीवको तो समस्त जीवोंमें समान प्रीति है इस कारण उसके यह भावना रहती कि मेरा कोई ऐसा वचन न निकले कि जिससे दूसरेका अपवाद हो जाय। एक घटना है एक गांवकी कि वहां एक जैन जमींदार था, वृद्ध था, उसकी बहू पीढ़ा मचियापर बैठी हुई चक्की पीस रही थी। मचिया होती है ना चार पायों वाली, बानोंसे बुनी हुई। तो उस समय उसको याद आया। उस बुढ़ेको ख्याल कि यह बहू सरमके मारे कहीं अपघात न कर ले, सो उसने समझदारीसे काम लिया। सो क्या कहा कि—अरे बड़ईने पैसे तो पूरे लिये पर मचिया (पीढ़ा) ऐसी बना दी कि यह चीं चीं कर जाती है। बहूने बात सुन लिया, उसके मनमें यह बात आयी कि ससुर साहब जी सही बात समझ नहीं पाये। देखिये समझ सब लिया था उस वृद्धने मगर उसको समझानेके लिए बड़ी बुद्धिमानीसे काम लिया। तो जिसको जिससे प्रीति होती है वह उसके प्रति ऐसे वचन व्यवहार करता है कि जिससे वह बात सब समझले और बुरा जरा भी न माने उसका अपवाद न हो। तो यही बात ज्ञानीकी सर्व जीवोंपर है, किसी भी जीवका मेरे वचनोंसे अपवाद न हो।

सद्गुणकलाकी महिमा—भैया, एक गुण होना चाहिए मनुष्यमें कि हमेशा दूसरोंके सत्कारके वचन बोले। सभ्यतापूर्ण वचन बोलें और उसका आदर होवे ऐसे वचन बोलें। आपके वचन मात्रसे यदि दूसरा कोई प्रसन्न हो जाता है तो यह आपको कितना लाभकी बात है। मनुष्य तो अपना धन भी देकर दूसरोंको प्रसन्न रखना चाहते और आपके केवल वचनसे दूसरे खुश हो जायें तो इसमें तो

आपको उमंग रहनी चाहिए। आपमें अगर यह कला आगई तो फिर कभी विवाद, झगड़ा, कलह सम्भव ही नहीं है। तो जो जैन है, श्रावक है वह कभी ऐसे वचन न बोलेगा कि जिससे दूसरोंका अपवाद हो। जिन वचनोंसे कलह हो सके, दूसरोंके संक्लेश हो सके, भय आदिक हो सके ऐसे वचनोंका प्रयोग जैन नहीं कर सकते, सद्गृहस्थ नहीं कर सकते। यह ही है स्थूल मृषाका त्याग।

अभिमान न होनेसे ज्ञानी गृहस्थके सत्याणुव्रतके पालनकी सुगमता—दूसरोंको पीड़ा देने वाले वचन तब ही बोले जाते हैं जब अन्दरमें क्रोध हो, अभिमान हो और लोभ हो। क्रोध भी अभिमानके कारण आया करता है, इसी कारण सीधी बात कह लीजिए कि भीतर यदि अभिमान है या लोभ है तो खोटे वचन निकलेंगे। जिनको क्रोध आता है सो यों ही बिना वजह आता है क्या? उसके मनमें महत्त्वका फर्क आया ऐसा समझा तो क्रोध उमड़ता है या लोभके विषयमें कुछ फर्क आया, कोई धन घट रहा तो क्रोध आता है। तो मुख्य कारण है खोटे वचन निकलनेका अभिमान और लोभ। तो जिस ज्ञानी संतने अपना स्वरूप सहज चैतन्यमात्र जाना। यह पर्याय मैं हूं नहीं, है जरूर पर्याय पर यह मैं नहीं। मैं तो वह हूं जो कि अनादि अनन्त समानवृत्ति वाला हूं, चैतन्यमात्र। यह शरीर माया है, इस मायाको वह आत्मस्वरूप नहीं जानता इस कारण उसे किसी घटनामें अभिमान नहीं जगता। यदि कोई यह जाने कि यह भव, पर्याय, देह जो यह पिण्ड है सो यह मैं हूं तो जिसको मैं समझा है उसका महत्त्व तो अवश्य चाहेगा। जिस ज्ञानीने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपको मैं समझा तो वह चैतन्यस्वरूपका महत्त्व चाहता है, इसका विकास हो। तो अज्ञानीने इस पर्यायको, इस देहको मैं समझा तो वह इसका महत्त्व चाहता। अब इसका महत्त्व हो नहीं रहा। लोग गुण गा नहीं रहे। इन लोगोंके बीच मेरा बड़प्पन नहीं आ रहा, या लोग ऐसे वचन बोल रहे जिनसे हल्कापन जाहिर हो गया तो वहां क्रोध आ गया। तो ज्ञानीको अभिमान नहीं होता क्योंकि उसने आत्माके सहज चैतन्य प्रकाशको आत्मा माना है। इस पर्यायको आत्मा नहीं माना। फिर अभिमानकी गुंजाइश कहां।

लोभ आसक्ति न होनेसे ज्ञानी गृहस्थके सत्याणुव्रतके पालनकी सुगमता—ज्ञानीके लोभकी भी गुंजाइश नहीं। चूँकि गृहस्थ है, परिस्थिति है, सब कुछ रखना पड़ता है, सम्हालना पड़ता है, अर्जन करना पड़ता है, लेकिन यदि कोई धार्मिक काम आ जाय तो उसमें फिर लोभ नहीं करता। एक घटना है ऐसी कि किसी जौहरीकी लड़की एक शहरमें किसी बड़े सेठके घर ब्याही गई। घी का बड़ा व्यापार था उस घर। एक दिन वह बहू ऊपरी मंजिल पर खड़ी थी, नीचे क्या देखा कि घीके कारखानेमें जहां घी अग्निमें तपाया जा रहा था वहीं सेठ बैठा था। अचानक ही कोई मक्खी उस घीकी कड़ाहीमें गिर गई तो सेठने क्या किया कि उस मक्खीको निकालकर अलग करना चाहा। पर उसमें कुछ घीके बूंद लगे हुए थे तो उनको कड़ाहीमें टपकाया। एक एक बूंद टपका लिया फिर मक्खीको बाहर फेंक दिया। इस दृश्यको देखकर सेठकी बहूको बड़ा गम हुआ, सोचा अरे कहां तो मैं जौहरीकी लड़की और कहां इस मक्खीचूसके घर ब्याही गई। उसे ही तो मक्खीचूस कहते जो मक्खीको चूस चूसकर घी निकाले। इस घटनाको देखकर बहूको भारी सिरदर्द हो गया। सेठने उसके उपचारके लिए अनेकों वैद्य, डाक्टर दिखाये पर फायदा न हुआ। एक बार पूछ बैठा वह सेठ—ए बहू, तुम सच बताओ

क्या है कोई ऐसा उपाय तुम्हारा सिरदर्द ठीक हो सकता हो ? ... हां है पिताजी । ... कौनसा ? ... यही कि मेरे घर जब कभी मेरे सिरदर्द होता था तो मेरे सिरमें दो मुट्ठी कीमती रत्न पीसकर उनका लेप सिरमें किया जाता था तब ठीक होता था । तो वही एक उपाय मेरी समझमें आता ठीक होनेका । तो वहां सेठने झट खजाज्वीको आदेश दिया कि दो मुट्ठी कीमती रत्न लावो, उन्हें पीसकर बहूके सिरमें लेप किया जायगा । आखिर आ गए दो मुट्ठी कीमती रत्न, शायद १ करोड़के तो होंगे ही, उनको सेठ सिलबट्टेमें पीसने ही वाला था कि झट बहू बोली—बस पिताजी रहने दो । इन्हें मत पीसो, मेरा सिरदर्द दूर हो गया । ... कैसे दूर हो गया, अभी लेप तो हुआ नहीं ? ... हां लेप तो नहीं हुआ पर सिरदर्द दूर हो गया । ... कैसे ? ... ऐसे कि मेरे सिर दर्द हुआ था इस बातसे कि मैं कहां ऐसे जौहरीकी लड़की और कहां ऐसे मक्खीचूसके घर ब्याही गयी । पर जब देखा कि आप मेरा सिर दर्द दूर करनेके लिए करीब १ करोड़के रत्न पीसने जा रहे तो वहां मेरा वह भ्रम दूर हो गया कि सेठजी मक्खीचूस हैं । तो वहां सेठजी बोले—अरी बहू तू बड़ी भोली है । तू नहीं जानती कि धन किस तरहसे कमाया जाता । जब कमाना तो इस तरह कमाना और जब खर्च करना तो दिल खोलकर इस प्रकार खर्च करना । खैर यह तो उसकी कहानी है । बात यहां यह कह रहे थे कि जो असत्य बोला जाता है वह लोभवश बोला जाता है । तो ऐसा लोभ नहीं होता है सद्गृहस्थके । कोई धर्मका कार्य आये या किसीकी भलाईका कार्य आये तो उसमें भी लोभ करें । ऐसा लोभ गृहस्थके नहीं है और इसी कारण वह असत्य भी नहीं बोलता । तो ऐसा स्थूल असत्यका त्याग गृहस्थके है ।

ज्ञानी गृहस्थका अचौर्याणुव्रत—स्थूल चोरीका त्याग! बिना दिए हुए दूसरेके धनको लोभसे छल करके ग्रहण करे वह स्थूलमें चोरी है । देखिये चोरीके विषयमें अनेक प्रश्न चलते हैं, पर कमसे कम इतना तो प्रत्येकको त्याग होना ही चाहिए कि दूसरेके धनको बिना दिए ग्रहण न करना । बिना दिये मायने यह नहीं कि वह हाथसे दे रहा तो ग्रहण कर लिया । मनसे खुश होकर दे । प्रसन्नतासे न दे तो ग्रहण न करना । यों तो डाकू लोग भी बिना दिए धन नहीं लेते । वे तो घरके मालिकसे कहते कि इस धनको तू अपने हाथसे निकालकर दे । उनको कहीं यह भाव नहीं होता कि यदि इसके ही हाथसे निकलवाकर धन लिया तो चोरी न कहलायगी । है तो वह चोरी ही । तो चोरीकी सूक्ष्म बातें बहुत हैं । उनका विवेचन करनेका यहां प्रसंग नहीं है । उनके विषयमें आप सब जानते ही हैं । यहां चोरीके सम्बन्धमें स्थूलवार्ता कहते हैं कि इसका त्याग इतना तो अवश्य होना चाहिए कि बिना दिया दूसरेका धन ग्रहण न करें । ऐसा स्थूल चोरीका त्याग प्रत्येक सद्गृहस्थके हुआ करता है ।

ज्ञानी गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत व परिग्रहपरिमाणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रत । जिससे विवाह हुआ उसके सिवाय शेष स्त्रीजनोंमें, पुरुषजनोंमें कामकी अभिलाषाका त्याग होना । हृदयमें भावना ही न उठना, इसको कहते हैं ब्रह्मचर्याणुव्रत । कल एक चर्चा आयी थी कि पति और पत्नीका जोड़ा होता है । पतिका अर्थ है मालिक और पत्नीका अर्थ हुआ मालकिन । अब आप समझो कि इन दोनोंका घरमें एक साथ रहकर कैसा समान व्यवहार चलना चाहिए । यों समझो कि जैसे एक गाड़ीको ले जाने वाले दो बैल । तो जैसे पुरुषके सम्बन्धमें कहा कि सद्गृहस्थ अपनी विवाहित पत्नीके सिवाय अन्य

समस्त स्त्रीजनोंके प्रति कामाभिलाषा नहीं रखता, ऐसे ही स्त्रियां भी अपने पतिके अतिरिक्त किसी भी पर पुरुषके प्रति कामाभिलाषा न रखें, वह है उनका ब्रह्मचर्याणुव्रत । चूँकि पूरा ब्रह्मचर्य तो नहीं निभा सकते इसलिए स्वदार संतोषवृत्तिसे रहना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है । ऐसे ही मूर्छाका स्थूल त्याग । जितना परिग्रह परिमाण बनाया उससे अधिक परिग्रहका त्याग होना यह स्थूल परिग्रहका त्याग है । ये पापकर्मके आश्रवके कारण हैं, इनका त्याग होना अणुव्रत है ।

सङ्कल्पात्कृतकारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान् ।

न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ५३ ॥

संकल्पपूर्वक मन, वचन, कायके करनेसे, करानेसे, अनुमोदनासे त्रस जीवोंका घात न होना सो यह अहिंसाणुव्रत है । स्थूल हिंसासे विरक्त होना अहिंसाणुव्रत कहलाता है । न तो खुद करता है हिंसा, न दूसरोंसे कराता है और न करते हुएकी अनुमोदना करता है । मानलो कहीं कोई सांप निकला उसको किसीने मार डाला तो वहां तमासा देखने वालोंकी भीड़ लग जाती है । अनेक लोग उस मारने वालेको शाबाशी भी देते हैं । तो देखो ऐसे लोगोंने हिंसाका पाप बांध लिया । करना, कराना और अनुमोदना करना इनमें पाप लगता है । तो मनसे, वचनसे, कायसे और कृतकारित अनुमोदनासे, नवकोटिसे हिंसाका त्याग गृहस्थके होता है । जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे युक्त हैं, ज्ञानी हैं, दयावान हैं, हिंसासे भयभीत हैं । हिंसाके त्यागके सम्मुख हैं । ऐसे ज्ञानी गृहस्थके चूँकि गृहस्थीमें रह रहा है सो एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा तो उनसे टल नहीं पाती । अनेकोंबार खानसे मिट्टी लानी पड़ती है । पहले जमानेमें चौका पोतनेके लिए लोग सफेद मिट्टी लाकर चौका पोता करते थे । आजकल तो कलई चल गई । तो सभीको खानसे मिट्टी खोदकर लाना पड़ता था । तो वह पृथ्वीकायकी हिंसा ही तो हुई । ऊपरकी पड़ी हुई धूल मिट्टी तो अजीव है और खोदकर जो मिट्टी निकाली जाती है वहां पृथ्वीकायका जीव है एकेन्द्रियमें । उस हिंसाको गृहस्थ कैसे टालेगा ? अग्नि भी जलायगा, हवा भी करता है, और फल साग वगैरह भी बिनारेगा । तो उसके एकेन्द्रियकी हिंसा नहीं टल पाती । इसलिए बताया है त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न संघारे । त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करके स्थावर जीवोंका भी संहार न करे, यह सदगृहस्थका अहिंसाणुव्रत है । तो छहकायके जीवोंकी हिंसा गृहत्यागी मुनिवरोके पलती है, क्योंकि वहां प्रत्याख्यानावरण कषाय भी न रही इसलिए सबसे ममता छूट गई । गृहस्थके नहीं छूट पाती । उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय चल रहा है । तो गृहस्थके त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग रहता है । दयालु होता है गृहस्थ । जीव दया गृहस्थका मूल गुण बताया गया है, सो वह गृहस्थ अपने परिणामसे मारनेका संकल्प नहीं करता और संकल्पसे त्रस जीवोंका घात न करता है, न कराता है, उन उसकी प्रशंसा करता है । ऐसा उसका सर्व जीवोंमें विश्वास रूप परिणाम रहता है ।

सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी कलाका प्रताप—भैया, सारी करामात है उस कलाकी जिस कलासे भव्य आत्माने अपने सहज आत्मस्वरूपका अनुभव कर लिया है । अज्ञानीजनोंको तो इसमें आश्चर्य होता कि कोई छोटा बालक घर त्याग दे । साधु हो जाय या कोई छोटी उम्रका **शुभ**, वह भी

सन्यास धारण करले तो लोगोंको ऐसा लगता कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं खराब हो गया। उन्हें आश्चर्य होता, किन्तु जिन्होंने अपने सहज अनादि अनन्त चैतन्य प्रतिभासमात्र स्वरूपको पहिचान लिया और दृढ़तासे समझ लिया कि मैं यह हूँ और इस चैतन्यकी जो सहज वृत्ति है बस वही मेरा कार्य है और उस चैतन्यकी सहज वृत्तिमें जो सहज आनन्द जगता है बस वही उसका अनुभव और भोगना है। इसके निर्णय सिवाय अन्य जगह मेरा कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यह बात जिसके उपयोगमें दृढ़तासे बैठी हुई है उसके लिए सन्यास लेना, सर्वत्याग कर देना कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है। ऐसा तो होता ही है तो यही बात सदगृहस्थने पायी मगर कुछ विपाक ऐसा चल रहा है, पूर्वबद्ध कर्मका उदय चल रहा है कि वह गृहत्याग करनेमें समर्थ नहीं है। पर घरमें रहनेकी आसक्ति भी नहीं है। वह सदगृहस्थ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है और यही उसका अहिंसाणुव्रत है।

सदगृहस्थके संकल्पी हिंसाका त्याग—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ घरमें रहता हुआ किस प्रकारके परिणामसे रहता है। अहिंसाणुव्रतके प्रसंगमें इस सम्बन्धकी वार्ता चल रही है। चूँकि इस गृहस्थने अपने आत्मस्वरूपको पहिचाना है और ऐसा ही आत्मस्वरूप सब जीवोंमें होता है अतः सबके प्रति मैत्रीभाव हो जाता है। किसी भी जीवको दुःख न हो ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। जब मैत्रीभाव है तो किसी जीवको मारनेका संकल्प कभी हो ही नहीं सकता है। अहिंसाणुव्रतका पालक यह गृहस्थ भी उसको मारनेका संकल्प नहीं रखता, जो दुष्ट हो, वैर, ईर्ष्या आदिकके कारण इसको मारने वाला हो या आजीविकापनमें बाधा डालता हो, ऐसे पुरुषको मारनेका भी इसके भाव नहीं रहता। वह चल रही है ज्ञानी गृहस्थकी बात। हां यदि कोई प्राण लेने ही आ गया है और एकदम सारा सर्वस्व लूटने ही आ गया है तो इसके विरोधी हिंसाका त्याग नहीं है। इसके ऐसी चेष्टा हो जाती है कि शस्त्र आदिक हो तो उससे उसका मुकाबला कर उसका निवारण करता है और उस निवारण करनेमें यदि आक्रामककी जान भी चली जाय तो भी वहां संकल्पी हिंसा नहीं होती। मैं इरादा करके किसीको मारूँ, ऐसे भावसे नहीं मारा, किन्तु बचावमें ऐसी चेष्टा हुई है। संकल्पसे तो आक्रामकको भी मारना नहीं चाहता। यह सदगृहस्थ कोई बहुत धन दे कि तुम इस कीड़ीको मार दो मैं तुमको इतने हजार रुपये इनाम दूंगा, तो भी उस कीड़ीको मारनेका संकल्प उसके नहीं होता। उसने जाना है कि सर्व संसार असार है। यहां तो गुजारा ही करनेके लिए गृहस्थीमें रह रहे हैं। मुख्य उद्देश्य तो धर्मपालन है, ऐसा जिसका लक्ष्य बन गया है वह ऐसी खोटी प्रवृत्तियां नहीं कर सकता।

कठिन परिस्थितियोंमें भी सदगृहस्थके संकल्पी हिंसाके त्यागकी अविचलितता—देखिये अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए हैं, बड़ा अच्छा शासन भी मिला है, समागम भी ठीक है। इस भवमें ऐसा दृढ़ निर्णय बना लीजिए कि मेरे परिणामोंमें धर्मधारण बने, इस ही में मेरा उत्थान है, कल्याण है और इस भवका प्रयोग धर्मपालनके लिए ही करें। यह वैभव नहीं रहनेका। जीवनमें ही भरोसा नहीं। मरने पर तो स्पष्ट जाहिर है कि कुछ साथ नहीं जाता। और जो सत् है वह कभी नष्ट होता नहीं। तो मैं रहूंगा आगे तो आगेकी भी सुध लीजिए कि मेरा भविष्य कैसा रहे। उसके लिए कर्तव्य है कि अपने आप स्वरूपमें अपनेको रमाकर संतोष करनेकी कोशिश कर लीजिए अन्यथा इस भवमें भी दुःखी रहेंगे और

आगे भी दुःखी रहेंगे। ज्ञानी गृहस्थ जिसने अपने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वह किसी भी जीवको मारनेका संकल्प नहीं करता। कभी ऐसी परिस्थिति आये या कोई बताये कि तुम्हारे यह कठिन रोग हो गया है तुम अमुक जीवको मारकर अपना रोग और आपत्ति दूर सकते हो? जैसे कि अनेक लोग देवी देवताओंकी मनौती करके जीव हत्या करते हैं, तो इस तरहका कार्य ज्ञानी जीव नहीं करता। जो अज्ञानीजन हैं, जिन्हें वस्तुस्वरूपका कुछ पता ही नहीं है वे ही ऐसे हिंसात्मक कार्य करते हैं।

वस्तु स्वरूपका ज्ञान होनेपर हिंसा परिहारका सुगम निर्वाह—प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है, जब हर एकका अस्तित्व उस ही में है, प्रत्येकमें वस्तुत्व है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही रूपसे रहते हैं दूसरे रूपसे नहीं, अपनेमें ही परिणमते हैं दूसरे रूपसे नहीं, जब ऐसा अस्तित्व सबका परस्पर भिन्न-भिन्न ही है तो एक दूसरेका क्या रहेगा? रही अपने आपके आत्माकी बात, तो जैसे यह भाव करता है वैसा कर्मबंध होता है, वैसा ही उदय होगा, वैसी ही घटना बनेगी। तो हमारा सब कुछ हमारे भावों पर निर्भर है, दूसरों पर निर्भर नहीं है। सत्यस्वरूप जानकर अपने आत्माकी करुणाकी जाय तो इसमें कल्याण है अन्यथा जीवन तो सबका ही चलता है। जैसे पशुपक्षी जी रहे वैसे ही ये मनुष्य भी जी रहे। आज जो लोकमें अपनी प्रशंसा और नामवरीकी बात सोची जा रही है वहतो सब मायारूप है और सब स्वार्थवश है, ये सब मिटजाने वाले हैं, इनमें चित्त न दीजिए। चित्त दीजिए धर्मपालनमें। और चूँकि गृहस्थी आजीविका बिना नहीं चलती तो यथोचित न्यायनीतिसे आजीविका करें, फिर जो कुछ होगा, प्रशंसा हो, नाम हो, जो कुछ भी हो, होता रहे, उससे आत्माका कुछ उत्थान नहीं। यह निर्णय बनाये रहें। भले ढंगसे चलेंगे तो आप ही का भला है, बुरे ढंगसे चलेंगे तो खुदका ही बुरा है। तो यह ज्ञानी गृहस्थ किसी भी स्थितिमें लोभवश किसी भी त्रस जीवका घात नहीं करता। देखिये—ज्ञानी गृहस्थका परिणाम, घरमें रह रहा है तो आरम्भ सब करना ही पड़ता है, आरम्भ किए बिना गुजारा तो नहीं चलनेका। मगर उस आरम्भमें भी जीव दयाके भावसे सही प्रवृत्ति रखता है और किसी भी प्रसंगमें आकर जीवघात नहीं करता।

सद्गृहस्थका यत्नाचार पूर्वक आरंभादिकमें प्रवर्तन—देखिये घरमें आरम्भ रोज करना पड़ता है, चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, झाड़ूगोहारी करना, पानी भरना आदि तो वहां भी जीवदयाका भाव विशेष रहता है और दयापूर्वक प्रवृत्ति होती है। नौकर रखकर घरमें आरम्भके काम करना यह भी प्रमाद है। अगर वे काम खुद करें तो जीवदया पालते हुए तो करेंगे, अन्यथा क्या भरोसा? कितना ही समझा दिया जाय किसीको, पर उसके भावोंमें दया नहीं है तो वह नौकर घरमें आरम्भ कार्य करता हुआ क्या जीव दया पालते हुए काम करेगा? अरे उसे तो जल्दी-जल्दी पड़ेगी। तो जहां तक हो सके घरके, आरम्भके कार्योंमें सेवक, नौकर न रखे जायें। जिससे जैसा बने सो करे मगर गृहस्थके कर्तव्यमें बताया कि इन आरम्भके कामोंको खुद करलें, नौकरोंसे न करावें, क्योंकि खुद करेंगे तो जीव दया पालते हुए करेंगे, और इसके अतिरिक्त घरके अन्दर नौकरोंके रहनेसे अनेक आपत्तियां भी आती हैं। कभी कुछ चोरी भी हो जाती है तो जीव दयाकी दृष्टिसे चित्तमें यह भाव रहना चाहिए कि अधिकसे अधिक आवश्यक हो तो सेवक रखे जायें अन्यथा ये सब काम हमारे मिलजुलकर करनेके हैं ताकि जीवदया

पले। ये तो आजीविकासे सम्बन्धित कुछ आरम्भ कार्य नित्यके हैं, पर बीचमें अनेक आरम्भ और भी आ जाते हैं। जैसे पुत्र अथवा पुत्रीका विवाह करना, मकान बनवाना, लीपना पोतना आदिक काम भी कभी-कभी आते हैं, कभी रातको भी चलना होता है, कभी बर्तन, काठ आदिकके धरने, उठाने, सेज बिछाने आदिकके कितने ही काम और भी करने पड़ते हैं, उनमें भी अपना यत्नाचार सही रहे जीव दयाका भाव रहे। जीव जीव सब समान हैं, यह बात चित्तमें आ जाय तो सब आसान है। तो जितने भी कार्य गृहस्थके घरमें रहकर करने पड़ते, कभी पंगत करना, प्रीतिभोज करना, गाड़ीपर सामान लादना, गाड़ी या घोड़ेपर चढ़कर चलना, गाय भैंस आदिक रखना, कितने ही काम करने पड़ते हैं किन्तु गृहस्थमें एक कला आयी है कि सब जीवोंमें चैतन्यस्वरूपको निहारता रहता है। इस नातेसे उसके लिए सब जीव अपने कुटुम्बके बराबर हो जाते हैं। कितने ही आरम्भ कार्य करने होते तो त्रस हिंसाकी वहां भी सम्भावना तो हो सकती मगर संकल्पमें नहीं है त्रसघात। जब कोई मंदिर बनवायगा तो आखिर आरम्भ तो होगा ही। अनेक चीजोंके धरने उठानेमें अनेक जीवोंकी हिंसा भी सम्भव है, मगर संकल्पी हिंसाका पूर्णतया त्याग है, तो वहां भी वह यत्नाचार करेगा, पानी छानकर इसमें काम आये, गारा बने, वहां पर भी वह दृष्टि रखता है, सो कहते हैं कि इस गृहस्थका परिणाम जीवोंको मारनेका नहीं है, और जितने भी आरम्भ करता है धरके, आजीविकाके, धर्म साधनाके उनमें जीवोंके मारनेका तो प्रयोजन है ही नहीं और न आलस्य है। न प्रमाद है कि किसी जीवका घात हो।

गृहस्थधर्मकी धर्मसाधनामें उपयोगिता—देखिये—गृहस्थ धर्म भी एक धर्म है, जिसकी साधनामें यह जीव अपना मार्ग बना लेता है। पर वे और उस धर्मका आधार है आत्मस्वरूपका अनुभव। परभाव सब उसे असार दिख रहा। कोई समागम सारभूत नहीं है सब इस भगवान आत्माका घात करने वाले हैं। यहां जो भी इष्ट समागम मिले हैं रागकी अनेक बातें मिली हैं। तो उनको पाकर यह जीव खुश हो रहा है, मगर वह खुशी तो एक आगकी तरह है जिससे कि इस भगवान आत्माका यह चैतन्यप्राण जल रहा है। कभी अनिष्ट समागम मिल गए तो खेद मानता है, वह तो आग जंचती ही है। बाह्य पदार्थोंका लगाव इस भगवान आत्मापर प्रहार करनेवाला है। समता परिणाम हो तो आत्माकी रक्षा है। देखिये—काम सब करने पड़ रहे हैं यह स्थिति होती है गृहस्थकी, पर वहां भी अपनी सुध रहे। कोई अपनी धर्मसाधनामें रहे उसके प्रति यदि कोई कहे कि आत्मामें ही रमे तो जनताका, देशका कैसे उपकार होगा। जनताका उपकार करनेके लिए प्रयत्न करना ही चाहिए। सो सुनिये जब घरमें, समाजमें कोई रह रहा इसलिए बहुत सी बातें करनेमें आती ही हैं। पर एक बात यहां यह देखिये कि जनताका उपकार कोई कितना ही करना चाहे पर उसके चाहनेसे जनताका उपकार हो ही जाय सो बात नहीं, सामर्थ्य भी तो होनी चाहिए कि उसकी सहज चेष्टासे जनताका उपकार हो ही जाय। तो ऐसी सामर्थ्य उस जीवमें आयगी जिसको आत्मस्वरूपका परिचय होनेसे धर्मकी धुन लगी है और वहां पुण्यरस बढ़ रहा है। उसमें ही वह बल आयगा कि जिसका सहज चेष्टासे लोगोंका उपकार होगा। और फिर परख भी लो कि जनताके उपकारके लिए ही जो जीवन समझता है उसके तो मिथ्याभाव है। यह मनुष्य जीवन आत्माके सम्यत्व, ज्ञान, चारित्रिके पालनके लिए है। जरा लम्बे कालपर दृष्टि डालो और विस्तृत लोकपर

दृष्टि डालो जीवका सबकुछ उनके कर्मानुसार होता है। पुण्य हो उसमें कुछ भी सहायक हो जाता है। अगर इस मायामयी दुनियाके ख्यालमें ही रहे और आत्माकी दृष्टि भूल गए तो भविष्यमें आत्माका क्या गुजरेगा वह भी तो ध्यानमें लें।

सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनमें ही शान्तिकी संभवता—भैया ! खूब निर्णय करलें, शान्ति कहाँ मिलेगी ? धन खूब बढ़ जाय तो शान्ति मिल जायगी क्या ? इसको धनिक लोग खुद अनुभव कर रहे होंगे। धन जितना-जितना बढ़ा, उतना उतना शान्तिसे हाथ धोया। दुनियामें नाम कीर्ति बढ़ जायगी तो शान्ति मिल जायगी क्या ? अरे आजके जो नेता लोग हैं वे ही जानते होंगे कि शान्ति मिलनी तो दूर रही, बल्कि अशान्ति और भी बढ़ गई। जगतका कौनसा समागम ऐसा है जिसमें आत्माको शान्ति मिल सकती हो ? खूब सोचिये कि आत्माका परिचय हो गया, समस्त जगतसे निराला, समस्त परभावोंसे निराला अपने आत्माका परिचय मिल गया, अनुभव बना है ज्ञानानुभव हुआ है, एक आत्मीय सहज आनन्द जगा है तो उसके लिए यदि धनीकी स्थिति मिलती है तो वहाँ भी शान्ति, निर्धनकी स्थिति मिलती है तो वहाँ भी शान्ति। बड़ा नाम फैल रहा है उस स्थितिमें भी शान्ति अथवा कोई नहीं पूछ रहा है तो वहाँ भी शान्ति। तो शान्तिका आधार और कोई बाहरी बात नहीं है, किन्तु स्वच्छ चेतनामात्र भगवत्स्वरूप सर्वऋद्धिका स्थान परमपवित्र निजमें बसे हुए सहज परमात्माका दर्शन है। यह बात जिसे मिली वह सब स्थितियोंमें खुश रहता है। और आत्मस्वरूपका अनुभव जिसे नहीं हो पाया वह चाहे राजा बने, धनी बने, बड़ा यशस्वी बने, कैसी भी स्थिति पाये, पर उसको शान्ति नहीं है।

पारमार्थिक आनन्द पानेके उपायके प्रयोगकी आवश्यकता—भैया, एक वर्तमानका ही आनन्द ले लो। यदि भविष्यके बारेमें क्या होगा क्या न होगा ऐसा विकल्प चलता है तो बतलावो वर्तमानमें आप आनन्द चाहते हैं या नहीं। यदि चाहते हैं तो फिर वर्तमानका ही आनन्द लूट लो। अब यथार्थ पहिचान कर लीजिए कि वर्तमानका आनन्द हमें कैसे मिलेगा ? जो कार्य लोग करते हैं विषय सेवनके, कषायोंके या और और भी आरम्भकी अनेक बातें तो उन सबके करते हुए उनको आनन्द मिला है क्या ? मात्र मोहियोंने माना है कि आनन्द, पर वास्तविक आनन्द तो वह है कि जिसकी बदल न हो, और जिसके बाद फिर कष्ट न हो। यहाँ दो बातें समझ लीजिए संसारके सुख दुःखकी बदली चला करती है। किसीको सुख मिला है तो सुख ही सुख रहेगा सो बात नहीं, अथवा दुःख ही दुःख मिला है सो वह वैसा ही रहे सो बात नहीं। दुःखकी बात तो बराबर है संसारमें। वास्तवमें तो आनन्द नहीं है इन सब लगावोंमें और फिर जो कल्पित सुख मिला है वह विनश्वर है। प्रयोग करके देख लीजिए। बाहरी पदार्थोंमें राग करके, प्रेम करके, आग्रह करके हम आनन्द पाते हैं या बाहरकी दुनियाको भूलकर केवल अपनेमें ज्ञानमात्र अमूर्त एक प्रकाशमान अपने आपको अनुभवनेमें आनन्द मिलता है। प्रयोग करके देख लीजिए—जैसे बाहरमें प्रयोग करते कि अमुक चीजके खानेमें सुख है या इसके खानेमें सुख है ? दोनोंका स्वाद लेकर जाना जाता है कि अधिक स्वाद इसमें है। ऐसे ही प्रयोग करके तो देखो अगर दो मिनटको समस्त जगतके विकल्प छोड़कर और एक अपने आत्मामें बस गए तो आपका यह घर न मिट जायगा, यह गिर न पड़ेगा, कुटुम्बके लोग कहीं भाग न जायेंगे। आपकी यह

जायदाद कहीं खिसक न जायगी। वह सब आपको मिलेगा, उसमें घबड़ानेकी बात ही नहीं है, पर प्रयोग करके तो देखिये। बाहरी पदार्थोंके लगावका प्रयोग अनादिसे हम करते आये हैं। एक ऐसा भी तो दिल बनायें कि सारा जगत मायारूप है और उससे कुछ मिलता नहीं है मुझे। मरण समय तो एकदम स्पष्ट ही जान रहे हैं कि कुछ नहीं रहना है। जिनको मानते हैं कि यह मेरा पुत्र है, अमुक है, वे भी उतना ही भिन्न है जितना कि जगतके पशु पक्षी आदिक अन्य जीव भिन्न हैं। रंच सम्बंध नहीं है, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। तो जब सब मायामय है, असार है, मेरे हितका साधन नहीं है तो एक बार इन सबका विकल्प छोड़कर एक बड़े विश्रामके साथ बैठ जायें और ऐसे सत्यका आग्रह करें कि मैं तो बस सबका विकल्प छोड़कर बैठ गया। अपने आप ही सहज मुझे अपनेमें बसे हुए स्वरूपके भगवानके दर्शन मिलें तो मिलें, बस अन्यका विकल्प न करें। ऐसी बड़ी दृढ़ताके साथ परम विश्राम करके तो रहें। अपने आपका भी अनुभव कर लीजिए फिर देखिये कि अपने सहज स्वरूपके अनुभवका आनन्द मिलता है या नहीं। मिलेगा आनन्द और इस आनन्दकी स्थिरता रहेगी।

अपने स्वतंत्र अस्तित्वके आदरका परिणाम—देखिये जब कई चीजें मिली हुई होती हैं, तो बताओ उनका मिलाना सरल है कि अलग करना सरल है? लोग तो कहेंगे कि मिलाना सरल है पर परमार्थसे उत्तर यह है कि अलग होना सरल है। क्योंकि स्वरूप तो प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र स्वतंत्र है। पदार्थोंमें कहीं ऐसी बात नहीं पड़ी है कि चुम्बककी तरह वे सबको चिपकाते फिरते हैं। सब पदार्थ अपने अपनेमें ही सत् रहते हैं। तो प्रत्येक पदार्थका अलग होना सरल है और मिलना-जुलना यह कठिन है। मिलनेसे उन्हें पराधीनता है, अनेक अपेक्षाएँ हैं। इसे जानें युक्तिसे। जैसे हम आप सब जीव बैठे हैं तो ये शरीर, कर्म और जीव इन तीनके पिंडोला हैं, तीनों मिले जुले हैं फिर भी शरीर, कर्म और जीव इन तीनोंकी सत्ता तो न्यायी ही है। ये इस समय एक जगह रहकर भी अपने स्वरूपमें अपना-अपना ही अस्तित्व रख रहे हैं। तो यह मिलन हो रहा है एक बनावटके कारण। जो भावोंमें बनावट चलती, राग, द्वेष, मोह, होते, इस बनावटके कारण इनका मेल चल रहा है। पर यह बनावटका श्रम न किया जाय और जैसा उसका सहज स्वरूप है उसी प्रकार रहे तो वे सब बड़ी आसानीसे विघट जायेंगे। मिलावटमें तो एक कष्ट करना पड़ता है, इसको रागद्वेष मोहका कष्ट भोगना पड़ता है तब यह मिलावट चल रही है। तो जैसा मैं हूँ वैसा ही अपने उपयोगमें रह जाऊँ तो ये सब बिखर जायेंगे। तो बिखरा रहना, जुदा रहना यह वस्तुका स्वरूप है, मिलावट होना यह वस्तुका स्वरूप नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें सत्त्व रखे हुए है। तो यों समझिये कि जैसे किसी किवाड़में एक स्प्रिंग लगा दी जाती कि वह अपने आप बन्द है और जब तक हाथसे पकड़कर खींचे रहेंगे तब तक वह खुला है। जब तक परिश्रम कर रहे, कष्ट कर रहे तब तक वह खुला है, परिश्रम छोड़ दिया जाय तो वह बंद हो गया, ऐसे ही तब तक वह दुःख है, कष्ट है, आकुलता है, संक्लेश है, बनावट है, विकार है जब तक यह जबरदस्तीका मिलावट है और हम शान्त हो जायें, श्रम छोड़ दें, सहज ज्ञाताद्रष्टा रहें तो अलग रहना यह तो वस्तुका स्वरूप ही है, मेरा अस्तित्व मेरेमें ही है। वह मैं अकेला रह जाऊँगा, तो जब मैं अकेला

रह जाऊंगा उस समय निरन्तर आनन्द ही आनन्द मेरेमें चलता रहेगा। जब तक मिलावट है तब तक कष्ट चलता है और अकेला रह जाऊं तो वहां सहज आनन्द ही जगेगा।

अत्यन्त अकेले रहनेकी स्थितिका महत्त्व—अब बोलो अन्य सबसे अपना अलग हो जाना, सिद्ध भगवान हो जाना यह आपको इष्ट है या नहीं? अगर नहीं है इष्ट तो फिर मंदिर किसलिए आते? यहां आकर यदि यह भावना नहीं बनती कि प्रभु मुझे तो सिद्ध होना है, सिद्ध होनेसे पहले तो ये जगतके सारे संकट हैं। मेरेको वह दशा चाहिए कि जो मैं अपने अस्तित्वमें हूं उस ही अस्तित्वमात्र रह जाऊं। मैं तो अकेला ही रहना चाहता हूं और इस अकेलेपनमें इस सिद्ध होनेकी स्थितिमें बस पूर्ण पवित्रता है धर्मादिक द्रव्योंकी तरह। अनन्त कालके लिए यह पवित्र ही रहेगा। तो जब अनन्तकाल तकमें पवित्र ही रहूंगा, विकारसे जुदा हो जाऊंगा, केवल ज्ञातादृष्टा रहूंगा तो एक दो मिनटको तो उस ध्यान और समाधिमें एकाकीपनसे क्यों घबड़ायें? वह अकेलापन मुझे अनन्तकाल तक रहेगा और अनन्तकाल तक रहूंगा, सिद्ध भगवंत होऊंगा, तो फिर आज इस थोड़ेसे समयमें अपनेको अकेला अनुभव करनेमें क्यों घबड़ाये? अपनेमें अपनेको बस चैतन्यस्वरूपमात्र अकेला ही अनुभव करियेगा। ऐसा जिसने अपने चैतन्यस्वरूपका परिचय पाया है वह ज्ञानी गृहस्थ परिस्थितिवश रह रहा है गृहस्थीमें मगर वह किसीसे मोह नहीं करता और प्रवृत्ति करनी पड़ती है। तो जीवदयासे भरपूर होकर समस्त हिसाबोंको टालकर अपनी चर्या बनाता है यह है सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी चर्या।

अहिंसाकी धर्ममूर्तिता—धर्म एक अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ है अपने परिणामोंमें विकार न आने देना। हिंसाका अर्थ है अपने परिणामोंमें विकार आ जाना। अन्यथा एक समस्या सामने आती है। इस लोकमें सब जगह जीव ठसाठस भरे हैं। जहां हम जानते हैं कि यह पोल है कुछ नहीं दिखता वहां पर भी अनन्तानन्त सूक्ष्म जीव भरे हैं। और फिर जितने आश्रय हैं वहां जीव हैं। औरकी तो बात क्या, अपना जो एक स्वयं शरीर है जिसमें बंधे पड़े हैं, इस शरीरमें ही अनेक जीव भरे पड़े हैं। मालिक तो मैं एक जीव हूं पर इसमें कोई त्रस, कोई स्थावर आदिक अनेक जीव भरे पड़े हैं। अगर बैठें तो जीव दब जायेंगे। जो इस शरीरमें पड़े हैं वे मर जायेंगे। तो हिंसा हो जायगी ना? तब फिर कोई मुनि हिंसासे न बच सकेगा। उपवास किया तो चूँकि पेटमें बहुत कीड़े ऐसे हैं कि जो आहार बिना नहीं रह सकते, उनको तो तकलीफ होगी। फिर तो उपवास करनेसे कितने ही जीवोंकी हिंसा हो जायगी। फिर कहां पली अहिंसा? तो ऐसी शंका करने वालोंके लिए उसका उत्तर एक ही है। अपने चित्तमें विकार आये तब तो हिंसा है। जैसे मुनि महाराज चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्या समितिसे विहार करते हैं और बड़े यत्नसहित विहार करते हुए भी कोई छोटा जीव पैर तले आ गया। मर गया तो उससे हिंसा तो नहीं बतलाया मुनिको। तो क्यों नहीं बतलाया कि मुनिके हृदयमें विकार न था, कोई संकल्प न था, प्रमाद न था इसलिए हिंसा न रही।

गृहस्थकी क्रियावोंकी यत्नाचार सहितता—गृहस्थ भी यत्नाचार पूर्वक आरम्भका कार्य करते हैं जैसे दिनमें ही झाड़ू बोहारी करना, बर्तन धोना, भोजन बनाना, पानी भरना आदि। तो इन सब क्रियावोंको यत्नपूर्वक गृहस्थ कर रहा है और उस यत्नपूर्वक करते हुएमें कोई जीव आ गया तो भी

उसके संकल्पी हिंसा न रहीं। चूंकि आरम्भ करना स्वयं हिंसा है तो आरम्भी हिंसाका तो त्यागी नहीं होता गृहस्थ, परसंकल्पी हिंसा गृहस्थके नहीं लगती आरम्भ करनेमें, रोजिगार करनेमें। हां प्रमादसे करे और मरते हैं तो मरने दो, ऐसी भी चित्तमें बात आये तो उसे हिंसा हो जायगी। गृहस्थकी सारी क्रियायें यत्नाचार सहित हैं। ईंधन अग्निमें डालेगा गृहस्थ तो देखभालकर, घुनी न हो। कोई जीव जंतु न हो, कितने ही लोग शोधके भ्रममें आकर लकड़ियोंको धोकर जलाते, इसलिए कि हमारे शोधमें फर्क न आये। यह तो उनकी एक ज्यादाती है पर यह जरूर देखना चाहिए कि ईंधन घुना हुआ न हो, जीवजंतु न हो, हिंसा न हो। ओखलीमें कूटना पड़े तो उसे साफ करना, जो अनाज पीसना हो उसे शोधना, पीसने झाड़ने आदिके काम दिनमें देखभाल कर करना। कहीं जीवकी विराधना न हो जाय, यह बात उसके चित्तमें बसी हुई है, इस कारण उसके संकल्पी हिंसा नहीं हैं।

प्रत्येक ज्ञानी श्रावककी स्वयोग्य चर्या—देखिये श्रावका व्रत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों पाल सकते हैं। इन चारोंके ५ गुणस्थान हो सकते हैं। तो ये चारोंके काम जुड़े हैं। जब यह वर्ण व्यवस्था हुई तो इन कार्योंके आधारपर हुई। आज उनके कार्य उनके पास न रहे, ब्राह्मण हैं तो वे भी दुकान धंधा करते हैं, वैश्य हैं तो वे भी उपदेश, भाषण करते, कोई सैनिक भी बन गया। क्षत्रिय भी अन्य-अन्य काम करने लगे, पर प्रारम्भमें सबकी व्यवस्था यही थी कि क्षत्रिय लोग रक्षाका कार्य करें, उनके हाथमें शस्त्र होते थे, दुष्टोंसे धर्मात्मावोंको बचाया करते थे ब्राह्मण लोग शिक्षा देने, धार्मिक विधि विधान कराने, धर्मोपदेश देने आदिके कार्य करते थे। उस समय प्रायः सभी लोग जैन शासनके भक्त थे, और उन्हीं जैनोके ये चार विभाग थे। वैश्य व्यापारका काम करते थे, खेतीका भी और वाणिज्यका भी। और शूद्रजन शिल्पी और सेवाका कार्य करते थे। तो इन कार्योंको करते हुए सभीके सभी संकल्पी हिंसाके त्यागी थे। संक्लेशभाव करके लोभके वश होकर पापमयी आजीविका का उस समय कोई कार्य न करते थे।

ज्ञानी श्रावकोंकी आजीविकामें हिंसापरिहारक प्रवृत्ति—आज भी जिनको जैन शासनका श्रद्धान है वे न्यायनीतिके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते। जैसे क्षत्रिय कुलका धारक है तो वह दीनोंकी, अनाथोंकी रक्षा करता निर्बलोंको नहीं सताता, यह बात थी और अब भी हो सकती है। जो शस्त्ररहित पुरुष है उसको क्षत्रिय नहीं मारते। युद्धमें भी जो गिर जाय उसे नहीं मारते, जो पीठ फेरकर दीन होकर प्राण बचानेके लिए भगे, क्षत्रिय उसका पीछा नहीं करता। तो ऐसे कार्य करते हुए भी जैन शासनके भक्त न्यायनीतिको नहीं छोड़ते। किसीका धन लूटनेके लिए शस्त्र नहीं है, अभिमान या शत्रुतासे किसीको मारते न थे क्षत्रिय। देखिये जिसको ज्ञान है और श्रावक है उस क्षत्रियकी बात कही जा रही है। यदि शस्त्रसम्बन्धी सेवा नहीं कर रहे क्षत्रिय, यदि वे प्रजाके स्वामी नहीं हैं तो बिना काम वे शस्त्र धारण नहीं करते। देखिये शस्त्र धारण करते ही भावोंमें कुछ खोटापन आ जाता है। हाथ पर बंदूक ले ली जाय तो देखो फिर उस लेने वालेकी मुद्रा कैसी बन जाती है। तो जिनको कोई शस्त्र सम्बन्धी काम नहीं सौंपा गया, जो रक्षाके स्वामी नहीं, सेनामें नहीं, जो व्यवस्थाके जिम्मेदार नहीं वे हाथमें शस्त्र भी न लेते। और जिनके जिम्मे व्यवस्था है वे हाथमें शस्त्र लें तो उनके भाव खोटे नहीं होते, उनके भाव होते

अपना कर्तव्य निभानेके। तो क्षत्रिय शस्त्रधारी थे तो भी उनके संकल्पी हिंसाका भाव न था और जो वैश्य वर्णके थे वे कोई स्याही वाला काम करते थे लिखापढ़ीका, मुनीमगिरीका। तो उनके छल कपट नहीं था, सही लिखते थे, मालिकको धोखा नहीं देते थे। इस प्रकार सही आजीविका करते थे, क्योंकि उनके चित्तमें यह समाया था कि यह जीवन आत्माका धर्म पालनेके लिए है, बाह्य पदार्थोंका संग्रह करनेके लिए यह जीवन नहीं है। बाह्य पदार्थोंका संग्रह करले आखिर छोड़ना तो सब पड़ेगा। इसलिए यह भाव न रहना चाहिए कि मैं इतने धनका स्वामी बन जाऊं। आखिर वह स्वामी बननेसे लाभ क्या? समय आयगा, छोड़कर जाना पड़ेगा।

ज्ञानी श्रावकको कृषि कार्यमें भी संकल्पी हिंसाका अभाव—अनेकों बन्धु भी जो माली, जाट किसान आदिक कुलमें उत्पन्न हुए, जिनके और कोई आजीविका नहीं है, शिल्प नहीं जानते, सेवाकी ड्यूटी नहीं कर रहे, खेती करते हैं तो भी खेतीमें वे जीव दयाको नहीं छोड़ते। जो किसान श्रावक हैं वे खेतको जोतेंगे, कार्य करेंगे पर जितनी खेतीका परिमाण है या जितने खेव अपने पास हैं उनसे अधिक और भी बढ़ानेका परिणाम श्रावक किसानके नहीं होता, और वहां भी जितना बन सकता वह घटानेका प्रयत्न करता। वह अपने आपकी निन्दा ही करेगा कि मुझे यह कर्म परिस्थितिवश करना पड़ रहा है, इसमें अनेक जीवोंका विघात हो जाता है। यद्यपि उन जीवोंका घात करनेका मनमें रंच भी भाव नहीं है तो भी जानकारी तो है ही। तो वहां अपने भीतरमें निन्दा मानता रहता है यह श्रावक किसान खेतीमें कितना ही जल सींचना पड़ता नहरसे, कुवेंसे तो क्या वह जल छानकर सींचेगा? अरे इस तरहसे कहां सींच पायेगा। नहरसे नाली निकली है, उससे पानी जा रहा खेतोंमें, मगर वह अपने पीनेके लिए बिना छाना एक बूंद भी इस्तेमाल नहीं करता। उस किसानका संकल्पी हिंसाका त्याग रहता है और लोभके वश किसीने कहा कि हम तुमको इतने रुपये देंगे तुम वृक्षकी इन डालियोंको तोड़ दो तो वह नहीं तोड़ता। हां एक नौकरी हो, मजदूरी हो यह और बात है और एक अनर्थमें पाप करना यह और बात है। ऐसा वह लोभके वश भी न रहता। तो देखिये उस श्रावक किसानकी बात कि खेती करनेमें जीवघात होता है मगर एक भी जीवके मारनेका उसके संकल्प नहीं होता, और वह भीतर तो दयासे भरा हुआ है परिस्थिति ऐसी है कि पेट पालना होता है, अन्य कोई आजीविकाका कार्य नहीं है तो वह करता है मगर संकल्पी हिंसा उसमें रंच भी नहीं है।

भावोंपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—कोई एक धनिक पुरुष जो सोना चांदीकी दुकान करता हो और देखनेमें तो यों लगेगा कि इसमें हिंसाका क्या काम, किन्तु भीतरमें अगर भाव यह है कि उसमें खोटा अधिक मिला दें और यह ऐसा बिक जायगा तो बड़ा नफा होगा। तो देखो उसके भावोंमें हिंसा हो रही है। वहां तो हिंसा हो जायगी और संकल्पी हिंसा भी है कि दूसरेको धोखा देकर धन ऐंठ लूँ, मगर वह किसान श्रावक खेतमें इतनी हिंसा होते हुए भी वहां संकल्पी हिंसा नहीं चल रही। तो हिंसा और अहिंसाका निर्णय अपने भावोंसे चलता है, और जिस भावसे चलता है उसके अनुकूल प्रवृत्ति होती है, इसलिए द्रव्य हिंसाके आधारसे निर्णय दिया जाता है। जो पुरुष व्यापारका काम करता है वह न्यायपूर्वक व्यापार करता है। लोभ कषाय तो है ही मगर ऐसा तीव्र लोभ नहीं होता कि जो न्यायमार्गको

छोड़ सके। और उस व्यापारमें कितनी ही चेष्टायें करे मगर वह सब जगह अपनेमें निन्दा करता कि करना पड़ रहा है, ऐसी परिस्थिति है, पर मेरे करनेका काम तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रभाव है। ज्ञानी गृहस्थ वाणिज्यका कार्य करने वाला श्रावक उस वाणिज्यमें भी, व्यापारमें भी उसको घटानेकी बात सोचता है। बढ़ानेकी बात नहीं सोचता, क्योंकि उसका चित्त अपने आपके धर्ममें है। ऐसे ही जो शिल्पी अर्थात् सेवा करने वाले, शूद्र वर्णवाले हैं वे भी सर्व कार्य करते हुए भी आरम्भविषयक निन्दा करते, जिसे लोकमें कहते हैं कि करके भी नहीं करते। दयालुभावमें रहते हैं ये संकल्पी हिंसा नहीं करते। तो तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यको अपने आत्माका बोध हुआ है और जान गया है कि शान्ति मिलेगी तो आत्मस्वरूपके अनुभवमें मिलेगी, किसी बाह्यपदार्थके लगावमें शान्ति न मिलेगी। ऐसे विवेकी पुरुषको जब घरमें ही रहना पड़ रहा है तो घरके कामोंको करते हुए भी आत्माकी ओर झुका रहता है और कभी संकल्पी हिंसा नहीं करते।

हिंसासे हिंसकका बिगाड़—हिंसा करनेसे किसका बिगाड़ है? किसी जीवको मारा, पीड़ा दी, अन्याय किया, दबाव डाला तो ऐसे परिणामसे हिंसा किसकी हुई? जिसने दूसरेको घात, दूसरेको दुःख दिया, दूसरेको दबाया, अन्यायके भाव किया उसने अपने चैतन्यप्राणका घात किया, इससे पापबन्ध हुआ, उसके उदयमें उसको दुःख भोगना पड़ेगा। संसारका सही स्वरूप जाननेका यही फल है कि मेरेमें दुर्भाव उत्पन्न न हो, किसी भी प्राणीका बिगाड़ करनेका भाव न आये, ऐसी चर्या होती है अहिंसाणुव्रतमें। कषाय और योगके वश द्रव्यप्राण और भावप्राणका घात होना हिंसा है। द्रव्यप्राण तो कहलाते हैं ये ऊपरके इन्द्रिय, शरीर, कान, नाक आदिक और भाव प्राण कहलाते हैं—इन्द्रिय द्वारा ज्ञान कर रहे ऐसे क्षयोपशम मन, वचन, कायकी चेष्टाकी शक्ति। ये सब भावप्राण कहलाते हैं। तो दूसरेका भावप्राण बिगाड़ना, द्रव्यप्राण बिगाड़ना यह कषाय और योगसे किया गया, तो चूँकि कषाय चित्तमें आयी इस लिए हिंसाका पाप लगा। आज जो जीव यहां सुखी नजर आ रहे उन्होंने पूर्वभवमें किसी जीवको सताया नहीं, सबके सुखी होनेकी भावना की। उससे जो पुण्य अर्जन हुआ, उसका फल है कि आज सुखसामग्री मिली। और जो लोग आज दुःखी नजर आ रहे हैं उन्होंने किसी अन्य जीवको बाधा दी, दुःखी किया उसका फल है कि आज ये दुःखी नजर आ रहे। किसी एक पुरुषने हमसे एक प्रश्न किया था कि महाराजजी बताओ, लोग तो कहते कि जीवोंका घात करना बुरा है मगर देखा तो यह जा रहा है कि ज्यों ज्यों जीवोंका घात किया जा रहा त्यों त्यों उनकी संख्यामें वृद्धि होती जा रही। तो इसमें हम जीवघातको बुरा कैसे कहें? तो वहां आधुनिक ढंगका दिलचस्प उत्तर दिया कि भाई जिन्हें वह जीव बनना था वे तो बनेंगे ही, साथ ही जो उन जीवोंकी हत्या करने वाले हैं, उनके मांसका भक्षण करने वाले हैं, उन्हें नाजायज सताने वाले हैं वे भी मर मरकर वही जीव बन रहे, इसलिए उन जीवोंकी वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। उत्तर सुनकर वह चुप रह गया।

अविकार चित्स्वभावकी दृष्टि करके कषायसे दूर होनेमें ही कल्याण—भाई सुखका मौलिक उपाय तो है अपने आत्माके सहज-स्वरूपका ज्ञान, और उस ही आधार पर चूँकि सब जीवोंको अपने समान समझ लिया इस कारण किसी जीवको सतानेका भाव न होना यह अहिंसा है। जिसने

अहिंसाणुव्रतका पालन किया वह श्रावक सद्गतिको प्राप्त होता है। धर्ममार्गको प्राप्त होता है और निकट कालमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर वह मुक्त हो जायगा। यह संसारमें रहना मौजके लिए न मानें। यहांकी मौजमें क्या रखा? एक कल्पना भर करली कि हम बड़े सुखमें हैं। मानलो यह जीवन आत्माकी उपासनाके लिए है। सर्व पदार्थोंसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूं। मेरा मैं ही जिम्मेदार हूं। मेरे भविष्यका बतानेवाला मैं स्वयं हूं। जैसे भाव करूंगा वैसा मेरा भविष्य बनेगा। तो अपनेमें विकारभाव न आने दें वह है अहिंसा और विकारभाव आये तो वह है हिंसा। कषाय जगी तो हिंसा हो गई। किसीके प्रति कषाय मत जगे, क्रोध मत आये, किसीको निरखकर घमंड मत करें, किसीसे मायाचार छल कपट यहांकी वहां भिड़ाना ये सब बातें न करें। इसीको तो कहते हैं दोगला और चौगला। दोगला वालेके तो दो गले समझो याने एकसे कुछ कहा दूसरेसे कुछ कहा और चौगला वालेके चार गले समझो, एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा, चौथेसे कुछ कहा यह चौगला कहलाया। चौगला कहो या चुगला कहो एक ही बात है। तो ऐसे चुगलखोर, मायाचारी करने वाला व्यक्ति निरन्तर भयशील रहता है अपनी वृत्ति साफ होनी चाहिए। दुनियामें मेरा यश चलेगा या न चलेगा यह कल्पना तो फोकटकी बात है। अरे एक अपने चैतन्यकुलको पवित्र बना लीजिए, यहांकी बाहरी बातोंमें क्या रखा है? और धर्मबुद्धिसे रहेंगे तो बाहरी बातें भी भली ही होंगी। और फिर कोई पापका ही उदय ऐसा आजाय कि धर्मभाव करते हुए भी लोकमें निन्दा चहे, अपयश चले तो चलने दो, उसका दया भाव करना? ज्ञानी जीव अपने भावोंको नहीं बिगाड़ता। मुख्य उसका यह ही लक्ष्य है।

हिंसा और अहिंसाका मूल लक्षण—हिंसा और अहिंसाका मूल लक्षण यह है कि जहां रागादिक भाव उत्पन्न हों वह तो हिंसा है और रागादिक भाव न उत्पन्न हों तो वह अहिंसा है। अब हिंसा अहिंसाका आपेक्षिक वर्णन भी रागद्वेषवश ऐसी वृत्ति बने कि जीवोंका प्राणघात किया तो वह तो बहुत बड़ी तीव्र हिंसा है। और किसी जीवको बचानेका भाव किया, राग हुआ, उसका बचाव बनाया तो इस क्रियामें राग तो हुआ मगर तीव्र राग न होनेसे वह अहिंसा है और सूक्ष्मरूपसे अगर देखें तो इतना भी विकल्प हो तो उसमें अपनी हिंसा है। मगर इसे हिंसाका रूप देनेसे जो बड़ी हिंसा है उसका तो ख्याल भूल जाता है और स्वच्छंद बन जाता है। इस कारण जीवदयाको धर्म कहा है। अगर राग रंच भी न हो, जीवदया तकका भी परिणाम न आये, विकल्प न आये, इतना वीतराग बने कोई तो वहां होती है पूर्ण अहिंसा। तो रागद्वेष आत्मामें प्रकट न हों, अबुद्धि पूर्वक जो चल रहे उसपर हमारा क्या वश? कर्मका उदय निरन्तर चल रहा है जीवके, पर आश्रयभूत कारण बनेगा तो वह विकार प्रकट होगा और आश्रयभूत कारण न बने तो वे विकार भीतर आये, कर्मका उदय होनेसे। पर विकार प्रकट नहीं हो सकते। तो इतना उपाय बुद्धिपूर्वक विकारको हटानेमें होता है वह अबुद्धिपूर्वक होने वाला विकार खुद हट जायगा और प्रकट हो या अप्रकट हो। सभी विकारोंके हटानेका उपाय है आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करना। रागद्वेष न हो ऐसा ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी वृत्ति होना। मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, किसी अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। ऐसे सबसे निराले स्वतंत्र अंतस्तत्त्वमें जिसका उपयोग रमें उसके समाधिभावसे सारे विकार टल जाते हैं।

प्रत्येक गृहस्थको संकल्पी हिंसाका तो नियमसे त्याग करना ही चाहिए। नहीं तो हिंसककी भांति उसके हिंसाका पाप लगता ही रहेगा।

हिंसायतनोंसे अलग रहने व स्वच्छन्द प्रवृत्ति न करनेकी शिक्षा—देखिये—वास्तविकता तो यह है कि छोटी हिंसा हो या बड़ी हिंसा हो। कोई भी हिंसा परवस्तुके कारण नहीं होती। होती है अपने परिणामसे। तो भी एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यमें न भला न बुरा, कोई परिणमन नहीं पहुंचता यह वस्तुका स्वरूप है। और इसी आधार पर देखिये कि जो हिंसा होती है उसका कारण कषायभाव है, परवस्तुके कारण हिंसा नहीं है। फिर भी कोई ऐसा सोचे कि जहां चाहे बैठो, उठो, रहो, जब परवस्तुके कारण हिंसा नहीं है तो हथियार लिए रहो, जहां हिंसा होती हो ऐसे स्थानपर खड़े रहो या जहां चाहे रहो, सो बात न करना चाहिए, क्योंकि ये हिंसाके आयतन हैं। उनके प्रसंगमें रहकर कभी खोटे परिणाम हो सकते हैं, सो यद्यपि किसी परवस्तुके कारण हिंसा नहीं होती, अपने ही भावोंसे, कषायोंसे हिंसा होती। तो भी परिणामोंकी निर्मलता रखनेके लिए हिंसाके साधनोंसे अलग रहना ही चाहिए। एक बात और भी ध्यान देने लायक है कि कुछ थोड़ा बहुत पढ़लिखकर मन चले लोग सब कहने लगते कि आत्मा तो अविकार है। वह तो अहिंसा स्वरूप ही है वह तो भगवान रूप है सो मेरेको कभी हिंसा लग ही नहीं सकती। मेरे भाव भी कषाय रहित हैं। सुन रखा है कि जीवका स्वरूप स्वभाव न प्रमत्त है न अप्रमत्त, न कषायसहित है, न कषायरहित है तो कषाय सहित तो स्वरूप है ही नहीं मेरा। मैं कषायसे रहित हूं, कषायसे दूर हूं इसलिए मेरेको क्या हिंसा लगेगी? ऐसा जानकर यथेष्ट अपनी प्रवृत्ति करता रहता है। जहां चाहे जाता है। तो वह क्या कर रहा है? निश्चयसे तो जान नहीं रहा पर मनमें सोच रहा कि हम निश्चयका आश्रय कर रहे। निश्चयसे तो जीवका स्वभाव है विकाररहित। पर कोई अपनी हालत भी ऐसी मानले कि मैं विकार रहित हूं तो यह तो उसकी भूल है। वर्तमान अवस्था तो विकार सहित है मगर मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव अविकार है, ऐसा समझना चाहिए था। मगर पर्याय रूपमें भी मैं अविकार हूं ऐसा मानकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है वह तो अपना विनाश कर रहा। चारित्रिका विनाश कर रहा तो उसके निरन्तर हिंसा ही हो रही। अज्ञान मिथ्यात्व तो उसके बराबर पड़ा हुआ है। यदि परिणाम रागद्वेष रहित हो गया तो फिर अभक्ष्य अयोग्य कार्योंमें क्यों लगता? धन परिग्रह आरम्भ आदिकमें कैसे प्रवृत्ति करता? तो जो हिंसासे विरक्त है वह हिंसाहोनेके कारणोंको दूरसे ही छोड़ेगा। तो यह ध्यान देना कि हम अपने परिणामोंमें हिंसासे विरक्त होना चाहते हैं। इस समय मैं विकाररहित नहीं हूं, स्वभाव अवश्य मेरा विकाररहित है।

भावके आधारपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—हिंसाका मूल आधार ये जीवके रागादिक भाव बन रहे हैं तो उसकी हिंसा है और रागादिक भाव न हों तो वहां अहिंसा है। इसी आधारपर देखिये—जगत्तमें कैसी घटनायें चलती हैं। कोई पुरुष किसीकी हिंसा नहीं कर रहा मगर हिंसाका फल भोग रहा, कर्मबन्ध हो रहा, इसका उदाहरण—जैसे तलवार बनानेवाले लोहार, उनका काम केवल तलवार बनाना है, वे कहीं किसीको मारने नहीं जाते मगर बनाते हुएमें उसकी धार देखते हैं। हां इससे कट जायगा जीव, इस प्रकारके उसके संकल्प चलते हैं। तो इस कारण आयुध बनाने वालोंके निरन्तर हिंसा चलती

बुद्धिपूर्वक चेष्टा भावानुसार होनेके कारण द्रव्यहिंसामें हिंसाकी प्रसिद्धि तथा भाव अशुभ न होनेपर अबुद्धिपूर्वक घटनामें हिंसाका अप्रभाव—भैया भावसे ही हिंसा है भावसे ही अहिंसा है। इस कारण ईर्यासमितसे चलने वाले मुनि यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले भव्यके चूँकि रागादिक भावोंका आवेश नहीं है इस कारण कदाचित् बाहर किसी जीवका प्राण भी चला गया तो भी उनके हिंसा नहीं होती। ऐसी बात सुनकर कोई यह सोचे कि मैं जीवघात करता रहूँगा और भाव हिंसा करनेके न बनाऊँगा तो ऐसा कभी होता है क्या कि वह समझकर जीवघात करे और भावोंमें रागभाव न आने दे? ऐसा नहीं संभव है इसी कारण बाहरी हिंसा देखकर भावहिंसाका अनुमान बनता है मगर पाप लगा भाव हिंसासे। भाव हिंसा जो नहीं कर रहा। जीवके घातका परिणाम जो नहीं बना रहा उसका हाथ कैसे छूटेगा किसी जीवका घात करनेके लिए? तो मूलभाव अन्दरका है कि जीवघात करना हिंसा है और अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें संतुष्ट रहना, लीन रहना यह अहिंसा है। तो यह सदगृहस्थ जिसने आत्म स्वरूपका परिचय पाया है उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ यत्नाचारपूर्वक होती हैं। श्रावक अवस्थामें अनेक आरम्भके कार्य करके भी यह गृहस्थ संकल्पी हिंसाका दोष नहीं करता और अपने हृदयको स्वच्छ रखता। सर्व जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना निरन्तर बनाये रहता। ऐसे सदगृहस्थ श्रावकके अहिंसाणुव्रतका पालन होता है।

विकारकी निवृत्तिमें अहिंसाधर्मका पालन—श्रावकके बारह व्रतोंमें अहिंसाणुव्रतका कथन चल रहा है। अहिंसा नाम है विकारके न होनेका। जीवमें रागद्वेष काम आदिक कोई विकार हुआ कि वहाँ हिंसा हो गयी। किसकी हिंसा हो गई? खुदकी। तो यदि कोई जीव रागादिकके वश है। प्रमाद सहित प्रवृत्ति करता है। उसका चलना उठना, बैठना, सोना, उसकी इस प्रवृत्तिमें चाहे कोई जीव न भी रहे तो भी उसकी निश्चित हिंसा ही है, क्योंकि परिणामोंमें विकार है। आत्माकी सुध नहीं, शरीरमें ममत्व है इसलिए अयत्नाचार है, उस जीवके हिंसाका बंध आगे-आगे चल रहा है अर्थात् हो रहा है। जो जीव कषाय सहित होगा, विकारभाव करेगा, किसीको मारनेका परिणाम करेगा तो पहले तो उसने अपने आपको ही मार लिया, पापबंध किया, अपनी सुधछोड़ी, आकुल व्याकुल हुआ, पश्चात् उसपर जीवकी द्रव्य हिंसा हो या न हो, यह तो उसके कर्मके आधीन है, पर बुरा विचारने वालेने अपने आपकी हिंसा कर ही ली। इससे अपने आपपर एक दया रखें कि किसी जीवके प्रति दुर्भाव न आये। सब जीव सुखी हों, किसीका बुरा न हो, ऐसा परिणाम रखिये अपनी रक्षा है इस परिणाममें। तो यह हिंसा त्यागने योग्य ही है। जैसे अहिंसाणुव्रतमें बताया है कि त्रसकी हिंसाका तो त्याग करना ही और बिना प्रयोजनस्थावरकी हिंसाका भी त्याग करना। यह प्रवृत्ति प्रत्येक गृहस्थको चाहिए ही। यदि कोई हिंसाका तो त्याग नहीं करता और चाहे कि हमसे हिंसा न हो तो भी उसके भावमें त्याग न होनेसे निरन्तर हिंसा ही चल रही है, क्योंकि कषायभाव बना है और इसी कारण उसके संस्कारमें बसा हुआ है। कोई सा भी मौका आगया तो हिंसा कर सकता है। या न भी करे तो यह दृढ़ता चित्तमें क्यों नहीं आती कि जीवोंकी हिंसा करना खोटी बात है उसका त्याग, नियम, प्रतिज्ञा होनी ही चाहिए। तो संकल्पी हिंसाके त्यागमें आपको जीवनमें क्या कष्ट पड़ेगा? किसी भी समय कोई दुःख आ ही नहीं सकता है। तो

रहती है। और बाहरमें किसीकी हिंसा वह कर नहीं रहा। स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बहुत बड़ा मत्स्य रहता है जिसकी लम्बाई एक हजार योजन, चौड़ाई ५०० योजन और मोटाई २५० योजन है। चार कोशका एक योजन। ऐसी अवगाहना सुनकर अचरज न करें या शंका न रखें, कारण यह है कि आप यहीं देखलो जो छोटी छोटी तलैया हैं उनमें मछली छोटी होती हैं, जो बड़े तालाब हैं उनमें मत्स्य बड़े मिलते हैं और आज भी जो बड़े समुद्र हैं उनमें सुना है कि मीलों लम्बी मछलियाँ होती हैं। अब जो स्वयंभूरमण समुद्र इतना बड़ा है कि जितना परिमाण उसका है उतने परिमाणमें असंख्यात द्वीप समुद्र आ गए। तो इतने बड़े समुद्रमें एक मच्छ है, दूसरे वह सम्पूर्णजन्म वाला है, बड़ा कूड़ा करकट पड़ा है, मिट्टीका ढेरसा लगा है या अन्य वस्तुवें मिली हैं बस वही मच्छरूप परिणम जाता है। इतनी बड़ी अवगाहनाका मच्छ स्वयंभूरमण समुद्रमें रहता है और वह मुँह बाये पड़ा रहता है, जिसके मुखमें हजारों मछलियाँ आती-जाती रहती हैं किन्तु उस महामत्स्यके कानमें, आंखमें एक तंदुलमत्स्य रहता है और होते हैं ये सब मन वाले, तो वह विचार करता है कि यह मत्स्य बड़ा मूर्ख है, मुख बाये पड़ा रहता है, इसके मुखमें हजारों मछलियाँ आती जाती रहती हैं तो भी उन्हें यह खाता नहीं है। इसकी जगहपर अगर मैं होता तो इनमेंसे एकको भी न बचने देता, ऐसा भाव बनाता है। अब देखिये हिंसा तो वह न कर सका किसी भी मछलीकी मगर महापापका बंध करता है।

भावोंके आधारपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—देखिये यह प्रकरण कई दिनसे चल रहा है, इसमें ऊबनेकी बात यों नहीं कि समस्त धर्मपालन अहिंसाके आधार पर है और अपनेको प्रेरणा मिलनी चाहिए कि जब छोटे भाव होनेसे ही हिंसा होती है और उन छोटे भावोंसे लाभ कुछ नहीं मिलता, तो उन दुर्भावाँसे बचना चाहिए। और भी देखिये—दयालु पुरुष अथवा डॉक्टर समझ लीजिए। दयावश होकर दूसरेका आपरेशन कर रहा है, एक जीवन बचानेके लिए सारा प्रयत्न कर रहा है और कदाचित् उसी प्रयत्नमें वह रोगी मर जाय जो उस डॉक्टरको किसीने हिंसक नहीं कहा, और गृहस्थजन भी मंदिर बनवाते, अनेक धर्मायतन बनवाते तो आखिर बनवानेमें किसी न किसी रूपमें हिंसा तो चलती है, कहां तक जीवोंको बाधासे बचायें, किन्तु वहाँ परिणाम धर्मके हैं सो उनके करते हुए भी उनके बराबर पुण्यबंध चल रहा, क्योंकि यत्नाचारपूर्वक वे करते हैं। और भावोंमें केवल प्रभुकी भक्ति है। तो भावोंके अनुसार देखिये एकको हिंसा हो रही फिर भी हिंसाका बंध नहीं और एकको हिंसा नहीं हो रही फिर भी हिंसा है, पाप लग रहा। और भी देखिये—हिंसा तो करेगा अल्प और रागद्वेष अगर तीव्र है तो उसके उदयकालमें बड़ा फल पायगा। एक तुलना करो। राजाको किसीपर थोड़ा भी क्रोध आये तो वह जज चाहे दो चार तमाचे उसके जड़ सकता है और एक छोटा आदमी किसी कारणसे राजापर बैर बांधने लगे और इस भावमें आये कि मैं इस राजाको कभी मारूँ चाहे एक दो ही थप्पड़ मारूँ, तो उसको उसके मारनेका उपाय बनानेमें, संक्लेश करनेमें कई महीने निकल जाते हैं तब कहीं वह एक दो थप्पड़ मार पाता है। तो यहां विचार करो कि पापका बंध अधिक किसको हुआ? एक थप्पड़ मारने वालेको या बहुत...? राजाने मानो बहुत पीड़ा दी हो तो भी हृदयमें उसके कषायकी मंदता है, उतनी तीव्रता नहीं और एकने बड़ा तीव्र संक्लेश किया महीनों तब जाकर एक दो थप्पड़ मार सका। तो कोई अल्प

हिंसा कर पाता मगर पाप अधिक बांधा । तो बाहरी हिंसाके आधारपर हिंसाका निर्णय नहीं है किन्तु उस पुरुषके भावोंके आधारपर हिंसा और पापबंधका निर्णय है ।

हिंसाफल भोगनेकी विचित्रताके परिचयसे भावहिंसामें ही हिंसापनेका निर्णय—ऐसी भी घटना बन जाती कि हिंसा तो कर पायेंगे बादमें और उस हिंसाका फल भोग लेगा पहले ही । जैसे एक मुनष्य किसीको जानसे मारनेका इशदा किए हुए है उसे महीनों गुजर गए । निरन्तर संक्लेश बना हुआ है तो जबसे वह हिंसाका भाव कर रहा, पाप बंध तो तब ही से चल रहा है । हिंसा कर पायगा ६ माह बाद और पापबंध किया उसने ६ माह पहले । तो उस एक बंधके थोड़े दिन बाद फल भी मिल सकेगा । तो हिंसा कर सका बादमें और उस हिंसाके भावके कारण फल भोग लिया उसने पहले । तो भावोंसे ही हिंसा चली तब ही तो यह घटना बनी । कोई तुरन्त उस हिंसाकाफल पाता, जैसे किसीको मार रहा और वह भी उसी प्रसंगमें मर गया । कोई बादमें फल पाता । किसीको मारा तो उस मारने वालेको किसी दूसरेने मारा । पर हिंसा सबकी उस ही समय लगती है जिस समय वह खोटे परिणाम करता है । और भी देखिये हिंसा करने वाला तो एक है और फल भोगने वाले अनेक हैं, ऐसी भी घटनायें होती हैं । जैसे किसी चोरको, हत्यारेको फांसी दी जा रही है तो फांसी देने वाला तो एक है—चाण्डाल या फांसीका हुक्म देने वाला राजा और तमाशा देखने वाले सैकड़ों हजारों लोगोंकी भीड़ लगी है वहां यदि उन सबने समर्थन कर दिया तो उन सबने पापका बंध किया । और कहो हिंसा करने वाले अनेक हैं और फल भोगेगा एक । जैसे एक घटना लो कि राजाने किसी बड़ी सेनाको मारनेका हुक्म दिया और सेना भिड़ गई है, सबका सफाया कर रही है । तो देखिये सीधे मारने वाले तो हैं हजारों लोग मगर उसका पाप मुख्य रूपसे लगेगा राजाको, जिसकी आज्ञासे वह हिंसा हुई । यद्यपि मारने वालोंके भी जितने अंशमें परिणाम थे उतने अंशोंमें बंध उनके हुआ, पर मुख्यता देखिये—वे सेनाके लोग तो अपना कर्तव्य निभा रहे हैं, पर जिसने आर्डर दिया पाप उसको लगा । तो ऐसा चूंकि भावोंके आधार पर ही हिंसा है तो उस हिंसा और अहिंसाके विषयमें अपेक्षासे निर्णय किया जाता है । पर जो एकान्तकी हठ करे कि बाहरमें किसीकी हिंसा हो वहां हिंसा है तो वह हिंसाके निर्णयको नहीं पा सकता ।

अहिंसक होनेके अभिलाषियोंको जीवस्थान आदिके विज्ञानकी व तत्त्वज्ञानकी अनिवार्य आवश्यकता—जिनको हिंसासे विरक्त होना, है अहिंसक जीवन बनाना है उनका काम है कि तत्त्वज्ञान करें, अपने आत्माका स्वरूप पहिचानें और इसकी तरह सर्व जीवोंका स्वरूप जानें । और कहां-कहां जीव हुआ करते हैं, किस किस आधारमें जीव रहा करते हैं उन जीवसमासोंका भी ज्ञान होना चाहिए । कितने ही लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि जो जान रहा है कि जीव यहां है और वह उसका घात करे । प्रमाद करे तभी तो हिंसा लगनी चाहिए । और जिसको पता ही नहीं है कि जलमें जीव है, जल खुद जीव है और वह अनछना जल पिया करे तो उसको हिंसा न लगना चाहिए । कुछ लोग ऐसा सोचते हैं, पर बात यों नहीं है । अज्ञानका बड़ा पाप होता है । मिथ्यात्व और अज्ञानये सहयोगी चीजें हैं । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका जो द्रव्यप्रवर्तन है अथवा उनका भाव है उससे भी अधिक मोह पाप मिथ्यात्वका होता है क्योंकि वहां आत्माकी सुध नहीं । जीवका ज्ञान नहीं । तो अज्ञान भावमें

कोई बच सके पापसे, यह बात नहीं है, किन्तु उसके तो निरन्तर पाप चल रहा है। बाह्य जीवोंकी हिंसा करने वाला तो जब हिंसा कर रहा, भाव कर रहा तब ही पाप है, लेकिन जिसके मिथ्यात्व अज्ञान बसा, मिथ्यात्व बसा उसके तो निरन्तर पापका बंध चलता है इसलिए तत्त्वज्ञान करना, जीवोंके रहनेके स्थान जानना और हिंसासे विरक्त रहना। तो यहां यह कहा जा रहा कि त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो पूर्णतया किया जाय, संकल्पी हिंसाका तो पूर्णतया त्याग किया जाय और बिना प्रयोजन स्थावरकी हिंसा न करें। ऐसी वृत्ति प्रत्येक गृहस्थकी होनी ही चाहिए और चलनेमें, उठने बैठनेमें, प्रवृत्ति करनेमें दयाभाव रखें तथा यत्नाचार किया जाय।

साधुताकी अतीव मोटी एक पहिचान—साधु लोकमें अनेक तरहके पाये जाते हैं। जैसे कि लोक व्यवहारमें कहा जाता है सन्यासीजन कपड़ा पहिनने वाले अथवा कैसे ही हों, जिन्हें लोग साधु कहते व्यवहारमें उन साधुओंकी एक मोटी पहिचान बतला रहे कि इनमें थोड़ा बहुत साधुपना है या नहीं मोटी पहिचान यह है कि वे जूता पहने हुए न मिलेंगे। बहुत सीधी पहिचान बतला रहे। आप कहेंगे कि जूतेमें ही कौनसी बात हो गई? तो देखिये—जूता पहिनने वाले सन्यासीजन देख भालकर न चलेंगे। जीवोंकी रक्षा करते हुए न चलेंगे, उनके परिणाम इस ओर न आयेंगे और एक अभिमानभाव रहेगा, ऊंची दृष्टि करके चलेंगे, और आप सब जगह परख भी लीजिए, जो भी इन बाह्य भावोंकी ओर इतना आकर्षित है उसको आत्माकी सुध कहां है? वहां यत्नाचार नहीं है।

धर्मसाधनाके विचारसे नंगे पैर गमन करनेमें भलाई—यहां धर्मसाधनके प्रसंगमें जीवदयापर ध्यान दीजिए, समझ लीजिए कि मानो मंदिर पास है। रोज आप मन्दिर आते हैं और जूता पहिनकर मन्दिर जायें तो अपने परिणामोंमें दृष्टि दीजिए कि क्या आप जीव रक्षाका भाव रखते हुए चलेंगे? कमसे कम मन्दिर आने तक तो जीव रक्षाका परिणाम होना ही चाहिए। इतनी ही ईर्यासमिति सही, पर इसके अतिरिक्त और भी देखिये—जूता उतारकर नीचे रखकर दर्शन करने गए, अब नये जूते हैं तो बारबार उनका ख्याल बीच-बीचमें आयगा। एक बार अम्बालामें एक ब्राह्मण पंडितने शास्त्रसभामें कहा कि जो लोग जूता पहिनकर मंदिर जाते हैं वे एक बार तो भगवानको नमस्कार करते हैं और एक बार जूतोंको नमस्कार करते हैं। जैसे दर्शन करते हुएमें कहते हैं ना “त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वमम देवदेव।” हे देव तुम्ही हमारी माता हो यह तो मानो भगवानके लिए कहा, और तुम्ही हमारे पिता हो यह मानो जूतोंके लिए हो गया। क्योंकि जूतेकी तरफ दृष्टि करके कहा ना। ऐसे ही भगवानके लिए तुम्ही हमारे बंधु हो, जूतोंके लिए और तुम्ही हमारे सखा हो ... मानो वह भक्त एक बार तो भगवानको नमस्कार करता और एक बार जूतोंको। यह हालत होती है जूता पहिनकर मंदिर आनेमें। और फिर एक प्रभावनामें भी कमी आयी। नंगे पैर मन्दिरमें आते हुएमें देखने वाले लोग भी बहुत प्रभावित होंगे, वे भी कहेंगे कि देखो यह इतने बड़े आदमी होकर नंगे पैर जा रहे तो मन्दिर ही जा रहे होंगे। तो नंगे पैर चलना प्रभावनाकी दृष्टिसे भी उत्तम है। तो इसका ध्यान रखना चाहिए कि कोई जूता पहिनकर मन्दिर न आयें। हां किसीका मकान मानलो मंदिरसे ज्यादा दूर पड़ता है, जूते पहिनने ही पड़ जायें तो उनकी बात और है। मगर

मंदिरके निकट ही यदि घर है तो उन्हें अवश्य नंगे ही पैर मंदिर आना चाहिए। नंगे पैर आनेसे कमसे कम कंकड़ पत्थर, गोबर, मिट्टी या कीड़ा मकोड़ा आदिसे बचकर चलनेके बहाने दृष्टि नीचेकी ओर तो रहेगी। नीचेकी ओर दृष्टि रहनेसे जीवोंकी देखभाल कर तो चलेंगे। वहां जीव रक्षाकी बात बन जायगी। तो ऐसे अनेक कार्योंमें यत्नाचार रहना चाहिए जिससे जीव हिंसाका बचाव हो और अपनेको किसी भी प्रकार उसमें दोष न आये।

छेदनबन्धनपीड़नमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।

आहारवारणापि च, स्थूलवधादव्युपरतेः पञ्च ॥ ५४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचारोंमें प्रथम व द्वितीय अतिचारका निर्देश—श्रावकके अणुव्रतमें क्या-क्या दोष लगा करते हैं जिन दोषोंको टालना चाहिए। उन दोषोंका इस गाथामें वर्णन है। (१) पहला अतिचार है छेदन, मनुष्य तिर्यञ्चके कान, नाक आदिक छेदना यह छेदन नामक अतिचार है। भला बताओ पशुवोंकी नाक जो छेद डाली जाती है उसे वे पशु चाहते हैं क्या कि मेरी नाक छेदी जाय? अरे वे नहीं चाहते, उनके पीड़ा होती है। पर चूँकि बध नहीं किया, पीटा नहीं, थोड़े समयकी बात है इसलिए इसे अतिचारमें गिना है, अनाचारमें नहीं गिना पर यह अतिचार भी न करना चाहिए। मनुष्योंके भी किसी बातमें अंग छेद दे तो वह भी अतिचार है। अब एक प्रश्न आता है कि छोटी बच्चियोंके जो कान नाक छेदे जाते बारी, बाला आदिक पहननेके लिए सो वह कैसे रहेगा, अतिचार या अनाचार या निर्दोष? इसके अनुसार तो अतिचार ही है। क्या जरूरत पड़ी है कि कान, नाक छेदे जायें, पर एक शृङ्गारके लिए छेदे जाते हैं। और उस समय उस बच्चीको शायद उमंग भी नहीं होती कि मुझे छेदा जाय, तिस पर भी कुछ थोड़ा विचारणीय होता क्योंकि अनेक बच्चियां चाह करके भी छिदातीं, पर अंगोंके छेदनेमें अतिचार दोष है। (२) अहिंसाणुव्रतका दूसरा अतिचार है बांधना—लोग गाय, भैंस आदिकको बांध देते हैं तो उस बंधनमें भी उन्हें कष्ट होता है। पिंजड़ेमें तोता मैना आदिक चिड़ियोंको रोक देना यह बंधन अतिचार है। यहां थोड़ा इतना फर्क जानना कि मनुष्योंको बांध देना, उन्हें कारागारमें रोक देना यह तो अतिचार है ही पर थोड़ा गाय, भैंस आदिकके सम्बंधमें प्रश्न रह जाता है। उन्हें बांधे बिना तो नहीं सरता। बांधते ही हैं। उनका इतना ख्याल रखना कि दृढ़ बंधनसे न बांधना। बांधना तो गृहस्थको पड़ता ही है, पर ऐसा बंधन बांधना कि कोई उपद्रव आ जाय, सांप निकल आये या अग्नि लग जाय तो वह उस बंधनको तोड़कर अपने प्राण बचा सकता हो। ऐसे बन्धनको बांधनेकी तो विवशता है, पर दृढ़ बन्धनसे बांधनेमें दोष है, क्योंकि अग्नि आदिकके लग जाने पर उसका प्राणघात हो सकता है। एक घटना है सागरकी। उन दिनों हम वहीं पढ़ते थे, वहां एक सिंघई जी के घर एक बड़ा सुन्दर घोड़ा था, वह सभीको बड़ा प्यारा था। उसको एक बड़े अच्छे कमरेमें बांधा जाता था और बंधता था सांकलसे। समयकी बात कि एक बार वहां आग लग गई और वह घोड़ा वहीं जलकर मर गया। तो यह बंधन भी अहिंसाव्रतका अतिचार है।

अहिंसाणुव्रतका तृतीय व चतुर्थ अतिचार—तीसरा अतिचार है पीड़न—मनुष्य, तिर्यञ्च

आदिकको लात, तमाचा, लाठी आदिकसे पीड़ा देना यह पीड़न अतिचार है। देखते हैं कि बैल, झोंटा, घोड़ा आदिक पशु गाड़ीमें जुतते हैं। बड़ा बोझ उनपर लादा जाता फिर भी वे मारे पीटे जाते हैं। यह अहिंसाणुव्रती श्रावक भी यद्यपि गाड़ी बैल सब रखता है फिर भी उनका पीड़न नहीं करता। (४) चौथा अतिचार है अतिभारारोपण—मनुष्य और तिर्यञ्च पर अधिक बोझ लादना, गाड़ी आदिक पर अधिक बोझा लादना यह अतिभारारोपण नामका अतिचार है। जितनी सामर्थ्य है गाड़ीवान जानते हैं उससे भी कम लादना यह तो गृहस्थीमें निभ जायगा अहिंसाणुव्रतमें, पर उसपर अधिक बोझ लादना यह दोष है। (५) पांचवां अतिचार है अन्नपान निरोध। मनुष्य या तिर्यञ्चको खाने पीनेको रोक देना, समयपर न देना, समय लम्बा भूख प्यासमें बिताना यह अन्नपान निरोध नामका अतिचार है। जिस श्रावकने अहिंसाणुव्रत धारण किया है वह इन ५ अतिचारोंको टालता है।

अहिंसाणुव्रतकी पूरक प्रथम, द्वितीय व तृतीय भावना—अहिंसाणुव्रतको निर्दोष पालनेके लिए भावनायें उत्तम होनी ही चाहिए जिन भावनाओंके अभ्याससे यह अहिंसाव्रत भलीभांति पले। तो उसके लिए ५-५ भावनायें प्रत्येक व्रतकी बतायी गई हैं। सूत्रजीमें इसका सूत्र है और ये भावनायें श्रावकके लिए भी काम करती हैं और मुनि महाराजके महाव्रतके लिए भी काम करती हैं। भावना भानेसे व्रतोंमें दृढ़ता होती है, वीतरागतामें वृद्धि होती है, खोटे ध्यान दूर हो जाते हैं। आत्मानुभवकी अभिमुखता बनती है। भावना एक ऐसा वैभव है जीवका कि जिसके प्रसादसे ही यह अपने आपकी उन्नति कर लेता है। अहिंसाणुव्रतकी ५ भावनायें हैं जिनमें (१) पहली भावना है मनोगुप्ति। मनको वश करना, जहां मन स्वच्छंद है वहां हिंसाके भाव बन जाते हैं, प्रमाद हो जाता है व्रतोंमें शिथिलता हो जाती है। तो तत्त्वज्ञानके अभ्यासपर अपने मनको वशमें रखना, ऐसी भावना करना और ऐसे पौरुषका यत्न करना यह मनोगुप्ति भावना है। जब मन वश हो तब विकार न जगेगा। दूसरेके सतानेके भाव न होंगे। उसके अहिंसा होना सुगम है। अहिंसाव्रतकी दूसरी भावना है वचनगुप्ति। वचनको वश करना, मौन रखना यह अहिंसाणुव्रतका साधक है। जिन लोगोंको अधिक बोलनेकी आदत है उनके पद-पद पर ऐसे वचन निकलते हैं कि जिनसे शर्म आये पछतावा आये, उपद्रव आये, दूसरोंकी नजरसे गिर जाय। जो कम बोलता है उसको भली-भांति सोचनेका मौका मिलता है और उसके जो भी वचन निकलेंगे वे प्रामाणिक सही निकलेंगे। अपनेको आपत्तिसे बचाने वाले निकलेंगे। इस कारण जिनके वचनगुप्ति है उनके अहिंसाव्रत भलीभांति पलता है। सो वचनको वश करना, कम बोलना ऐसी भावना अहिंसाणुव्रतकी साधक है। (३) तीसरी भावना है ईर्यासमिति—देखभालकर चलना, सर्व जीवोंका हित चिंतन रखते हुए चलना, अनेक प्रक्रियायें जो चेष्टायें करें गमनागमन करें उनमें सावधानी बरतें और सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखें। हरी बचाकर चलें, कीचड़ बचाकर चलें, चढ़ें उतरें देखभाल कर। अपने हाथ पैर फैलायें, पैर पसारें, पैर सिकोड़ें, सब कुछ देखभालकर करें। कोई मानलो नहीं गमनागमन कर रहा। बैठे ही बैठे पैर पसारना सिकोड़ना कर रहा और वह भी बिना देखे शोधे कर रहा, वहां भी जीव हिंसा सम्भव है और जहां प्रमाद है वहां तो जीव हिंसा है ही, चाहे दूसरे जीव मरें अथवा न मरें। तो ईर्यासमिति अहिंसा व्रतकी तीसरी भावना है।

अहिंसाव्रतकी पूरक चौथी व पांचवी भावना—अहिंसाव्रतकी चौथी भावना है आदान निक्षेपण समिति—श्रावकको तो अनेक वस्तुवें धरने उठानेका काम पड़ता है। साधुजनोंको पिछी कमण्डल शास्त्र ये धरने उठानेके काम होते हैं, अथवा अंग झाड़ना, देखकर बैठना, बस इतने ही उनके कार्य है। वह वहां सावधानी रखते हैं। श्रावकके कामोंकी गिनती नहीं है। अन्न, पान, कपड़ा, आसन, शैय्या, काठ पत्थर, बर्तन, आदिक अनेक प्रकारकी चीजें जो जो भी धरता उठाता है, घरमें है उनको यत्नसे उठाता। यत्नसे रखता, जिसमें जीवघात न हो ऐसा पौरुष करता, ऐसा भाव रखता। जिन क्रियावोंसे दूसरे जीवोंको संक्लेश न हो ऐसी प्रवृत्ति करता। कोई चीज घसीटना नहीं, उठाकर रखना, वजनदार हो तो किसी दूसरेको बुलवाकर उठा लेना, मिल जुलकर उठा लेना, पर घसीटनेसे यह सम्भव है कि किसी जीवका घात हो जाय। ऐसे यत्नाचार पूर्वक वस्तुवोंको धरना उठाना और ऐसी ही भावना बनाये रहना यह अहिंसा व्रतकी साधक भावना है। (५) पांचवी भावना है आलोकितपान भोजन—देखो शोधा हुआ ही भोजनपान करना यह कैसे निभे? दिनमें ही खाये पिये तो निभे। पहली बात, क्योंकि दिनके प्रकाशमें इस प्रकारका सामर्थ्य है कि वहां जीव जन्तुवोंको विकास नहीं होता। उजेलेमें खाना, आंखोंसे देखभालकर खाना, बराबर शोधकर खाना, धीरतासे कौर उठाकर खाये, हापड़ धूपड़ न करे, जल्दी-जल्दी न गुटके खाये, ये सब बातें यत्नाचारकी हैं। तब आलोकित भोजनपान बनता है। इसके अतिरिक्त भोजनकी शुद्धि हो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यता अयोग्यताको जानने वाले पुरुष योग्य देखकर भोजनपान करते हैं। तो भोजनपानमें भी जीव हिंसाके बचानेका यत्न होना यह ५वीं भावना है। यह प्रकरण श्रावकके अहिंसाणु व्रतका है। जैसे सर्वपाप हिंसामें गर्भित हैं। झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह पाप बांधनेसे विकार ही तो बने और विकार ही हिंसा हैं। तो सभी पाप हिंसा ही कहलाते हैं, इसी प्रकार जितने भी व्रत शील हैं उनमें विकारसे हटना यह ही तो प्रयोजन है। इसीके लिए किए जाते हैं सो वे सब भी अहिंसामें ही गर्भित समझिये तो अहिंसाव्रत शीलोंका आधार है इसी कारण यह इतना लम्बा वर्णन चल रहा है।

हिंसा पापसे होनेवाली विपदावोंका निर्देश—जो अहिंसाणुव्रत नहीं पालता है, हिंसा करने वाला है वह कितना कष्ट और संकटमें रहता है यह बात देखी अनुभवी है और युक्तिसे सिद्ध है। हिंसा करने वाला जीव निरन्तर भयवान रहता है। उसका दिल कमजोर हो जाता है। भले ही अनेक क्रूर लोग ऐसे हैं कि जो प्रकट रूपमें ऐसा महसूस न करें, पर उनके दिलमें कमजोरी आ ही जाती है। आखिर वे भी खुद जीव हैं और दूसरे जीवोंका घात करें तो वहां भी उनका दिल अन्दरमें गवाही सा नहीं देता पर कषाय मिथ्यात्व इतना तीव्र है कि वह उसमें अपना सुख और भला मानता है, पर हिंसा करने वाला भयवान रहता है। जब भारत और चीन या जापान आदि देशोंमें युद्ध हुआ तो वहां आप लोगोंने भी यह जाना होगा कि जिनकी सेना केवल मांस पर ही आधारित रहती थी और क्रूर चित्त था, अनेक हिंसायें करते थे उनमें इतनी शूरता न रही और जहां शाकाहारका अधिक प्रचार था ऐसे भारतकी सेनाने कैसी वीरतासे कार्य दिखाया, यह उस समयके समाचारोंसे आप लोगोंने जाना होगा। तो मांसभक्षी हिंसक पुरुष शूरवीर नहीं हो सकते। शाकाहारी दिल मजबूत होता है, शूरवीर होता है,

इसको तो आजके डॉक्टर भी बतायेंगे कि जो दूसरे जीवोंका मांस भक्षण करता है उसमें (१) एक तो दिल बलवान नहीं रहता, (२) दूसरे जिन जीवोंको मारा गया वे जीव अनेक भवपर्यन्त बैरके संस्कारसे बदला लेंगे, ऐसी अनेक पुराणोंमें बात है, और यहाँ भी बताते हैं कि कोई किसी सांपको छेड़ दे, दुःखी करे तो वह सांप बारह वर्ष तक उसे खोजकर उसके निकट पहुंचकर अपना बदला चुकाता है। तो ऐसी ही सभी जीवोंकी बात है कि वे बैर संस्कारके कारण भव भवमें दुःखी किया करते हैं। (३) तीसरी बात—वे बैर संस्कारसे तो दूसरोंको दुःखी करें सो तो ठीक है किन्तु उसके कुटुम्बीजन, मित्रजन भी उससे बैर मानते हैं। उसका प्राणघात करते हैं। यह तो मनुष्योंकी बात है, पर तिर्यज्ज्वोंमें भी उनके ऊपर जो लाठी, पत्थर, शस्त्र आदिक बरसाते हैं वे तिर्यज्ज्व भी उसे नहीं छोड़ते। कभी वही बैल, झोंटे अपने मालिककी भी जान ले लेते हैं। जब तक वे विवश हैं तब तक सहते रहते हैं मालिक द्वारा अपघात, पर जैसे ही उनको मौका मिलता कि वे अपने मालिक पर हमला कर देते हैं। अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलते हैं। (४) चौथी बात—हिंसा करने वाले की जगतमें निन्दा रहती है, यह कसायी है, हत्यारा है, पापी है आदि। और उसकी प्रतीति कोई नहीं करता, क्योंकि उसका चित्त क्रूर हो गया है। सब सोचते हैं कि कहीं यह मेरे प्रतिपक्षी बरताव न कर डाले। (५) पांचवी बात—इस लोकमें राजा उसे दण्ड देता है। हाथ पैर छेद दे और उसका सर्वस्व हरण करले, और-और प्रकारके दण्ड दे, गधे पर बैठाकर नगरमें घुमाये, यों कितने ही दण्ड उसे इस भवमें भी भोगने पड़ते हैं। (६) छठवीं बात—जो दूसरेकी हत्या करता है उसको अनेक कुगतियोंमें बहुत कालतक परिभ्रमण करना पड़ता है। नरकोंके तो बहुत कठिन दुःख हैं। एक नारकी दूसरे नारकी को देखते ही जैसे एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर आक्रमण करता है ऐसे ही वे भी आक्रमण करते हैं। वहां बंधुताका नाता नहीं चलता। मानलो पूर्व भवका कुटुम्बी ही नरकमें पहुंच गया हो तो वहां वह पिछली बातें उल्टे रूपमें सोचकर उसपर आक्रमण करता है। जैसे मां ने पूर्वभवमें अपने बेटेकी आंखोंमें सलाईसे अंजन लगाया था, सो लगाया तो था उसके भलेके लिए मगर वह नरकोंमें सोचता कि इसने मेरी आंखोंमें सलाई डालकर मेरी आंखें फोड़नेका, प्रयत्न किया था ... यों उल्टा चिन्तन चलेगा। और जिस किसी भी नारकीने देखा, सब उसके लिए दुश्मन है और सभी पर आक्रमण होता है।

हिंसाभावसे स्वयंका घात—भैया, अनेक प्रकारके कष्ट उस हिंसाके कारण इस जीवको हुआ करते हैं, यह जानकर हिंसाका भाव छोड़ना चाहिए और दयाका भाव लाना चाहिए। दयाका भी क्या भाव है? सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखना है, समानताका भाव लाना है। जैसा मैं हूं वैसे ये हैं और इस समानताके भावके साथ उनकी सेवा करना, उनका दुःख दूर करना ये सद्गृहस्थके कर्तव्य होते हैं। जो श्रावक अहिंसा व्रतका पालन करते हैं उनकी चर्या शान्त, गम्भीर धीर होती है। प्रभु भक्तिमें उनका समय विशेष व्यतीत होता है और ऐसे ही मंद कषाय वाले मनुष्य मरकर सद्गतिमें जाते हैं, विदेह क्षेत्रमें पहुँचें तो वहां उसी भवमें मुनिव्रतकी साधना करके निर्वाण भी प्राप्त कर लेते हैं। तो देखिये किसीका बुरा सोचनेमें इस आत्माको कितना कष्ट होता है? जहां विकार भाव आया, दूसरेका अहित सोचनेकी बात मनमें आयी उसी समयसे यह निज भगवान आत्मा दुःखी होता है, दबता है,

इसका घात होता रहता है। शान्तिका भंग हो जाता है और दूसरेका हित विचारनेसे इसके मनमें उमंग रहती है। जो किसी सभामें या समूहमें किसी मनुष्यको गाली देने या निन्दा करनेका बड़ा विचार करे तो उसे किसीको खड़ा कर दिया जाय कि अब फलाने चंदजी आपका परिचय देते हैं तो प्रशंसाकी बात करनेमें उसे कितना कष्ट उठाना पड़ता है पहले तब कहीं वह निन्दा के वचन निकाल पाता है। और किसी की प्रशंसाके लिये किसी को खड़ा कर दिया जावे कि अब फलाने चंद्र जी आपका परिचय देते हैं तो प्रशंसाकी बात करने में उसे कितना सुखका अनुभव होता है। वह कष्ट नहीं अनुभव करता, पर किसी पुरुषकी निन्दा करनेके लिए कोई खड़ा हो जाय तो उसे बड़ा व्यग्र होना पड़ता। तो ऐसा कार्य क्यों किया जाय जिसमें खुदको दुःखी होना पड़े, भविष्य भी सारा बिगड़ जाय, ऐसे हिंसाके कार्यसे बचना और अहिंसक वृत्तिसे अपना निभाव करना।

आत्मस्वभावके अनुचिन्तनमें अहिंसाका विकास—अहिंसामें सर्व प्रधान बात तो यह है कि अपने आत्माके सहज स्वरूपको जानें कि मैं चैतन्यमात्र हूं। अपने उपयोगमें इस चैतन्यस्वरूपमात्रको बसायें, जो परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है उस विषयको उपयोगमें लें और इस ढंगसे उपयोगमें लें कि वे विकल्प भी छूटकर यह शुद्धनयमें आये। शुद्धनयमें परमशुद्ध निश्चयनयका विषय तो आता है पर इस ढंगसे आयगा कि ये विकल्प भी मिट जायेंगे और आत्माका अनुभव करने लगेगा। तब तक इसका परमशुद्ध निश्चयनयका जो विकल्प है तब तक वह अनुभवमें नहीं उतरा हुआ है। यह विकल्प भी शान्त होता है तो वहां वह शुद्धनयका आलम्बन करता है। तो आत्मस्वभावका आलम्बन करनेसे अहिंसाव्रत भली भांति पलता है। कोई विकार ही नहीं है, पर जो इस अनुभवमें न हो तो वह क्या करें, किस तरहकी चेष्टायें करे उसका ही वर्णन चरणानुयोगमें चलता है। तो जैसे ५ भावनायें की गई थीं उनको चित्तमें रखें तो अहिंसाव्रतका पालन सुगम हो जाता है।

जैन शासनके भक्तोंके अहिंसाणुव्रतके पालनकी सुगमता—मन, वचन, काय, इनकी चेष्टा हिंसाका आधारभूत बनती हैं, सो स्वभाव चिन्तन द्वारा ऐसी निश्चलता लाना चाहिए कि मन, वचन, कायका हलन चलन न हो, अथवा अव्यक्त रहे बुद्धि पूर्वक न चले, और कभी चेष्टा करनी ही पड़े तो दूसरे जीवोंका घात न हो और कोई चेष्टा मुझसे ऐसी न बन जाय कि उससे मेरेको पछताना पड़े और मेरे पर ही कोई आपत्ति आ जाय। कोई बदला चुकानेका भाव करने लगे तो ऐसा अपना और दूसरोंकी दयाका भाव रखते हुए सद्गृहस्थ अपनी सारी चर्या अहिंसाके रूपसे व्यतीत करता है। जैन शासनमें रहने वाले लोगोंको तो यह बहुत ही सुगम है, मंदिर आते हैं तो देखिये वह कितना पवित्र स्थान, जहां हिंसाकी रंच भी बात नहीं दिखती, जहां फूल तकका भी प्रयोग नहीं, जहां सचित्त हरी तक भी नहीं चढ़ाई जाती, एकेन्द्रिय तककी हिंसा टाली जा रही है वह कितना पवित्र स्थान है और ऐसे जिन शासनके भक्तोंके घर भी देख लीजिए कैसा साफ शुद्ध हिंसारहित घर होते हैं, क्योंकि उनको यह शिक्षा दी जाती है कि घरमें कूड़ा करकट गंदगी न रहने पाये नहीं तो उसमें जीवोंकी उत्पत्ति हो जायगी। हिंसा बन जायगी। सो वे साफ घर रखते हैं। यों ही सारी बातें आप अहिंसा प्रधान पायेंगे। तो जैन शासनमें

अहिंसाका पालना तो बहुत ही सुगम है और अहिंसाके प्रतापसे इस भवमें भी शान्ति रहती है और अगला भव भी उत्तम बनेगा।

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।

यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणं ॥ ५५ ॥

सत्याणुव्रतसे सम्बन्धित श्रावक व्यवहार—इस छंदमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बताया गया है। जो स्थूल असत्य तो नहीं बोलता और दूसरेसे भी असत्य नहीं बुलवाता और जिस वचनसे अपने पर या दूसरे पुरुषपर आपत्ति आये ऐसा सत्य भी न कहना, उसे सज्जन पुरुष स्थूल झूठका त्याग कहते हैं। गृहस्थके सत्याणुव्रत होता है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक किसी कारणवश ऐसे वचन न कहना जिससे दूसरेका घात हो जाय। दयासे भरा हुआ है यह ज्ञानी गृहस्थ इस कारण उसके वचन ऐसे न निकल सकेंगे जिन वचनोंके द्वारा दूसरेका घात हो सके। ऐसे भी वचन न बोल सकेगा ज्ञानी गृहस्थ जिन वचनोंसे दूसरोंका अपवाद अथवा उस पर कलंक लगे। प्रथम तो यह बात देखिये कि इन व्यर्थकी बातोंसे क्या प्रयोजन है? दूसरेका घात हो, अपवाद हो, नीचा देखना पड़े ऐसे वचन बोलनेकी अटकी क्या है। पर जिनके कषाय तीव्र हैं वे पुरुष अट्ट सट्ट बोला करते हैं। उनका चित्त दूषित है। कोई दूसरा जीव तड़फ रहा हो उसमें भी वे हर्ष मानते हैं। तो ऐसे पुरुषोंके लिए कहा है कि वह सब उनकी दुर्गतिकी निशानी है अपना भला व्यवहार रखना चाहिए। सद्गृहस्थ ऐसे भी वचन न बोलेगा जिनसे दूसरेका मिथ्या श्रद्धान हो, जो धर्मसे चिग जायें, जिनकी वृत्ति संयमसे शिथिल हो जाय। जैन शासनके भक्त अपने वचनोंपर ऐसा नियंत्रण रखते हैं कि वचन वही निकलें जिनको सुनकर दूसरोंको शान्ति मिले, हितके मार्गमें लगे, कहीं वे व्रत शीलसे भ्रष्ट न हो जायें ऐसे नियंत्रित वचन होते हैं सद्गृहस्थके।

ज्ञानी जनोंके सत्यव्यवहारका मूल आधार यथार्थ आत्मपरिचय—जो ज्ञानीजन हैं, जिन्होंने सब जीवोंमें अपने आपके स्वरूपके समान स्वरूप देखा है वे जानते हैं कि इस जीवका बिगाड़ है विषयोंकी प्रीतिसे। ५ इन्द्रियके विषय हैं पांच—(१) स्पर्श सुहा जाना, (२) रस सुहा जाना, (३) गंध सुहा जाना, (४) मनोहर रूप प्रिय लगना, और (५) राग भरे शब्द सुहा जाना। ये विषयोंके अनुराग कहलाते हैं। इन अनुरागोंसे यह जीव अपने आत्माकी सुधसे च्युत हो जाता है और बाह्य विषयोंमें लग जाता है। इससे इस भगवान आत्मापर विपत्ति होती है। सद्गृहस्थ ज्ञानी पुरुष ऐसे वचन न बोलेगा जिन वचनोंसे कलह बढ़ जाय अथवा दूसरेका विषयोंमें अनुराग बढ़ जाय। जैसे कि अनेक मित्र दूसरोंको समझाते हैं, ऐसा खावो, ऐसा बनावो, सनीमा देखो, और और भी गंदी बातें—यहां चलो, ऐसी बातें कहकर विषयोंमें उन्हें फंसाते हैं, ये सब मोहियोंके कर्तव्य हैं। ज्ञानी गृहस्थ ऐसे सद्वचन बोलेगा कि जिससे विषयोंसे प्रीति हटकर यह धर्म मार्गमें लगे और अपने अन्दरमें वास्तविक शान्तिका अनुभव करें। सत्याणुव्रतमें सद्गृहस्थ कैसा वचन व्यवहार करता है उसकी यह चर्चा चल रही है। ऐसा वचन व्यवहार न करना चाहिए कि जिससे दूसरे लोग बड़े आरम्भमें फंस जायें। देखिये पुण्योदयसे वैभव मिलता है और अनेक साधन मिलते हैं, पुण्यरस है उसके पास अतएव उनकी व्यवस्था बनाना आसान

रहता है। पर कोई जानबूझकर तृष्णा बढ़ाकर जबरदस्ती बड़े आरम्भमें पड़ता है। तो चूँकि इतना पुण्य वैभव नहीं है सो वहाँ अनेक विपत्तियाँ आती हैं और अनेक दुःखोंका सामना करना पड़ता है। धर्म मार्गमें रहें और सहज जो बने उसकी व्यवस्था बनाइये, यह तो गृहस्थके लिए उचित बात है। मगर कोई ऐसे वचन सुनकर जिससे कि बड़े आरम्भमें फंस जाना, आरम्भमें उलझ जाना यह अपने समग्र जीवनको उल्ला देना है। सद्गृहस्थ ऐसे वचन न बोलेगा जो किसीको बड़े आरम्भमें फंसा दें। धर्मकी बातमें उसका उत्साह बने इस प्रकार का वचन बोलेगा गृहस्थ। गृहस्थकी वाणी प्रामाणिक होनी चाहिए तब ही वह ज्ञानी गृहस्थ कहलाता है। जो लोग रंच लोभके पीछे वचन बोल दें। अपनी प्रतीति खतम कर दें तो वह उनका ओछापन है और जीवनमें कभी सफल नहीं हो पाते। सद्गृहस्थ ज्ञानीके वचन प्रामाणिक होते हैं और किसीके लाभमें अन्तराय आये ऐसा वचन ज्ञानीका नहीं बनता।

सद्वचन बोलनेका आधार सर्वसुखभावना—सब जीवोंके लिए सुखकी भावना रखता है ज्ञानी। भला किसीको दुःख हो जाय तो उससे इस आत्माकी क्या उन्नति हो जाती है। किसीके दुःखी होनेकी भावना चित्तमें न रखना, चाहे किसीने कितना ही बिगाड़ किया हो उसके लिए भी दुःखी होनेकी भावना न करना। सही जानना आवश्यक है, सभी जीव अपने-अपने भावोंके अनुसार कर्मबंध करते हैं। उसका फल पाते हैं। उसमें मेरा अधिकार क्या है। मैं किसीको सुखी भी नहीं कर सकता और किसीको दुःखी भी नहीं कर सकता। मगर सुखी होनेकी भावनामें आत्माकी भलाई है। और किसीको दुःखी करनेकी भावनामें आत्माका अकल्याण है। गृहस्थजन कभी निन्द्य वचन न बोलेंगे और ऐसे सत्य वचन भी न बोलेंगे जिसके बोलनेसे दूसरेका घात हो जाय, बिगाड़ हो जाय। देखिये वचन बोलनेका उद्देश्य क्या है कि शान्ति मिले, भला हो, उन्नति हो, और कोई वचन ऐसा कदाचित् सत्य घटनाका भी हो कि यदि बोलनेसे दूसरेका घात होता है तो भी सत्य वचन न बोलेगा, कारण यह कि जीवकी भलाईका भाव भरा हुआ है गृहस्थके। जैसे एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई कसाई किसी गायको वध करनेके लिए ले जा रहा था, किसी तरहसे रास्तेमें वह गाय उससे छूट गई और जान बचाकर भगी। कुछ दूर निकल गई। अब वह लोगोंसे पूछता फिरे कि किधर गई। अब वहाँ किसी ऐसे व्यक्तिसे भी पूछा जिसने देखा था जाते हुए सो उसके मनमें आया कि यदि मैं इस जगह सही बोलता हूँ तो इस गायकी हत्या हो रही है इसलिए उसने यही कहा कि मैंने तो नहीं देखा कि किधर गई। यहाँ उसका झूठ बोलनेका प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन है जीव रक्षाका। तो ज्ञानीजन ऐसा सत्य भी नहीं बोलते कि जिसमें किसी जीवका घात हो। ये मर्मछेदी वचन भी नहीं बोलते जिनसे दूसरोंके हृदयमें चोट पहुँचे। जैसे की नीच कुल वाले लोगोंमें देखा होगा कि बड़ा खोटा वचन व्यवहार करते हैं, गाली गलौच करते हैं। जगह-जगह जो झगड़े होते हैं वे आखिर किस बातसे होते हैं? बस मर्मछेदी वचन बोलने पर लड़ाई झगड़े होते हैं।

सबके प्रति हितरूप प्रशंसात्मक शब्दके बोले जानेपर शान्तिके वातावरणका अभ्युदय—यदि सबके चित्तमें यह बात बैठ जाय कि दूसरेकी प्रशंसाके वचन बोलें तो देखो वहाँ कितना शान्त वातावरण हो जाता है। और अगर भीतर कषायकी गंदगी भरी है तो वहाँ बड़े खोटे गाली गलौचके

वचन व्यवहार होंगे। वैसे यहां गालीके जो शब्द प्रसिद्ध हैं उनमेंसे कोई भी शब्द खराब नहीं है। उन शब्दोंका अर्थ बहुत ऊंचा है। पर वह गुण जिसमें हो नहीं और उसे कह दिया जाय तो उसे खराब जैसा ही लगेगा। आप कोई भी शब्द गालीका ले लो, उसका अर्थ बड़ा ऊंचा निकलेगा। सर्वप्रथम गाली शब्दको ही ले लो, गालीका अर्थ गा ली, क्या गाली? यश कीति, प्रशंसा। तो गाली शब्द स्वयं बड़ा ऊंचा है। जैसे कहते नापुंगा, लफंगा, उच्चका आदि, ये ही तो सब गालीके शब्द हैं। अब इनका अर्थ देखलो—पुंगा, पुंगा नाम है भगवानका। आप सब लोग भगवानको पुंगा बोलते ही हैं। अब कोई पुंगा अर्थात् भगवान तो है नहीं और उसे पुंगा कह दिया जायतो उसे गाली समझ लेंगे। लफंगाका अर्थ है लफ गये हैं अंग जिसके अर्थात् बहुत विनयशील। उच्चका शब्द जो बिगड़कर बना है उसका शुद्ध शब्द है उच्चकः, जिसका अर्थ है—सबसे ऊंचा, अर्थात् भगवान। अब ये सब गुण जिसमें पाये न जायें उसके लिए बोलें जायें तो उसे गाली जैसे लेंगे। ऐसे ही गालीका कोई भी शब्द ले लो उसका अर्थ बड़ा ऊंचा है। अब एक शब्द गालीका बहुत प्रसिद्ध है—तेरी ऐसीकी तैसी हो जाय, तो इसका सही अर्थ क्या है, इसका अर्थ हमारी समझमें यह आया कि जैसा आत्माकी प्रकृति स्वभाव है वैसी परिणति हो जाय। अब वैसा हो पाता नहीं इसलिए उसे गाली जैसी लगती। मेरे ख्यालसे इस शब्दका अर्थ इस प्रकारसे शायद ही कोई समझता हो सभी लोग इस शब्दको सुनकर गाली समझते। तो गालीका कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका खराब अर्थ हो, मगर चूँकि रूढ़ि हो गई ऐसी कि कह तो रहे अच्छी बात और मान रहा कोई बुरी बात, तो उसे भी न बोलना चाहिए। जिन वचनोंके बोलनेसे दूसरेको तकलीफ पड़े वे वचन क्यों बोले जायं? जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए शास्त्रोंके अनुकूल ही वचन बोलना। ऐसे वचन बोलना कि जिससे न्यायरूपी आजीविका सिद्ध हो, यह सब सदगृहस्थका सत्याणुव्रत है। अब सत्याणुव्रतमें कौनसे दोष याने अतिचार हैं जो गृहस्थको नहीं लगने चाहिए उनका वर्णन करते हैं।

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च ।

न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य ॥ ५६ ॥

सत्याणुव्रतका प्रथम अतिचार परिवाद—सत्याणुव्रतके ५ अतिचार हैं। (१) पहला अतिचार है परिवाद, मिथ्या उपदेश करना। स्वर्ग और मोक्षका कारणभूत जो चारित्र्य है उसका अन्य प्रकार उपदेश देने लगना, यह है परिवाद नामका दोष। ऐसा भी होता है कि यह भी निभेगा, शिथिलताकी बात बताना अथवा जैसे जीवदया करना है तो यह आत्माका विकारभाव, मगर हिंसा, झूठ आदिक जितने बड़े विकार होते हैं उनसे हटे और जीवके स्वरूपपर दृष्टि गई और उस समय दयाका भाव आया तो यह तो इस भूमिकामें कर्तव्य है लेकिन चूँकि जीवोंकी दया करना, इसमें यह आत्मा स्वभावमें मग्न नहीं होता अतएव वह आत्मधर्म नहीं कहलाता है उसके बाबत एक साधारणतया ऐसा एकान्ततः प्रसिद्ध करना जिससे कि लोग विचलित भी हो जायेंगे तो ऐसे कोई जीवदयाकी उपयोगिता न बताकर एकान्तसे यह अधर्म है, पाप है, संसार है, विकार है ... वर्णन करना यह तो एक परिवादका ढंग है। वहां तो

दृष्टिकी अपेक्षा देकर समझाइये कि भाई इस भूमिकामें ऐसा जीवदयाका भाव होना भला है और यह परम्परया उन्नतिका साधन है, पर जीवके जो स्वभाव मग्नताकी दशा है उसमें जीवदयाका भी विकल्प नहीं रहता है। वह शान्त निराकुल निर्विकल्प रहता है इसलिए निर्विकल्पकी स्थिति अत्यन्त उपादेय है। यों न समझाकर उसे किसी कषायवश जानकर बोलना यह परिवादका ढंग है। और ऐसे वचन जो कि संयम चारित्रमें बाधा डालें वे सब सत्याणुव्रतमें दोष हैं।

सत्याणुव्रतके रहोभ्याख्यान व पैशून्य नामके द्वितीय व तृतीय अतिचार—सत्याणुव्रतका दूसरा अतिचार है रहोभ्याख्यान। कोई भी स्त्री पुरुष एकान्तमें किसी रहस्यकी बात कर रहे हों, जिस बातको वे छिपाकर बोल रहे हों उसे किसीने कदाचित सुन लिया और यह फिर दुनियामें प्रकट करे तो यह सदगृहस्थका कर्तव्य नहीं है। प्रथम बाततो यह समझिये कि धर्म करना और अपनी आजीविका गुजारेके लिए बनाये रहना, इन दो के अतिरिक्त आपको तीसरी बातकी क्या जरूरत पड़ी है? व्यर्थकी कलह करना, अथवा यहां वहांकी बातें सुनना, इन बातोंमें कोई लाभ नहीं है। ऐसा जिसका हृदय बन गया उसे कुछ नहीं समझाना पड़ता। उसका वचन व्यवहार सही ढंगसे ही निकलेगा। तीसरा अतिचार है पैशून्य, जिसे कहते हैं चुगली करना। दूसरेका दोष जानकर उसका बिगाड़ करनेके अर्थ किससे छुपकर कह देना यह पैशून्य अतिचार है। अरे एककी बात दूसरेसे बोल दिया तो इसमें खुदको भी हैरान किया और दूसरोंको भी हैरान किया, बताओ उसमें फायदा क्या निकला? तो यह पैशून्य सत्याणुव्रतका अतिचार है। चाहे दूसरेकी सही बात ही क्यों न हो पर उसको किसी दूसरेसे कहनेका प्रयोजन ही क्या पड़ा था। साथ ही यह भी कह देते कि देखो हमारी यह बात किसीसे कहना नहीं। पर यह तो बताओ कि जो बात आपके पेटमें नहीं रुक सकी उस बातको वह दूसरा अपने पेटमें रोक सके इसका आप ठेका ले सकते क्या? तो यह सत्याणुव्रतका अतिचार है।

सत्याणुव्रतके कूटलेखकरण व न्यासापहारिता नामके चतुर्थ व पञ्चम अतिचार—सत्याणुव्रतका चौथा अतिचार है कूटलेखकरण। दूसरेका बिना ही आचरण किया हुआ झूठा लेख लिख देना। देखिये है तो यह बहुत बड़ा दोष, मगर वह ऐसा सोच ही तो रहा, ओंठसे तो नहीं बोल रहा, मनमें ही तो बोल रहा, अरे यह तो बहुत बड़ा दोष है। अथवा कोई कुत्सित बात लिख देना कूटलेखकरण है। पांचवा अतिचार है न्यासापहारिता कोई मनुष्य किसीके पास धरोहर रख जाय मानलो ४ रत्न रख गया था और कुछ दिन बाद आकर कहे—भैया हमने जो तीन रत्न आपके पास धरोहर रखे थे उन्हें दे देना, और वह कहे हां हां, खुशीसे ले जाइये, अब यदि एक रत्नको वह न बतावे, याने यह न कहे कि आपने तो चार रत्न धरे थे और तीन ही रत्न उसे दे दे तो वह न्यासापहारितादोष है। अब कोई कहे कि उसने वहां कोई अपशब्द तो नहीं बोला, किसीका दिल दुःखाने वाला शब्द नहीं बोला फिर भी उसे दोष कैसे लगा? सो बात नहीं है। वहां भी दोष है। उस दोषका नाम है न्यासापहारिता दोष।

जिह्वा सदुपयोगकी मस्ती आश्यकताका सयुक्तिक कथन—देखिये—यहां इस जीवकी पहली स्थितिपर आप विचार करें, यह जीव सबसे पहले अनन्तकाल तक निगोदमें रहा, जैसे छहढालामें कहा है ना—“एक श्वांसमें अठदश बार, जन्मो मर्यो भर्यो दुःख भार।” निगोदजीव क्या होते हैं?

एकेन्द्रिय और साधारण वनस्पति । जो पकाने खानेमें हरी आये वह वनस्पति है, उनमें भी किसी किसीमें निगोद जीव भरे रहते हैं, पर निगोद जीवका शरीर सूक्ष्म होता है, और न कुछ जैसी उनकी दशा समझिये । उनको काहेका ज्ञान ? निगोदमें रहकर हम आपका अनन्तकाल व्यतीत हुआ, और वहांसे निकले तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति हुआ । वहां जिह्वाका संयोग न मिला । एकेन्द्रिय जीव उसे कहते हैं जिसमें सिर्फ एक ही इन्द्रिय हो, रसना न हो । और इन्द्रिय तो होगी ही क्या ? तो बिना जिह्वाके इस जीवका एकेन्द्रिय स्थावरोंमें जन्म मरण चलता रहा । सुयोगसे दो इन्द्रिय जीव हुए, शंख कोड़ी इनमें रहने वाले जीव ये दो इन्द्रिय कहलाते हैं । तो दो इन्द्रियके जीव तो मिली मगर उस जीवसे लाभ क्या ? फिर कुछ और विकास किया तो तीन इन्द्रिय जीव हुए, फिर चार इन्द्रिय हुए, फिर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए वहां भी जीव तो मिली मगर उससे फायदा क्या ? आपने देखा ही होगा कि ये गाय, बैल, भैंस या सिंह, व्याघ्र, हस्ती आदिक, पशु अनेक प्रकारकी बोलियां बोलते हैं मगर वे चें चें बांय बांय करते रहते, कोई भाषा रूपमें उसका बोल नहीं निकलता । तो उनकी उस वचन वर्गणासे बोल तो निकला मगर उसका कोई अर्थ नहीं निकलता । जब कुछ और विकास किया तो बड़ी मुश्किलमें यह मनुष्यपर्याय मिली । इसमें हम आप वचन बोलें, अपने हृदयकी बात दूसरेसे बता सकते, दूसरेके हृदयकी बात खुद समझ सकते, इसका साधन है वचन । ये वचन हम आपको बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुए । यदि ऐसे दुर्लभ वचनोंको यों ही गमा दिया जाय बुरे वचन बोलकर, दूसरेकी पीड़ा वाले वचन बोलकर यदि इनको यों ही खो दिया जाय तो यह समझ लीजिए कि मानों ये कर्म यह कहते कि मैंने तुझे ऐसी जिह्वा दी, पर तुझे उसकी जरूरत न थी, तूने उस जिह्वाको पाकर उसका दुरुपयोग किया । तुझे उसकी जरूरत नहीं है तो अब आगे तुझे जिह्वा न मिलेगी, मायने फिरसे वही दुर्गति होगी ।

अपनी रक्षा व स्वानुभवकी पात्रता बनाये रहनेमें सदगृहस्थका वचन विषयक कर्तव्य— देखिये अपना शुद्ध मन करें, अच्छे वचन बोलें जिसमें अपनेको प्रसन्नता हो, हित मिले, यह तो जीवनमें लाभदायक है और मानो गुस्सा रहकर मन बिगाड़ लिया, ऐसी ही आदत बनाली तो उस समय या तो छोटे वचन बोलेगा या दूसरेसे मुख फेर लेगा, तो उसकी इस चेष्टासे न तो उसे खुद आनन्द मिलेगा और न उसके द्वारा किसी दूसरेको आनन्द मिलेगा । तो अपना वचन व्यवहार ऐसा रखिये कि जिससे खुदको भी आनन्द मिले और दूसरोंको भी । यह सदगृहस्थका कर्तव्य है । एक नीतिमें कहा है—वचनेका दरिद्रता, याने वचन बोलनेमें क्यों दरिद्रताकी जाय ? क्या प्रयोजन है । अरे भाई यदि कुछ धन खर्च करनेकी बात आ जाय तो उसमें तो कुछ सोचा विचारी भी करना, मगर मुफ्तमें मिले हुए इस वचन धनका तो सदुपयोग कर ही लेना चाहिए । अपना वचन व्यवहार ऐसा ही होना चाहिए कि जिसको सुनकर किसी दूसरेको पीड़ा न पहुंचे । खुदको भी आनन्द मिले और दूसरे भी आनन्द पावें, ऐसा अपना वचन व्यवहार रहे तो इसमें अपनी रक्षा है और निकट समय स्वानुभव पासके यह इसकी पात्रता रहती है ।

सत्य व्रतके पालनके लिये कषायके यथोचित परिहारकी आवश्यकता—सत्याणुव्रतके विरुद्ध जो अपनी चर्या रखता है, झूठ बोलनेकी आदत, दूसरोंको सताये जाने वाले वचन बोलनेकी

आदत । जिनके निन्द्य वचन निकलते हैं उनका परभव बहुत खोटा होता है । मनुष्य हो तो नीच चाण्डाल, कषायी, गूंगा, बहिरा आदिक अनेक प्रकारकी दुर्दशायें पाता है, और जिनको सत्यका आदर है वे सत्य वचनके प्रभावसे इस भवमें भी आदर पाते हैं । उनका ज्ञान बढ़ता है और वे निकट कालमें ऋषिमुनि होकर भगवान भी होते हैं । तो सत्यका आदर रखना सदैव सुखकारी होता है । असत्य वचन बोलनेका कारण है प्रमत्तयोग, कषायभाव । जैसे जिस घड़ेमें दुर्गन्धकी चीज बसी है उस घड़ेके मुखसे क्या निकलेगा ? दुर्गन्ध ऐसे ही जिसके चित्तमें कषाय बसी है उसके मुखसे क्या निकलेगा ? खोटे वचन । तो असत्यका कारण कषाय है और कषाय ही जीवको दुःखदायी है । सो मूलसे यह ही प्रयत्न करें कि ये कषायभाव न रहें । किसी पर क्रोध क्यों जगता ? कोई चीजका लाभ होना या न होना यह तो कर्मके आधीन है पर दूसरेपर क्रोध क्यों किया जा रहा ? क्रोध करके वर्तमानमें पाप बढ़ाया जा रहा । घमंड किस बात पर बगराया जा रहा जिससे कि खोटे वचन निकलें ? इस जगतमें कौनसी ऐसी पदवी है जो इस जीवके लिए सारभूत हो ? राजा महाराजा बन गए तो क्या, पंडित बन गए तो क्या, नेता भी हो गए तो क्या ? करोड़पति हो गए तो क्या ? यहांकी कोई बात सारभूत नहीं । ये सब दुःखरूप हैं । फिर किस बात पर घमंड करना जिससे कि दुर्वचन निकलें । मायाचारकी बात जब चित्तमें होती है तो दूसरेका चाहे घात हो, चाहे अपमान हो, ऐसे वचन निकला करते हैं । किसलिए मायाचारीकी जाय ? कौन सी वस्तु ऐसी है जो पाने योग्य हो, जिससे भला हो, समस्त परवस्तुवें अत्यन्त भिन्न हैं । किसी भी अन्य वस्तुका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं, फिर क्यों मायाचार करना ? लोभ कषाय भी क्योंकी जाय ? जो आज परिग्रह जुड़ा है, अव्वल तो वह अनर्थ है । जुड़ा है तो पुण्योदयसे जुड़ा है । आपने जो कभी पुण्य कार्य किया था, परोपकारमें धन लगाया था, उससे बंधा हुआ पुण्यकर्मका जो एक खजाना है उससे पता नहीं कब कहाँसे किस बहानेसे वह धन आ जायगा फिर लोभ किस बात पर करना ? किसी दूसरेसे व्यापारादिकमें असत्य वचनका किसलिए प्रयोग करना ? क्यों लोभ किया जाय ? उदय है तो होगा, नहीं है तो कितना ही प्रयत्न करें नहीं होगा । तो कषायभाव चित्तमें न रहें तो असत्य वचन हटेंगे और सद्वचन निकलेंगे ।

सत्यव्रत पालनके लिये क्रोध त्याग नामकी प्रथम भावना—गृहस्थके चूँकि भोगोपभोग आजीविका साथ लगी है इसलिए सदोष वचन होते हैं फिर भी वह न्यायमार्गके विरुद्ध दूसरोंको पीड़ा करने वाले वचन नहीं बोलता । उसके सत्याणुव्रत है । सत्यव्रतका सही पालन हो इसकी ५ भावनायें तत्त्वार्थ सूत्रमें कही गई हैं । उनमें (१) पहली भावना है क्रोधत्याग । जिसके क्रोधपर नियंत्रण है, त्याग है वह पुरुष सत्य वचन बोल पाता है । क्रोधमें कुछ न कुछ असत्य वचन निकल जायेंगे, क्योंकि दूसरेका बिगाड़ करनेका भाव है क्रोधमें । तो बिगाड़ वाले वचन बोलनेके लिए असत्यका भी प्रयोग होता है इसलिए मेरे क्रोध न जगे ऐसी भावना होना चाहिए । और ऐसा प्रयोग करे कि चित्तमें क्रोध न आये तो सत्यव्रतका निर्वाह हो सकता है । (२) दूसरी भावना है लोभ त्याग । लोभके वश असत्य वचन बोले जाते हैं । तो भेदविज्ञान करके स्वरूपकी समझ बनाकर चिन्तन करें किस वस्तुका लोभ करना ? प्रत्येक पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुड़े हैं । और किसी भी परपदार्थसे मेरा कुछ भी हित नहीं है । किसका

लोभ करना जिससे कि असत्य वचन निकलें ? तो लोभ त्यागकी भावना रहेगी तो सत्य वचन निकलेंगे । ये क्रोध और लोभदो कषायें हैं असत्य वचनमें लगानेमें कारण । कभी कोई बाहरी ऐसा प्रसंग मिल जाय कि क्रोध उत्पन्न होने लगे तो वहां यह विचार करना चाहिए कि क्रोध करना मेरे स्वरूपमें तो नहीं है । पर परिणाम में आ रहा है । पर्यायमें क्रोधकी बात आनेका प्रसंग बन रहा है । तो इस समय मौन ही रहना श्रेष्ठ है । किसीका आपको पत्र मिले और जिसमें ऐसी बात लिखी हो कि आपको क्रोध जगे और उस समय आप उसका उत्तर लिखने लगे तो वहां आप अच्छे वचन न लिख सकेंगे । और उसका परिणाम यह होता है कि पीछे पछताना होता है । तो जो बुद्धिमान लोग हैं वे ऐसे पत्रका उत्तर तुरंत नहीं देते, समय टाल देते हैं । तो ऐसे ही सामने कोई क्रोधका प्रसंग आ जाय, दुर्वचन बोले तो उस समय तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है, या आपका साहस हो तो उसके विपरीत अच्छे वचन बोलियेगा । नालीके अनुकूल उसके प्रतिकारात्मक वचन न बोलें । तो उस समय मौन रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि मौन हो जायेंगे तो कलह न बढ़ेगी और कलह न बढ़ेगी तो उसका क्षमाभाव सही बना रहेगा । सो जब तक भीतर क्रोधभाव जगनेको है, जग रहा है तब तक मेरेको मौन रहना ही श्रेष्ठ है, ऐसा सद्गृहस्थ अपनेमें भावना रख रहा है ।

सत्यव्रत पालनके लिए लोभत्याग, भीरुत्वत्याग व हास्यत्याग नामकी द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भावना—लोभवश असत्य वचन निकला करते हैं जिसका परिणाम उसके लिए बुरा है । जगतमें उसके प्रति लोगोंकी प्रतीति बिगड़ती है, फिर सारे जीवन संताप सहना पड़ता है, ऐसे लोभका उसके त्याग है ताकि उसके सत्य व्रतमें बाधा न हो । ऐसा सद्गृहस्थ क्रोध त्याग और लोभ त्यागकी भावना रखता है । (३) तीसरा भाव गृहस्थका रहता है भावना रूपमें भीरुत्वत्याग, कायर न होना किसीसे भय न खाना, क्योंकि भय होनेपर असत्य वचन निकलते हैं, और असत्य वचनसे यह भव और परभव बिगड़ता है । यहां किस बातपर भयशील होना ? जो न्यायकी बात है, सही बात है, सर्व हितकारी है उसको निडर होकर बोल देना या उसमें बोलना न सही, पर भीतरमें भयशील तो न होना । क्योंकि उस भयमें जो वचन बोले जायेंगे वे असत्य हो सकते हैं । तो जो सत्य वचन बोला करते हैं वे भयके त्यागकी भावना रखते हैं । (४) चौथी भावना है हास्य त्याग । हंसी मजाक न करना । जैसे अनेक लोगोंकी आदत होती है दूसरोंकी मजाक करनेकी, हंसी दिल्लीगी करनेकी । उन्हें आखिर बादमें बड़ा पछतावा करना पड़ता है, भले पुरुषोंके लिए यह बात योग्य नहीं है । तो वचन ऐसे बोलना कि जिसमें दूसरोंका भी हित हो और अपना भी । तो चूँकि हास्यमें सत्य वचन नहीं निकलते, भंग हो जाता है सत्यका । अतएव सत्याणुव्रती हास्यको दूरसे ही त्यागता है ।

सत्यव्रत पालनके लिए अनुवीचिभाषणनामक पञ्चमी भावना—सत्यव्रतकी ५वीं भावना है अनुवीचि भाष्य । शास्त्र आगमके अनुसार ही बोलना आगमविरुद्ध बात न कहना । जैसे अनेक लोग कहते—अजी जमाना कैसा है देख लो विषयोंका लोभ है, अमुक है, तमुक है, नाना प्रकारकी बातें करते हैं, जैसे—क्या आलू प्याज आदि छोड़नेका पचड़ा लगा रखा है ? क्या रखा है रात्रिमें न खानेमें ? दुनिया बुद्ध ऊपरसे कहती है, ऐसी दलील देकर आगम विरुद्ध बात बोलना इसका पाप है, ऐसा आगम

तत्त्वार्थ प्रवचन द्वितीय भाग

विरुद्ध वचन कभी न बोलना चाहिए। जैसे अनेक लोग कह बैठते हैं कि जब तत्त्वार्थ सूत्रके तीसरे अध्यायपर चर्चा होती है तो उसमें अश्रद्धा जाहिर करते अजी कहां इतने असंख्यात द्वीप समुद्र? दुनिया तो इतनी सी है गैद जैसी गोल...; इससे बाहर तो कुछ है ही नहीं, ऐसी चीज तो अब न रखना चाहिए। निकाल देना चाहिए। यों झूठ जीभ चला देते हैं, पर कोई यहां सर्वज्ञ है क्या जिसने सारी दुनिया छान ली है? ज्यों ज्यों मिलते जाते त्यों त्यों कहते जाते कि ये भी मिल गए ये भी मिल गए। कभी जो पहले टापू न थे और आज मिले हुए हैं उनको आज मान रहे हैं कि ये भी हैं, पहले न मानते थे। देखिये—आज हुंदावर्षिणीकाल है, यह पंचमकाल चल रहा। भरत क्षेत्रके आर्य खण्डमें जमीनपर मलबा पड़ जाता है। और वह हजारों कोशका मलबा हो जायगा। तो उठता है ऐसा मैल जो एक पतली कील जैसा हो गया। सारी दुनिया कितनी है? मानो जैसे कीलपर होने वाली मुट्ठी, इतनी सारी दुनिया है। सारे लोकके आगे बस एक मुट्ठी बराबर दुनिया है। अब उसको चारों ओरसे घूम आवो वहीं पहुंच जावोगे। मगर यह उठे हुए मैलके ऊपर दुनिया है और उसके अतिरिक्त कितना विस्तार है वहां तक तो किसीकी गति ही नहीं है। तो मतलब यह है कि आगमके विरुद्ध कुछ भी वचन बोलना योग्य नहीं। वे यह नहीं महसूस करते कि अभी हमारी समझमें ठीक-ठीक आया नहीं है, जिनेन्द्र देव अन्यथा नहीं बोल सकते। ऋषी संतोंकी वाणी मिथ्या नहीं होती। इस रूपमें कोई प्रतीति तो करे नहीं और यथा तथा वचन बोलना यह है आगम विरुद्ध वचन। आगम विरुद्ध वचन बोलनेसे सत्याणुव्रतका पालन नहीं होता है।

असत्य वचनसे हानि और सत्यवचनके लाभ—सत्य वचनसे चिगे इससे इस लोकमें इस समय भी उसका बड़ा अनर्थ है, उसपर किसको विश्वास नहीं रहता। झूठ बोलने वालेके पास कोई बैठने भी नहीं आता, लेन-देनका व्यवहार भी नहीं करना चाहता। घरके लोग माता-पिता, स्त्री-पुत्र तक भी इसका विश्वास नहीं करते। और उससे डरते रहते हैं कि पता नहीं यह कब कैसा झूठ बोल दे। सो जिसने अपने वचन बिगाड़ा उसने सब कुछ बिगाड़ा। मनुष्यका धन क्या है जिससे दूसरोंको प्रतीति बने? वह है वचन। और वचन ही जिसका बिगड़ गया उसका सब कुछ बिगड़ गया। तो असत्य भाषणका बहुत बुरा फल यहां प्राप्त होता है। लोग घृणा करते, जीभ काट देते, दण्ड देते, लोग पिटाई कर देते। तो उसका जीवन एक व्यर्थ सा होता है और उसे खुद अपने अन्दर संतोष नहीं मिलता। असत्य वचनके कारण उसका दिल इतना कमजोर हो जाता है कि वह कभी अपने आपमें निराकुलता नहीं पा सकता। तो जिसमें इतना अनर्थ है, परभवमें भी दुर्गति है ऐसे असत्य वचनका त्याग करना और सत्यव्रतका संकल्प रखना जिसके फलमें इस भवमें भी यश, परभवमें भी स्वर्ग देवपना मिलेगा। अहिमिन्द्र बनेगा और मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जायगा। तो सत्य वचनका आदर करना, उसमें मुख्य यह ध्यान रखना कि मेरे वचनके द्वारा किसी जीवका अहित न हो, बध न हो, पीड़ा न पहुंचे, ऐसे जो वचन बोलेगा वह जगतमें मान्य होता है तो गृहस्थके पञ्चाणुव्रतमें यह दूसरा अणुव्रत है सत्याणुव्रत।

निहितवा पतितवा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।

न हरति यत्र च दत्ते तदकृशचौर्यादुपापारमणं ॥ ५७ ॥

ज्ञानी गृहस्थके अचौर्याणुव्रतका परिचय—गृहस्थके अचौर्यव्रतका इस छंदमें कथन किया गया । किसी पुरुषका जमीनमें गड़ा हुआ धन या मंदिरमें घरमें किसी जगह रखा हुआ या कहीं भूल गया हो अथवा किसी दूसरेको अमानत सौंप गया हो, ऐसे किसी भी धनको जो न हरण करता है और न किसी दूसरेको देता है उसे कहते हैं अचौर्यव्रतका धारी श्रावक । परका धन उसके लिए विष है, त्याज्य है, आग्राह्य है । उसे उठानेको जी नहीं चाहता ज्ञानी गृहस्थका । वह स्वयं अपने ही धनको छोड़नेकी फिकरमें रहता है, अपने ही धनका त्याग करना चाहता है, क्योंकि उसे वह अपने लिए कलंक समझता है और आत्मसाधनामें बाधक जानता है । तो जो स्वयं ही परिग्रहको छोड़नेकी भावना रख रहा वह दूसरेके धनपर क्या अभिलाषा करेगा ? कितनी ही घटनायें ऐसी होती हैं कि जिनमें दिखावट ईमानदारीके हिसाबसे सच्चाई लगेगी । मगर भावोंमें खोटापन होनेसे वह सब चोरीमें शामिल होता है । मानलो कोई लेनदेन हो रहा है और वह हिसाबमें लिखनेमें चूक गया है मानो वापिस करने तो थे अधिक दाम और लिख दिया कम, अब इस बातको उसने समझ भी लिया कि हमने भूल कर दिया है फिर भी ग्राहकसे कहना—हां ठीक है, आपको पैसे पूरे मिल गए । आप जाइये तो उसकी यह बात चोरीमें शामिल हो गई । यों ही एक क्या, अनेकों घटनायें होती हैं । ऐसी कि जिनमें लगता है कि यह तो बड़ी ईमानदारीका काम कर रहा मगर लग रही वहां चोरी, वह जान भी रहा कि यह मैं गलत काम कर रहा, फिर भी उसके अन्दर खोटा भाव होनेसे वह उस गल्तीको प्रकट नहीं करता इससे उसमें चोरीका दोष लगता है । सद्गृहस्थ किसी भी प्रकारके धनका अपहरण नहीं करता ।

ज्ञानीके आशयमें परधन धूल समान—एक बार दो व्रती दम्पती पुरुष स्त्री दोनों कहीं पैदल जा रहे थे । तो चलते हुएमें उनकी चालमें कुछ ऐसा फर्क आया कि स्त्री कुछ पीछे रह गई, पुरुष आगे बढ़ गया । एक जगह उस पुरुषने क्या देखा कि रास्तेमें २०-२५ मोहरें पड़ी हुई थीं, गिर गई होंगी किसीकी । तो उन्हें देखकर उस पुरुषके मनमें आया कि देखो यह धन पड़ा है, मेरी स्त्री पीछे आ रही है उसे कहीं ऐसा न हो कि इन स्वर्णकी मोहरोंको देखकर लालच आ जाय, क्योंकि स्त्रियोंको स्वर्णके आभूषण प्रिय होते हैं, सो यह सोचकर उसने उन मोहरोंपर धूल झोंकना शुरू किया, इतनेमें उसकी स्त्री भी आ गई और पूछा कि यह क्या कर रहे हैं आप ? तो यहां वह पुरुष बोला—यहां पर कुछ स्वर्णकी मोहरें पड़ी हैं । इनपर मैं धूल झोंक रहा हूं इसलिए कि कहीं इन्हें देखकर तुम्हें लालच न आ जाय ॥ सो वह स्त्री बोली—अरे चलो आगे बढ़ो, यह क्या धूलमें धूल झोंक रहे । देखो उस पुरुषके मनमें तो आया कि यह धन है और स्त्रीके मनमें आया कि यह धूल है । तो ऐसे ही यहांके समस्त बाह्य पदार्थोंको धूल समझें, उनसे इस आत्माका कुछ लाभ नहीं है, हां गुजारा चलानेके लिए जरूरी हैं सो उसका व्यवहार करना पड़ता है मगर इनके पीछे अपने चित्तको न डिगाना चाहिए ।

अचौर्यके पालनमें प्रसन्नताका लाभ—आजकल लोग कितनी ही चीजोंमें मिलावट करके

बेचते। या ब्लेक मार्केटका काम करते तो यह सब चोरी है। जिनका मन स्वच्छ है वे यह समझ लेते हैं कि यह बात उचित है या अनुचित। मनुष्यकी तो बात क्या, पशु भी जानते हैं कि यह चोरीका बर्ताव है। जैसे देखा होगा कि कभी कोई कुत्ता रसोईमें घुसकर रोटी उठा लाता तो कैसा वह छिपकर, पूँछ दुबकाकर धीरेसे छिप छिपकर चलकर एकान्तमें बैठकर उस रोटीको खाता है। वह जानता है कि यह चोरीका काम है, और जब कभी आप उसको अपने हाथसे रोटी खिलायें तो कैसा खुश होकर पूँछ हिलाकर बड़ी विनय दिखाता हुआ, आपको नमस्कार सा करता हुआ या पीछेके दोनों पैरोंके पंजोंके बल पर खड़ा होकर आगेके दोनों पंजोंसे रोटी छीनता है, बड़ी किलोलें करता है, खुश होता है, वहाँ उसको इतनी समझ है कि यह तो ईमानदारीका काम है और वह चोरीका काम है। तो जो सदगृह्य है ज्ञानी है वह छोटे परिणाम नहीं करता, क्योंकि छोटे परिणामका फल है पापबंध और उसके उदयकालमें इसकी दुर्गति है। तो सदगृहस्थका व्यवहार चोरीके अंशोंसे भी रहित होता है।

चौरप्रयोग चौरार्था दान विलोपसदृशसन्मिश्राः ।

हीनाधिक विनिमानं पंचास्तेये व्यतोपाताः ॥ ५८ ॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतिचार—जो श्रावक अचौर्यव्रतके धारी हैं वे अपने व्रतोंमें दोष नहीं आने देते। वे दोष क्या हैं, इनका वर्णन इस छंदमें किया गया है। दोष व अतिचार एकार्थक हैं। अचौर्याणुव्रतका (१) पहला अतिचार है चौरप्रयोग याने कोई चोरीका उपाय बताना—जैसे इसके पीछेकी छत छोटी है, इसके घरमें जानेका ऊपरसे रास्ता है ... आदिक कुछ भी बात कहना, देखिये लगता तो ऐसा है कि यह कोई चोरी तो नहीं कर रहा, सिर्फ चोरी करनेका थोड़ासा भाव बना है, इसको अनाचारका दोष न लगना चाहिए, सिर्फ अतिचारका दोष लगना चाहिए पर कहते हैं कि भाई यह बात नहीं है। यह बहुत बड़ा दोष है। (२) दूसरा अतिचार है चौरार्थादान—चोरीमें कोई वस्तु लाये उसे ग्रहण करना, खरीद लेना, चाहे सही भावमें भी खरीदे फिर भी उसमें चोरीका दोष लग गया। जब वह चोरीका लाया हुआ है तो उसने चोरीके लिए प्रेरणा तो दी। एक ऐसी घटना बहुत प्रसिद्ध है कि एक बालकको बचपनसे ही चोरीकी आदत बन गई, वह कहींसे एक चाकू चुरा लाया, अपनी मांको दिया तो माँ ने उसे शाबासी दी। अब मांकी शाबासी मिलनेसे वह बालक स्वच्छंद बन गया और धीरे-धीरे बढ़-बढ़कर वह बहुत बड़ा डाकू बन गया। आखिर पुलिसके द्वारा पकड़ा गया और फांसीका आर्डर हुआ।

उस समय उससे पूछा गया कि इस मौके पर तुम क्या चाहते हो? तो उसने कहा कि मैं अपनी मांको देखना चाहता हूँ। अब उस प्रसंगमें जब उसकी मां उससे मिलने आयी तो उसने एक चाकू लेकर उस मांकी नाक काट डाला। लोगोंने पूछा कि ऐसा तुमने क्यों किया? तो उसने बताया कि आज जो मेरी यह हालत हुई कि फांसी पर लटक रहा हूँ उसमें कारण मेरी यह मां है। मैंने जब इसे शुरु-शुरुमें चाकू चुराकर दिया था तो इसने मुझे शाबासी दी थी। उससे मेरा हौंसला बढ़ता गया और आज इस स्थितिको प्राप्त हुआ। तो चोरीका माल रखना यह अतिचार है, बड़ा दोष है। अचौर्याणुव्रतका तीसरा अतिचार है ब्लेक करना, राजाशाका उल्लंघन करना, न्याय छोड़कर अन्य रीतिसे वस्तुको ग्रहण

करना, राजाने जिसका निषेध किया हो उस चीजको ग्रहण करना यह अतिचार है। (४) चौथा अतिचार है सदृशसन्मिश्र जिसके कहते हैं मिलावट। चीजोंमें मेल मिलावट करना, जैसे कि एक असली तेलमें अनेक नकली तेल मिलाकर बेचना, यह अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है हीनाधिकविनिमान याने छोटे बड़े बांट तराजू रखना। माल खरीदते समय तो अधिक तोल वाले बांटका प्रयोग करना और बेचते समय कम तोल वाले बांटका प्रयोग करना। तो देखिये इसमें बहुत बड़ा दोष है, पर चूंकि थोड़ा यह भाव रख रहा कि मैं स्पष्ट चोरी न कर रहा इस कारण इसका नाम अतिचार रखा गया है।

अचौर्यव्रतपालनकी पूरक पांच भावनाओंमें शून्यागारावास व विमोचितावास नामकी प्रथम व द्वितीय भावना—गृहस्थके ५ अणुव्रतोंमें अचौर्याणुव्रतका प्रसंग चल रहा है। अचौर्याणुव्रतका पूर्णतया पालनहो, इसके लिए ५ भावनायें हैं। ये भावनायें मुनिजन भी भाते हैं और गृहस्थ भी भाते हैं। (१) पहली भावना है शून्यागार—ऐसी भावना होना कि मैं सूने घरमें रहूं। भरा पूरा घर है, अनेक धन वैभव है तो कहीं चित्त न चल जाय। यद्यपि गृहस्थ गृहस्थीमें है मगर भावना तो मुनिकी है, जिस गृहस्थके चित्तमें मुनिव्रतकी भावना नहीं है उसे श्रावक न कहा जायगा, चाहे वह कभी मुनिहो नहीं, जो ऊंचे पद हैं मुनि अर्जिका वगैरहके, वे चाहे जीवनमें इस पदमें न आयें, मगर उसकी चाह और भावना होती ही है कि मैं कब इस संगके जालसे छूटकर ऐसा अकेला रहूं और स्वानुभवके लिए खूब प्रयत्न करूं, स्वानुभवमें रहूं। उस ही की धुन रहे, यह भावना जिसके है वह गृहस्थ सदगृहस्थ है तब ही तो श्रावकका दूसरा नाम है उपासक। सभी गृहस्थ उपासक कहलाते हैं। उपासकका अर्थ है—जो मुनिव्रतकी, जो आत्मानुभूतिकी उपासना करते हैं वे उपासक कहलाते हैं। तो सूने घरमें रहना यह भावना है अचौर्यव्रतकी, क्योंकि सूने घरमें निवासहोगा, कोई वस्तु ही न होगी, आश्रयभूत कारण ही न मिलेगा तो परिणाम गंदे न होंगे चोरी करनेके परिणाम न होंगे। (२) दूसरी भावना है विमोचितावास। जो घर किसीने छोड़ दिया हो, छूटा घर, जहांसे सब चीजें निकालकर गृहस्थ दूसरे नगरमें भाग गए ऐसे विमोचिता घरमें रहना। ठंडके दिन, बरसातके दिन, आखिर किसी स्थानमें रहता ही तो है मुनि। तो उनकी भावना है कि ऐसे स्थानमें रहूं जहां विकारका आश्रयभूत कारण ही न रहे।

अचौर्यव्रत पालनकी पूरक परोपरोधाकरण नामकी तृतीय भावना—तीसरी भावना है परोपरोधाकरण। दूसरोंको ठहरनेसे रोकना नहीं। जहां कोई मुनिराज बिराजे हैं उनको यह अधिकार नहीं है कि वे किसी दूसरेको ठहरनेसे रोकें। आप यहां न रहिये। वे पूछ सकते हैं कि आप यहां रहनेको हमें क्यों मना करते? वे तो यही समझेंगे कि इसके पास कोई धन दौलत परिग्रह होगा या इसमें कोई कपटकी बात होगी तभीतो यह दूसरेको ठहरनेसे रोकता? जिसके पास कुछ भी परिग्रह न होगा वह क्यों रोकेगा? इसलिए यहां बताया है कि दूसरोंको ठहरनेसे रोकना नहीं। गृहस्थ यों पायगा कि आखिर मुनिव्रत पाये बिना आत्माका गुजारातो होगा नहीं, यह बिल्कुल निश्चित बात है। इस भवमें न सही, किसी भवमें हों, निर्ग्रन्थ दिगम्बर सबका विकल्प तजकर केवल सहज चैतन्य स्वरूप आत्माकी धुन बनेतो मुक्तिका मार्ग बढ़ेगा अन्यथा नहीं। सो यह बात सबको करनी है। और यह भी देख लीजिए कि जब भी भला होगा, मुक्ति होगी तो यह बतलावे अन्तकाल तक आप अकेले ही तो रहेंगे। केवल

ज्ञानपुञ्ज! शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं, दूसरा कोई जीव भी इसका साथी नहीं। केवल अकेला ज्ञानपुञ्ज रहेगा अनन्तकाल तक। तो जिसको अनन्तकाल तक पूर्ण अकेला ही रहना है शुद्ध ज्ञानपुञ्ज रूपमें, तो यहाँ अकेले रहनेमें क्यों घबड़ाते? मार्ग तो वही है। यहाँ भी चाहे घरमें भरे पूरेमें रह रहे हैं, पर अपनेको अकेला ही निरखियेगा। मैं आत्मा ज्ञानमूर्ति केवल अपनेमें ही हूँ। वस्तुत्वगुण क्या कहता है? अपने ही स्वरूपसे सत् होना, पररूपसे असत् होना यह प्रत्येक पदार्थमें धर्म है। मैं अपने स्वरूपमात्र हूँ। दूसरा मेरा कुछ नहीं है, ऐसे अपने मुक्त आत्मस्वरूपमें निवास करना, यह कला जिसने पायी है बस महापुरुष, परम पुरुष वही है। ऐसा होनेकी भावना गृहस्थके रहती है, तो उस मुनि व्रतमें ये भावनायें साकार चलती हैं। किसी दूसरेको ठहरनेसे रोकना नहीं।

अचौर्यव्रतपालनकी पूरक भैक्ष्यशुद्धिनामकी चतुर्थ भावना—अचौर्यव्रतकी चौथी भावना है भैक्ष्यशुद्धि। आहार शुद्ध करना, निर्दोष अन्तराय टालकर करना। देखिये—इस भावनाका अधिक सम्बंध मुनि महाराजसे है, पर अचौर्यव्रतके प्रकरणमें क्यों यह कहा जा रहा कि वह श्रावक ही नहीं जो मुनि होनेकी भावना ही नहीं रखता। न हो सके मुनि जीवनमें यह बात अलग है पर गृहस्थोंमें मुनिव्रतकी भावना न होतो उनके परिणामोंमें उत्कर्षता नहीं आ सकती। और मुनिव्रतमें भैक्ष्यशुद्धि पूर्णतया चलती है। गृहस्थ दशामें यथासम्भव होना ही चाहिए। अच्छा इनका अचौर्यव्रतसे क्या सम्बंध है? तो देखिये—मुनि महाराज भिक्षा भोजन ले रहे हैं, अन्तराय कोई आ रहा और उसे वे टाल जायें तो बताओ चोरीका दोष है कि नहीं? कोई थोड़ा सा बाल निकल आया और उसे यों ही सरका दे तो बताओ चोरीका दोष है कि नहीं? भैक्ष्यशुद्धि न हो तो उसमें चोरीका दोष लगता है। अच्छा, मुनि महाराजकी बात तो ऊंची ही है पर गृहस्थमें भी देखिये जो गृहस्थ राजा, सेठ जिस तरह खाया करते हैं, थाल सजाकर आती है, प्रार्थनाकी जाती है—महाराज भोजन लीजिए तब भोजन लेते हैं, ऐसी जिनकी वृत्ति है वे यदि घरमें रखी हुई चीज भी कहींसे उठाकर खाये तो उठाते समय नियमसे जरा ध्यान जरा चोरी जैसा बन जाता, वैसे चीज घरकी है और उठाने खानेमें कोई दोषकी बात नहीं है मगर जिस प्रक्रियासे वह रोज खाया करता है उस प्रक्रियाके खिलाफ कहींसे कुछ उठाकर खानेमें चोरी जैसा दिल बन जाता है।

पदविरुद्ध प्रवृत्तिमें चोरीके दोषका एक लौकिक दृष्टान्त तथा अचौर्यव्रतकी पञ्चम भावना—एक राजा था सो वह अपने बगीचेमें अकेला ही घूमने गया हुआ था घूमते हुएमें उसने क्या देखा कि एक बड़ा सुन्दर सेव एक पेड़के नीचे पड़ा था पर गोबरसे भिड़ा था। उसे देखकर राजाको लालच आ गया, इधर उधर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा, फिर उसे उठाया और रुमालसे पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया पर उसको यह शंका बराबर बनी रही कि कहीं इस तरहसे सेव खाते हुए हमें किसीने देखा तो नहीं। खैर जब वह दरबारमें पहुंचा तो वह समय था दो बजे दिनका। उस समयपर प्रतिदिन उस राजदरबारमें नृत्यगान हुआ करते थे। वहां नर्तकीने अपना नृत्य गायन करना प्रारम्भ कर दिया। ५-७ गीत गाये पर राजाने उसे कोई इनाम न दिया। एक बार नर्तकीने यह गीत गाया “कहि देहौ ललनकी बतिया... यह उसकी टेक थी। इस टेकको सुनकर राजाने यह भ्रम किया कि शायद इस नर्तकीने हमें बगीचेमें सेव खाते हुए देख लिया है तभी तो कह रही है। इस मरी सभामें

कि कहि देहौ ललनकी बतिया । सो इस टेकको सुनकर राजाने अपना एक आभूषण उतार कर दे दिया । उसका प्रयोजन यह था कि यह इस भरी सभामें मेरी बात न कहे, उधर उस नर्तकीने यह जाना कि राजा साहबको हमारा यह गीत बहुत पंसद आ रहा है सो कई बार वही टेक दुहराया । यहां तक कि राजाके पास पहुंचकर ५-७ बार वही गीत गाया—“कहि देहौ ललनकी बतिया . . . राजाने अपने ५-७ गहने जो पहन रखा था सब उतारकर दे दिया, नर्तकी फिर भी वही टेक दुहरावे, यह समझकर कि राजा साहबको हमारे इस गीतकी टेक ही बहुत पंसद आयी है, उधर राजाका गहने उतार कर देनेका प्रयोजन यही था इस भरी सभामें यह नर्तकी मेरी सेव खाने वाली बात न बोले । आखिर जब वह नर्तकी फिर भी वही टेक गाने लगी तो राजाको उसपर रोष जगा और बोल उठा—अरे कहदे जो कहनाहो, तेरे कहनेसे नहीं डरते । अधिकसे अधिक यहीतो कहेगी कि राजा साहबने बगीचेमें गोबरसे भरा सेब उठाकर खाया था । लो राजाकी चोरीकी बात प्रकट हो गई । तो यहां चोरीकी बात कह रहे । जिसकी जो विधि है उस विधिसे न खाये, उस विधिका उल्लंघन करे तो इसमें चोरीका दोष लगता है । अचौर्यव्रतकी पांचवीं भावना है साधर्मिजनोंसे विसम्वाद न करना । जिन्हें अचौर्यव्रतका पूर्णरूपेण पालन करना है उनकी यह भावना होती है कि साधर्मिजनोंके साथ हमारा विसम्वाद न बने । विसम्वादसे चोरीका सम्बंध बन जाता है ।

कुतपके फलमें प्राप्त क्षणिक चोरीके लाभसे हानियां—चोरीके पापमें बड़ा दोष आता है, यह जन्म भी बुरा बनता है और भविष्य भी बुरा होता है । चोरी करने वालेका कोई विश्वास नहीं करता । पुत्र, पिता, सगा मित्र, राजा आदि कोई भी पासमें बैठने नहीं देते । और जिसको चोरीकी आदत हो जाती उसके हिंसाका परिणाम बन जाता है । अवसर पाये तो जानसे मार दे, चाकू मार दे । उसके चित्तमें किसी प्रकारका धर्म नहीं रहता । और यहां लोग पीटें, राजा दण्ड दे, अनेक प्रकारके यहां कष्ट सहने पड़ते, जेलखाना हो और मर जाय तो नारकादिक गतियोंमें जन्म होता । देखिये जो लोग भिखारी हैं अत्यन्त दरिद्र हैं, दुःखी हैं अथवा समझिये ऐसा ही कोई पाप किया या चोरी जैसा, दूसरेका धन हड़प करना, सो उस पापके फलमें ऐसी दुर्गति मिलती है । और जो धन हरण किया था, चोरीमें जो खूब धन मिल जाता है, क्योंकि कमाना तो कुछ पड़ता नहीं, बस गए और डाका डाल लिया, अथवा चोरी की, लाखोंका माल लूटातो आप यह कह सकते कि पुण्यके बिना तो धन नहीं मिलता, तो बताओ उस चोरके भी पुण्यका उदय है क्या ? हां है तो उदय पुण्यका, जो उसने चाहा सो समागम मिला मगर वह कुतप वाला पुण्याश्रव है । पूर्व भवमें खोटी तपस्याकी तो उन कुतपोंके फलमें पुण्य तो थोड़ा आया मगर इस रूपमें आया कि चोरी डकैती आदिकके द्वारा प्राप्त हुआ जिसके फलमें उसे उसी जन्ममें कष्ट भोगना पड़े और मरकर दरिद्री होना पड़े ।

परदृष्टि हटाकर निज सहज अन्तस्तत्त्वका आदर करनेका अनुरोध—हे आत्मन् भीतरी अपने स्वभावकी दृष्टि कीजिए । कहां तो आत्माका भगवान जैसा स्वरूप । जैसा अरहंत सिद्ध प्रभुका आत्मा है ज्ञानमय सहज आनन्दमय, अपनी सत्तामात्र वही स्वरूपतो, हमारा आपका सबका है । इस स्वरूपका आदर करना चाहिए जिसमें सर्व ऋद्धियां भरी पड़ी हुई हैं । सर्व अर्थ जिसमें सिद्ध होते हैं

उस सहज परमात्मा भगवानकी उपासनाको छोड़कर बाह्य पौद्गलिक ढेरोंमें चोरी जैसा परिणाम करे कोई तो यह उसके बड़ा पापका उदय है। और फिर रहना तो कुछ नहीं है पास, सब छूट जाता है, छूटेगा, अब भी छूटा हुआ ही है। कल्पनासे मान रखा कि मेरा है तो ऐसे अत्यन्त भिन्न पदार्थोंसे उसके संग्रहमें चोरी मायाचार आदिक जो पाप बनाया तो क्यों बनाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुषमें इतनी दृढ़ता रहती है कि यह लक्ष्मी आनाहो आय, जानाहो जाय, उसके बिना मेरी कुछ अटकी नहीं है, क्योंकि मुझमें यह कला है कि जो भी स्थिति आयगी उसीमें हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे, पर आत्मधर्मको, स्वभावदृष्टिको, धर्मपालनको मैं कभी न छोड़ सकूँगा। ऐसा स्वभावदृष्टि करने वाले सद्गृहस्थके अचौर्याणुव्रतका पालन होता है।

न च परदारान्गच्छति न परान्गमयति च पापभीतेर्यत् ।

सा परदारनिवृत्तिः स्वादारसंतोषनामापि ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पवित्र रूपता—ब्रह्मचर्याणुव्रत इतना पवित्र व्रत है कि जिसके पालनेमें आत्माके अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। यह गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा जा रहा है। परस्त्रीसे गमन न करना, न दूसरेको गमन कराना। इसको कहते हैं परदारनिवृत्ति अथवा स्वदार संतोष, अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत। यह ज्ञानी गृहस्थ पापोंसे भयभीत है, इसको डर है तो पापका है, इष्ट वियोगसे डर नहीं, अनिष्ट संयोगसे डर नहीं। शरीरमें वेदनायें आयें उनसे डर नहीं। भले ही शरीरमें कोई कष्ट होनेपर नहीं सहा जाता मगर इसको ऐसा डर नहीं कि जिससे इसका मन स्खलितहो जाय। पाप कार्य क्यों करना? जितने भी जगमें संकट हैं वे सब पापके फल हैं। पापोंसे भयभीत पुरुष ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करते हैं। देह क्या है? मूत्र, विष्टा, कीटका घर द्वार। “पागल हो गए कविराज” इस भजनमें आता है कि “अशुचितनको चंद्रमुख कहते न आयी लाज” पागलहो गए कविराज। याने जो कवि लोग वर्णन करते हैं शरीरके बड़े शृंगार और सुन्दरताका उनको इस अशुचि शरीरको चंद्रमुख कहते हुए लज्जा नहीं आती। “देह क्या है मूत्र, विष्टा, कीटका घर द्वार। मांस पिंड उजो जूँ दें, हेमघट उनहार। पागल हो गए कविराज” ... इस तरह कहते हुए आगे यह कहा कि “एक तो स्वयमेव अंधा, जगत जीव समाज। आंखमें फिर राग धूली, डालते किह काज।” पागल हो गए कविराज। तो इस भजनमें यह बात आयी है कि यह शरीर समस्त मलोंका घर है। आप लोग देखते हैं ना कि म्यूनिसपलटीकी ओरसे कूड़ा, कचरा, विष्टा आदि भरनेको जो टीनका बड़ा डिब्बा रख देते हैं उसमें वे सब गंदी चीजें भरी रहती हैं तो उससे कम गंदा नहीं है यह शरीर। इस शरीरके भीतरकी गंदगीका जरा ध्यान तो कीजिए इसके अन्दर सब अपवित्र ही अपवित्र चीजें मिलेंगे। चाम, खून, पीप, मांस, मज्जा, मल, मूत्र, पसेव, नाक, थूक, खकार, कानकनेऊ आदि सभी चीजें महा अपवित्र भरी हैं, इतना तो अशुचि है यह शरीर, फिर भी कामीजनोंके कितना पापका उदय है कि वे इस शरीरमें आसक्त होते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके विरोधक विकारमें व्यभिचार शब्दकी रुढ़िका कारण—देखिये—
ब्रह्मचर्यका असली अर्थ क्या है? आत्मामें लीन होना, ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने लीन होना

और ब्रह्मचर्यके खिलाफ क्या हुआ? व्यभिचार मायने आत्मा आत्मामें लीन न हो सके और बाहरी उपयोगका डोलना हो। तो अब आप बतलावो हिंसा व्यभिचार है कि नहीं? व्यभिचार है, क्योंकि उपयोग बाहर-बाहर ही डोलता रहता है वैसे झूठ, चोरी, वगैरह सभी पाप व्यभिचार हैं मगर केवल व्यभिचारका नाम चौथे पापमें क्यों रखा है? क्या हिंसा कुशील का व्यभिचार नहीं है? क्या आत्माका स्वभाव है हिंसा करनेका? अरे ये सभी पाप व्यभिचार हैं, लेकिन चौथे पाप का ही नाम धरा गया कुशील या व्यभिचार तो उसका कारण यह है कि यह चौथा पाप इतना महान खोटा पाप है कि इस पापमें प्रवृत्ति करते हुएमें आत्माकी सुध कभी रह नहीं सकती। आप परिग्रहके बीच रह रहे, भोजन कर रहे, स्वाद ले रहे तो इसके बीच आत्माकी सुध हो सकती, पर व्यभिचार चौथा पापका नाम रखा है कुशील व्यभिचार। और भी देखिये—वीर्य नाम है आत्माकी शक्तिका। कहते हैं ना कि भगवान अरहंत अनन्त वीर्यके धनी हैं। चार अनन्त चतुष्टय बोलते हैं, उनमें एक अनन्त वीर्य भी है। तो वीर्य मायने बल, शक्ति। आत्माका बल, ज्ञानबल, ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर होना यह आत्मवीर्य है। तो शरीरका बल है वह भी वीर्य है।

अपना बल खोकर कामी जनोकी अशुचिरतिमें मौजकी मान्यता—देखिये कामीजन अपनी शक्तिको खोते हुए मौज मानते हैं, याने कितनी बेढव बात है। वहाँ तो हर समय खाना पीना अच्छा चाहते ताकि शरीर पुष्ट हो जाय। घी, दूध, फल, रस तथा शिलाजीत जैसी चीजोंका सेवन इसलिए करते कि हमारा शरीर पुष्ट हो। मगर ब्रह्मचर्यका धातकर, अपने शरीरकी ताकतको खोकर ये व्यामुग्ध जीव उसमें मौज मानते हैं यह कितने गजबकी बात है। यदि मोक्षमार्ग पसंद है, संसारके संकटोंसे छुटकारा पाना है, आत्मामें लीन होनेका पौरुष बनाना है तो पहले लौकिक ब्रह्मचर्यका पालन करो। जो लौकिक ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकते वे अलौकिक ब्रह्मचर्यके अधिकारी नहीं हो सकते। इसी ग्रन्थमें आगे आयगा कि यह शरीर कैसा है? मलका कारण है और मल इसका कार्य है। मलसे पैदा हुआ है मलको निकालता है और स्वयं मलस्वरूप है। रोम-रोमसे मल झड़ता है। दुर्गन्धित है, भयानक है, ऐसे शरीर पर थोड़ा यह चमड़ा ढका है। जो गंदगी है मांसकी, खूनकी, हड्डीकी उसपर यह चामचादर पड़ी है, यह चामचादर किसी भी रूपका हो उसे देखकर अज्ञानी कामी पुरुषतो आत्मसुध भूलकर गंदे विचार करता है और ज्ञानीजन स्पष्ट समझते हैं कि यह शरीर यह है। ऐसे साफ सुथरे सब बैठे हैं, मुख भी बड़ा साफ लग रहा और जरासी नाक कोई सूत दो सूत ही नाकसे बाहर निकल पड़े तो शरीरकी सारी शोभा धरी रह जाती है।

इस दुर्लभ नरदेहको व्रत शील सदाचारमें युक्त करके जीवन सफल बनानेका अनुरोध—तो यह शरीर मिला है इसको व्रतमें, शीलमें और धर्ममें, ज्ञानमें, तपश्चरणमें, संयमसाधनामें लगा डालें। आखिर यह शरीर एक न एक दिन नष्ट होगा, जला दिया जायगा, गाड़ दिया जायगा या छोड़ दिया जायगा, जो भी स्थिति बने ऐसे शरीरसे अगर संयम व्रत आदिकके कार्य बनाये जायें और अपने आत्माको शुद्ध भावोंमें रखा जाय तो इसमें आत्माका लाभ है और यदि मनचाहा खाना पीना रमना, विषयसेवन अनेक पाप इनमें शरीरको जुटाये जायेंतो इसका फल शरीरतो जड़ है, क्या भोगेगा। भोगना

पड़ेगा बस आत्माको। इससे गृहस्थजनोंको कमसे कम इतना पक्का नियम होना ही चाहिए कि स्वदार संतोषवृत्तिसे रहें याने मात्र अपनी स्त्रीमें संतुष्ट रहें, बाकी समस्त पर स्त्रियोंके प्रति भाव निर्मल रहें, रंच भी कुवासनाका भाव न होना, यह है गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत। यह व्रती पुरुष समग्र स्त्रियोंमें राग नहीं करता, उनका संगम नहीं करता, विशेष वचनालाप नहीं करता, उनके अंगोंको नहीं देखता, उनके अंगोंको छूनेका परिणाम नहीं करता। वही परस्त्रीका त्यागी है और स्वदार संतोषी है। जो स्वदार संतोष व्रतका धारी है, ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक है उसकी बुद्धि सही काम करेगी और प्रत्येक कार्यमें वह सफलता भी पायेगा।

ब्रह्मचर्यका अन्तस्तथ्य—गृहस्थके ५ अणुव्रतोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतका प्रकरण चल रहा है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है ब्रह्ममें लीन होना। ब्रह्म नाम है आत्माके सहज स्वभावका। जगतके किसी भी अन्य पदार्थमें अपना दिल लगाया तो वह समय बेकार है, उसका परिणाम भी अनर्थ है। जैसे कोई मछली अपने जलके स्थानको छोड़कर बाहर चली जायतो वह तड़फड़ाती है। उसके आत्माको शान्तिका कोई उपाय नहीं है, ऐसे ही यह जीव अपने ज्ञानस्वरूपके स्थानको तजकर बाहरमें किसी भी पदार्थमें पड़ जाय तो उसका फल झुँझलाहट है। उसका कोई उपाय नहीं है कि शान्ति पा सके। आत्माको शान्ति मिलेगी तो खुदके ही स्वरूपमें मिलेगी। बाहरसे शान्ति पाना बिल्कुल असम्भव है। तो वास्तवमें ब्रह्मचर्य तो यह है अपने स्वभावको निरखिए और उसमें लीन होइये। मेरा स्वभाव क्या है? चैतन्यमात्र, चैतन्यस्वभाव, प्रतिभास। ज्ञानज्योति, अमूर्त। ऐसा यह आकाशवत् निर्लेप मेरा स्वरूप है। वर्तमान परिणति लेपकी है, इस पर निगाह अभी न दीजिए। उसको मना नहीं किया जा रहा कि वर्तमान स्थिति लेपकी नहीं है। कर्मसे लिपे हैं, शरीरसे घिरे हैं, विकार भी होते हैं पर ज्ञानमें तो ऐसी कला है कि इस पर दृष्टि न दें, आत्माके स्वभाव पर दृष्टि दें। जैसे कि एक्सरायंत्र हड्डीकी फोटो लेता है। उसके सामने चाम, खून मांस, मज्जा आदि सभी आते, पर वह उन सबको छोड़कर सीधे हड्डीका फोटोले लेता है। तो देखो जब इस अचेतन पदार्थमें यह कला आ गई तो क्या इस चेतनमें यह कला नहीं आ सकती कि इस वर्तमान पर्याय पर भी दृष्टि न दे और आत्माके सहज स्वभाव पर दृष्टि दे। आ सकती है वह कला। यद्यपि यह सब है पर हम उस ओर दृष्टि न दें यह तो हो सकता है। तो अपने स्वभावपर दृष्टि देकर निरखिये कि मैं स्वयं आनन्दधाम हूँ, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, स्वरूपको निरखिये, अगर स्वरूपमें कष्ट होता। स्वभाव अगर कष्टका होता तो कभी मोक्ष हो ही न सकता था। कष्टसे छुटकारा हो ही न सकता था। मेरा स्वरूप कष्टका नहीं है, पर कर्मके उदय आते हैं, उनकी छाया पड़ती है, यहां वे सब विकार प्रतिबिम्बित होते हैं, हम उनको अपना लेते हैं और कष्टमें आ पड़ते हैं।

स्वरूपदर्शनकर दुर्लभ सत्संगको सफल करनेका अनुरोध—देखो भैया, हम आपने कितना आज दुर्लभ समागम प्राप्त किया है। अनन्त काल तो निगोदमें रहे, एकेन्द्रिय आदिक भव लहे, कीड़ा मकोड़ा हुए, पञ्चेन्द्रिय भी हुए तो जैसे रोज-रोज देखते हैं ना सड़कोंपर जुतने पिटनेवाले झोंटोको गधोंको, खच्चरोंको तो वहां भी क्या फायदा मिला? ये सभी स्थितियां हम आप सभीने बहुत-बहुत भोगी। आज सुयोगसे मनुष्य पर्यायमें आये हैं और यह पर्याय भी एक जैन शासनसे सम्बंधित मिली।

यह बहुत बड़ा पुण्यका उदय समझिये जो जैन शासनका सुयोग मिला है, जिसमें अहिंसा और स्वभावदृष्टिका आचरण पाया जाता है। ऐसे दुर्लभ समागमको पाकर यदि हम दुर्भावोंमें रहें, पापोंमें रहें, व्यसनोमें रहें, धर्मके विरुद्ध कल्पनाओंमें रहें तो हमारी वह दशा होगी जिसे भोगकर आये। इसलिए बहुत बड़ी जिम्मेदारीका यह भव है। यदि यहां न चेते तो आगे पता नहीं कब चेतनेका मौका मिले। तो यहांके मिले हुए समागमोंको कर्मकी छाया जानकर अपनेको इनसे भिन्न परखकर इनमें आस्था न बनाये और अपने स्वरूपमें आस्था करें। मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हूं वह है भगवान्? यह बात पर्यायदृष्टिसे नहीं कही जा रही। पर्यायमें तो भगवान्में और मुझमें बहुत अन्तर है। वे वीतराग है और यहां रागका फैलाव है, मगर स्वभावको निरखा जा रहा है। भगवान् भी कहीं अलगसे नहीं हुए हैं, वे भी हम आप जैसे ही संसारी जीव थे। उन्होंने मनुष्यभव प्राप्त किया, उनको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चास्त्रिका सुयोग मिला, अपने आत्मामें लीन हुए और भगवान् बन गए। तो यह ही काम तो हम आपको करना है। जैसे आज जो लोग देशके बड़े अधिकारी नेता बने बैठे हैं ये कहीं बाहरसे नहीं आये, हम आपमें से ही जिनको सुयोग मिला वे अधिकारी बन गए, पर उससे भी इस आत्मिका हित क्या? मुझे बनना है अरहंत सिद्ध जैसा। वे प्रभु अरहंत सिद्ध कहीं बाहरी द्रव्य नहीं है, हम आप जीवोंमें से उन्होंने ऐसा सुयोग पाया कि रत्नत्रय प्राप्त किया और प्रभुहो गए। तो क्या हम आप नहीं हो सकते वैसे प्रभु? हां हो सकते हैं, हम आप भी अष्ट कर्मोंसे मुक्त होकर परमात्मा बन सकते, पर स्वभावकी ओर कुछ दृष्टि लाना होगा, अपने आप वह स्वभाव संचेतनमें आने लगेगा। जो लोग इस ब्रह्मस्वरूपका मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं उनके हैं ब्रह्मचर्यका पालन।

परमार्थधर्मपालनमें ही वास्तविक आत्मदया—देखिये धर्म करना यह कुछ दूसरेपर एहसान नहीं है और न धर्म करके कुछ ऐसा भीतरमें बड़प्पन निहारना है दूसरोंको निरखकर कि मैं ऐसा हूं। धर्म करनेका प्रयोजन केवल अपने आपपर दया करना है, क्योंकि अधर्मके ही कारण, अशुभ भावोंके ही कारण हम संसारमें नाना दुर्गतियोंमें जन्मते हैं, भटकते हैं। तो ऐसे जन्मोंमें भटकना पसंद है क्या? यदि नहीं पसंद है तो धर्मका सहारा लीजिए? धर्म ही एक शरण है। धर्मको छोड़कर अन्य कुछ जगतमें शरण नहीं है। वह धर्म कहां मिलेगा? अपने आत्मस्वरूपमें। वास्तविकता तो यह है। हम भगवान्को मंदिरमें जाकर पूजते हैं तो कहीं मंदिरकी उन भीटोंमें से निकलकर धर्म न आयगा, और यहां तक कि उस मूर्तिसे निकलकर भी धर्म न आयगा। कदाचित् साक्षात् रूपमें भगवान् बिराजें तो भी वहांसे निकलकर मेरेमें धर्म न आयगा, पर प्रभुकी भक्ति करनेसे, उनके गुणोंका चिन्तन करनेसे मेरे गुणोंमें ज्वलता आती है, स्वच्छता आती है, सुध होती है और मेरा धर्म मेरेको मिल जायगा। जैसे कोई पुरुष थोड़ा बरसातके दिन थे, छाता लेकर जा रहा था, किसी दुकानमें बैठ गया, फिर उठकर चला गया। दुकानमें छाता भूल गया। कुछ दूर जाकर किसी दूसरेको सामनेसे छाता लगाये आते देखकर उसे याद आया कि मैं अपना छाता उस दुकानपर छोड़ आया। अब वह जल्दी-जल्दी वापिस चलकर अपना छाता पा लेता है। तो ऐसे ही हम अपने धर्मको भूल गए हम अपने धर्ममें लीन नहीं हो पा रहे तो हम प्रभुकी उस शान्त मुद्राको देखकर वहां सर्व ओर विचार करें कि यह है धर्म। यह है कष्टोंसे छूटे हुएकी

स्थिति। वहां ज्ञानादिक गुणोंका विचार कर हमें अपने गुणोंकी याद आ जाती है, स्वरूपकी याद आ जाती है ओह यही है मेरा स्वरूप। मैं व्यर्थ ही यहां वहां भटकता फिरा, इस तरह वह अपने स्वरूपमें पहुंच जाता है और स्वरूपमें मग्न हो सकता है। हम आपकी आजकी स्थिति प्रभुभक्ति सिवाय, स्वाध्याय सिवाय, सत्संग सिवाय कोई उपाय नहीं है कि हम धर्म मार्गमें चल सकें, उस पर सच्चा ज्ञान रखते हुए हमारे ये तीनों काम चलें—प्रभुभक्ति, सत्संग और स्वाध्याय। तो हम आसानीसे सफल हो सकते हैं, और यदि यही पता न हो कि प्रभु क्या कहलाते हैं तो हम धर्मको प्राप्त न कर पायेंगे। भले ही किन्हीं वासनाओंसे, किसी भावनासे हम धर्मके कार्यमें लगे हैं। मन्दिरमें प्रभु पूजा आदिक सब सम्हालमें लगे हैं, मगर धर्म तो वह चीज कहलाती है जो मोक्षमें पहुंचा दे। तो मोक्षमें पहुंचा देने वाली कुञ्जी यदि नहीं मिली है तो उसे पालें, यदि वह कुञ्जी अपने पास रहेगी तो प्रभुभक्ति, स्वाध्याय आदिकसे हमारा स्पष्ट मार्ग बन जायगा।

प्रभुकी वीतरागताका आदर्श—प्रभु क्या है? जो मेरा स्वभाव है वैसा ही स्वभाव उनका है। उस स्वभावपर आवरण न रहे कर्म न रहे सो उनका स्वभाव एकदम पूरा प्रकट हो गया है। स्वभाव क्या है? ज्ञान स्वभाव। वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण प्रकट हुआ है। लोकालोक सबके ज्ञाता हो रहे हैं, भगवान लोकालोकके सारे विश्वको जानते हैं इस कारण हम प्रभुको महत्त्व नहीं दे रहे, वह तो ऐसा होता ही है, पर प्रभु पर आवरण न रहा, दोष न रहे इसलिए उनको आकुलता रंच भी न रही, यह है महत्त्वकी बात। भगवान सारे लोकालोकको जानते हैं इस कारण हम अपने लिए आदर्श मानें सो बात नहीं है। यहां भी कोई थोड़ा जानता कोई बहुत। भगवानने सारे लोकालोकको जान लिया इस कारणसे भगवान हमारे लिए आदर्श नहीं, किन्तु भगवानमें दोष रंच भी नहीं रहे, जन्ममरण आदिक कष्टोंसे छूट गए जो उनका सहज स्वभाव है वही प्रकट हो गया जिसके कारण अब जरा भी उनमें अपवित्रता नहीं है और रंच भी आकुलता नहीं है, और स्वभावमें लीन हो गए हैं इस कारण प्रभु आदर्श हैं। यद्यपि प्रभु सर्वज्ञ हैं, सबको जानते हैं मगर प्रभुकी सर्वज्ञताका गुणानुवाद करके हम क्या पालेंगे? हां प्रभुकी निर्दोषताका मनन करके हम पा लेंगे तो प्रभु वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं पर सारी महिमा वीतरागतासे है। सर्वज्ञतासे हम कोई उपाय वाली महिमा नहीं समझते। यद्यपि जो सर्वाधिक बड़ा होता वह सर्वज्ञ होता ही है, यह गुणका पूर्ण विकास है, मगर ज्ञान गुणका पूर्ण विकास होनेसे ही वे हमारे आदर्श हो गए हों सो मात्र यह कारण नहीं है, किन्तु वीतराग होनेसे, निर्दोष होनेसे, पवित्र होनेसे, निज आनन्दरसमें लीन होनेसे प्रभु हमारे लिए आदर्श हैं। एक बात और निहारो। किसी मुन्यसे पूछो कि आप यह बतलावो कि आप क्या चाहते हैं? तो वह यह न कहेगा कि मैं सारे विश्वको जान लूँ, यह चाहता हूँ, वह तो यह कहेगा कि मेरेमें कष्ट, आकुलता, क्षोभ आदि रंच भी न रहें, मुझे पूर्ण शान्ति मिले, यह चाहता हूँ, वह तो यह कहेगा कि मेरेमें कष्ट, आकुलता, क्षोभ आदि रंच भी न रहें, मुझे पूर्ण शान्ति मिले, यह चाहता हूँ। यदि कदाचित् सारे लोकालोकको जाने बिना शान्ति मिल जाती होती तो कोई जरूरत न थी कि इतना बड़ा ज्ञान करलें। चाहिये तो शान्ति मगर जिन महान आत्माको शान्ति मिलती है वह सर्वज्ञ हो ही जाता है, उसके लिए क्या करें? वह अनिवारित बात है, मगर सर्वको जान लेनेसे प्रत्येकजन सिद्ध हो

गया सो बात नहीं, किन्तु वीतरागता आ जानेसे, निराकुलताहो जानेसे प्रयोजन सिद्ध होता है, और यही कल्याण है कि मेरेमें आकुलता रंच मात्र न रहे।

मुक्तिकी प्राप्ति के उपायमें प्रारम्भिक पौरुष सम्यग्दर्शन—देखिये—जैसे लोकमें पुरुषार्थयोग मिलनेसे अनेक काम बन जाते हैं ऐसे ही नियमसे मुक्तिका पुरुषार्थ और योग करनेसे मुक्ति मिलेगी ही, कहीं भागेगी नहीं, मिलनी ही पड़ेगी मुक्ति, उसके अनुसार पुरुषार्थ होने दो। वह पौरुष क्या है? तो आचार्योंने स्पष्ट बताया—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी सम्पूर्णता होना मुक्तिका पुरुषार्थ है। सम्यग्दर्शन मेरा जो सहजस्वरूप है अपने आपकी सत्ताके कारण उस रूपमें अपनेको मान लिया जाय कि मैं यह हूँ यह सम्यग्दर्शनहो गया। मैं मनुष्य हूँ ऐसा विश्वास मिथ्यात्व है, क्योंकि मनुष्य होना मेरा सहजस्वरूप नहीं है। मैं मनुष्यमात्र नहीं हूँ मनुष्यपना मिटे बादमें मैं मिट जाऊँ, ऐसी बात नहीं है। इस मनुष्यदेहमें रहकर भी मैं इस देहसे निराला एक ज्ञानस्वरूप परम पदार्थ हूँ। तो जो मैं अपने आप सहज हूँ दूसरेके सम्बन्धके बिना, उस रूपमें अपनेको मान लीजिए कि मैं यह हूँ। सम्यक्त्व हो गया। सम्यक्त्व हुए बिना कितने ही पौरुष कर लिए जायं, पर मोक्षका मार्ग नहीं मिलता। और मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम है, आप अपना सही विश्वास बना लीजिए।

सहजात्मस्वरूपके सिवाय अन्य भावोंमें आत्मत्वकी आस्थामें मिथ्यादर्शन—जो कुछ विश्वास आज लोग बना रहे हैं वे देखिये स्वरूपके खिलाफ हैं, इस कारण मिथ्यात्व हैं। मैं व्यापारी हूँ, अमुक चंद हूँ, अमुक लाल हूँ, अमुक काम करनेवाला हूँ अथवा मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, अमुकका पिता हूँ, अमुकका पुत्र हूँ अगर यह भीतरमें विश्वास पड़ा हुआ है कि मेरा ऐसा ही स्वरूप है, तो वह सब मिथ्यादर्शन है। यहाँ तक कि धर्मके नामपर भी यदि यह विश्वास पड़ा है कि मैं पुजारी हूँ, मैं सदगृहस्थ हूँ, मैं मुनि हूँ, यहाँ तक भी यदि इस देहमें आस्था चलती है तो वह भी मिथ्यादर्शन है। तब कैसा विश्वास होना चाहिए अपने बारेमें तब सम्यक्त्व कहलायेगा? मैं ज्ञानस्वरूप एक परम पदार्थ हूँ। ये अवस्थायें आयी हैं, मैं जैन हुआ हूँ, गृहस्थ हुआ हूँ, व्रती हुआ हूँ, त्यागी बना हूँ, मुनि हुआ हूँ, ये पर्यायें आयी हैं, पर इन पर्यायों मात्र मैं नहीं हूँ। अगर मैं इन पर्यायों मात्र ही हूँ तो फिर भगवान बननेका कोई उपाय न करना था, फिर इनको छोड़कर कैसे आगे बढ़ना होगा? तो अपने स्वरूपपर दृष्टि दीजिए। बड़े-बड़े मुनिजन अपने मुनिव्रतको पालते हुए भी उनके भीतरमें यह श्रद्धा बनी रहती है कि मैं मुनि नहीं हूँ, किन्तु मैं ज्ञान स्वरूप परम पदार्थ हूँ। यह पर्याय बीचमें आयी है जिसमेंसे गुजर मैं आत्माके धर्मका पालन करता हूँ। तो बड़े-बड़े ऋषिराजजो अपनी अवस्थावोंसे उपयोग हटाकर ज्ञानस्वरूप आत्मामें उपयोगले जाते हैं। तो अब गृहस्थजनोंका क्या कर्तव्य है कि जो कुछ समागम हैं उन समस्त समागमोंको कर्मजनित जानें, मायाजाल जानें, उनमें अटके नहीं और एक जो अपना सहज ज्ञानस्वरूप है, जिसको ब्रह्म कहते हैं उसका दर्शन करें उसमें लीन हों।

सहजात्मस्वरूपको अनुभवनेका अनुरोध—भैया, एक बार तो आत्मीय आनन्द पा लें, स्वानुभव करें, इसके लिए चाहे सारे तन, मन, धन, वचन, प्राण भी अर्पित करने पड़ें फिर भी एक बार आत्माके सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव तो जरूर हो जाना चाहिए। जिसको एक बार सम्यक्त्व हुआ उसका

सम्यक्त्व चाहे छूट भी जाय तो भी वह पुनः रत्नत्रय पायगा और मोक्ष जायगा। जो चीज अब तक नहीं पायी उसकी धुन बनाना चाहिए। संसारके वैभव अनेक बार प्राप्त कर लिए, आज कितना धन है, कितनी प्रतिष्ठा है, इससे अनगिनते गुने प्रतिष्ठा विभूति हम आपने अनेक बार प्राप्त की, पर उससे क्या काम बना? मरे फिर इन भवोंमें घूमते रहे। आज मौका है मुक्तिका उपाय बनानेका, अपने आत्माके स्वरूपकी पहिचानका। उसका उपाय है ज्ञानार्जन करना।

ज्ञानके प्रतिसातिशय भक्तिकी अद्भुत महिमा—देखिये, ज्ञानके प्रति बड़ी तीव्र भक्ति होनी चाहिए, तब केवलज्ञान का उपाय मिलेगा। और आत्माका सच्चा वैभव प्राप्त ज्ञान ही है जो हमारा रक्षक है वह ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है। तो इस ज्ञानस्वरूपकी भक्ति जितनी बने, अपूर्वकी जाय तो इस धारामें चलते-चलते हम निकट कालमें केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे और ज्ञानसे यदि विमुख रहे, कि ज्ञान कठिन चीज है, यह हमसे नहीं होता, तो साधारण रूपसे कोई कितने ही अन्य काम करले मगर ज्ञानकी उपेक्षा कर देनेसे तो उसे सही रास्ता न मिल पायगा। इसलिए ज्ञानार्जन अवश्य करना चाहिए। चाहे कितना ही कठिन विषय हो मानलो अस्वस्थ भी रहते, अधिक मेहनत नहीं कर सकते, फिर भी ज्ञानार्जन करनेके लिए निरन्तर उत्सुक रहना चाहिए। चूँकि ज्ञानस्वरूपमें रमना है इसलिए ज्ञानके प्रति बड़ी उमंग होनी चाहिए। वह ज्ञान क्या है? मेरा ही तो स्वरूप है ज्ञान। हम अपने आपके स्वरूपमें रम सकें यह कोई कठिन बात नहीं है। ज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें संतोष पाना, बाहरमें किसी भी जीवके प्रति कुभाव न करना, ईर्ष्या, बैर विरोध न करना और अपने आपके स्वरूपको देखकर प्रसन्न रहना, अपने ही समान दूसरे जीवोंका स्वरूप निरखना, ये हैं अपनी प्रगतिके उपाय। बुरे भाव करके हम किसी दूसरेका बुरा नहीं करते। स्वयं अपना बुरा करते हैं। तुरंत कर्मबन्ध होते हैं, तुरन्त आकुलता भीतर जगती और भगवानकी वाणीकी श्रद्धा न होनेसे याने उनकी आज्ञा न माननेसे दर्शनमोह तकका बंध हो जाता। तो छोटेभाव मेरेमें कभी न जगें, देव, शास्त्र, गुरुके प्रति हमारी निष्कपट भक्ति बने, ऐसा अपने भीतरमें भाव रहे, पौरुष रहे और हमारी अनुरागी जीवाके जितना अनुराग पिताका बेटे पर होता है उससे अधिक अनुराग देव, शास्त्र गुरुके प्रति होता है।

देवशास्त्र गुरुके प्रति सातिशय भक्तिका कर्तव्य व परीक्षण—देखिये कुटुम्ब बच्चे आदिक ये हमारे रक्षक न बन पायेंगे, ये हमारी विपत्तिमें मददगार न होंगे। मरणके बाद हमारे प्रेमका संस्कार हमको दुर्गतिमें ही ले जायगा, मगर देव, शास्त्र, गुरुके प्रति जो अनुरागी होगा वह पुण्यरस बढ़ायेगा। पाप्मन घटायेगा। वर्तमानमें भी रक्षक है और मरणके बाद सुगति मिलेगी तो वहां यह रक्षक रहा। और आप तोलिये कि कुटुम्बीजन, मित्रगण ये आपके लिए प्रिय होने चाहिए या देव, शास्त्र, गुरु ये प्रेय होने चाहिए। किसीका भी प्रेम अपेक्षासे निरखा जाता है। मानलो आपके पास दो बेटे हों तो इस पर प्रेम अधिक है यह बात आपने कैसे जाना? अपेक्षासे। उस दूसरेकी अपेक्षा इस पर प्रेम अधिक है। ऐसे ही देव, शास्त्र गुरुमें आपकी भक्ति है यह कैसे जाना अपने कुटुम्बसे, अपने परिजन से कितना प्रेम है उससे अधिक प्रीति हो, अनुराग हो, भक्ति हो तो समझिये कि हमको देव, शास्त्र, गुरु में भक्ति है। साधारण भक्ति को भक्ति न कहेंगे किन्तु अन्य की अपेक्षा अधिक भक्ति हो तो उसे भक्ति कहेंगे। और

अनुराग का परीक्षण यह है कि जिस पर विशेष अनुराग है उसके लिये यह अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करने के लिये तैयार रहता है। यदि देव, शास्त्र, गुरु में विशेष भक्ति न जगे, कुटुम्बजनोंके प्रति ही भक्ति जगे तो समझो कि हम धर्म मार्गमें नहीं बढ़ पा रहे। यदि हमारी भक्ति सबसे अधिक प्रभुके स्वरूपमें, शास्त्रोंके ज्ञानमें, शास्त्रोंकी आज्ञा माननेमें, गुरुजनोंकी सेवामें है तो हम संसारसे पार हो सकेंगे। यदि उन देव, शास्त्र गुरुकी अपेक्षा कुटुम्बीजनोंमें हमारा प्रेम अधिक है तो समझो कि पार होनेका अभी उपाय नहीं प्राप्त कर पाया।

व्यवहार धर्मोंका प्रयोजन आत्मधर्मपालन—भैया, यथोचित सब व्यवहार धर्मोंके उपायसे हमें अपने आत्माके धर्म में आना है, इसीको कहते हैं ब्रह्मचर्य। अब जो ब्रह्मचर्यको चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि शरीरके ब्रह्मचर्यका पालन करें। कोई मानलो शरीरसे ब्रह्मचर्य नहीं पाल रहा, कामासक्त है, विषयाभिलाषी है तो वह परमार्थ ब्रह्मचर्यके पालनका अधिकारी नहीं हो सकता, इसलिए संकल्पपूर्वक बड़ी दृढ़ताके साथ हमारा ब्रह्मचर्य व्रत पलना चाहिए। जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य व्रतको दृढ़तासे पालेगा उसके वचन सब इस अनुकूल बनेंगे कि वह आत्माके वास्तविक धर्मका पालन कर सकता है। तो गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत जहां समस्त स्त्रियोंका त्याग है और अपनी पत्नीमें संतुष्ट है उस गृहस्थकी धुन और दृष्टि अपने इस आत्मविकासपर रहा करती है। ऐसा शुद्ध सद्गृहस्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीड़ावित्त्वविपुलतृषः ।

इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः ॥ ६० ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार—जिन श्रावकोंने पञ्चअणुव्रतका धारण किया है वे श्रावक अपने ब्रह्मचर्यव्रतमें अतिचार भी नहीं लगाते। अतिचार कहते हैं दोषको। ऐसा दोष जिस दोषके रहते हुए व्रतका थोड़ा लगाव रहे पर दोष कहलाये। ऐसे दोष ५ होते हैं—(१) पहला अतिचार है अन्यविवाहाकरण। अपने पुत्र पुत्रीके सिवाय दूसरेकी पुत्र पुत्रियोंका रागी रोप करना, विवाह कराना यह अन्यविवाहाकरण नामका अतिचार है। सद्गृहस्थको यह शौक न रहेगा कि मैं यहां वहांके विवाह करवाऊं, ऐसा उसके राग न रहेगा, पर जो घरमें हैं पुत्र पुत्री आदिक उनका तो जुम्मा है ही। उनका वह सम्बंध बनाता है, पर अन्यका सम्बंध बनानेका राग नहीं रहता ऐसा होता है ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक। यदि वह राग है तो ब्रह्मचर्याणुव्रतमें अतिचार है, कुछ थोड़ा सा राग है उस सम्बन्धमें इस कारण दोष है। (२) दूसरा दोष है अनङ्गक्रीड़ा। कामसेवनके अंगोंसे भिन्न अंगोंसे क्रीड़ा करना अनङ्ग क्रीड़ा दोष है। यह दोष भी ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावके नहीं होता। (३) तीसरा दोष है वित्त्व—वित्तरूप धरना, पुरुषका, स्त्रीका स्वांग बनाकर उस तरहके मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना यह अतिचार है। जो ब्रह्मचर्याणुव्रती है वह भेष स्वांग क्यों बनायेगा? और उस स्वांगके द्वारा अपने मन, वचन, कायकी चेष्टा क्यों करेगा? (४) चौथा अतिचार है अतिप्रसंग, मायने परस्त्रीका तो पूर्ण त्याग है ही श्रावकका, पर अपनी पत्नीसे भी काम विषयक तृष्णा होना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका अतिचार है, क्योंकि गृहस्थधर्म निभानेका प्रयोजन तो यह है कि चूँकि हम मुनि धर्मका पालन नहीं कर पाते तो इसलिए गृहस्थ धर्ममें रहकर ही बहुतसे

अपराधोंसे बचे रहेंगे, पर यदि कोई उसको विषयका साधन ही मानता है तो उसके लिए दोष है। (५) पांचवां दोष है इत्वरिकागमन—व्यभिचारी स्त्रीके घर जाना, उसको अपने घर बुलाना, उससे अपना लेन देनका सम्बंध रखना, परस्पर वार्ता करना, रूप शृङ्गार देखना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका अतिचार है।

निरतिचार ब्रह्मचर्यके धारककी श्रेष्ठता—अतिचार कोई करता है तो उसकी स्वच्छन्दता होनेपर अनाचार बन जाया करता है। इसलिए श्रावक अतिचारसे भी दूर रहता है। श्रावकका ध्येय ब्रह्मचर्यकी परम रक्षा करना है। यह ब्रती देवोंके द्वारा भी पूज्य है। सो सदगृहस्थ अपनी विवाहित स्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रियोंको मां बहिन पुत्रीके समान निरखता है। और मां बहिन, पुत्री आदिकसे भी वार्ता एकान्त स्थानमें नहीं करता। यद्यपि लगता होगा ऐसा कि घरमें है, मां ही तो है, पुत्री ही तो है बहिन ही तो है। बात होती ही है मगर ब्रह्मचर्याणुव्रतका जिसने संकल्प किया वह सम्भावनाकी बातोंसे भी अलग रहता है। इसलिए एकान्तमें उनके समीप भी न बसे। अन्य स्त्रियोंसे मुख जोड़कर, आंखें जोड़कर वार्ता न करना, वैसे आंखें हैं, सब दिख जाता है मगर एक राग होना जो एक लक्ष्य बनाकर वार्ता करे तो वह अतिचार है। और यही प्रकृति प्रवृत्ति कभी बढ़-बढ़कर अनाचारका रूप धारण कर लेती है। शीलवान पुरुष ब्रह्मचर्याणुव्रती तो अन्य स्त्रियोंको देखकर अपने नेत्रोंको बंद कर लेते हैं या अपने किसी कार्यमें ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे समस्त बाहरी दोषोंसे बचता हुआ सदगृहस्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है।

ब्रह्मचर्यके निर्दोष पालनकी पूरक पञ्च भावनाओंमें आदिकी चार भावनायें—ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिए ५ विशिष्ट भावनायें आचार्यों ने बताया है। (१) पहली भावना है स्त्रीराग कथाश्रवणत्याग—स्त्री विषयक राग सम्बंधी कथावोंके सुननेका त्याग होना। ऐसी कथायें भी न सुनेगा जिनमें रागका सम्बंध हो। यह है ब्रह्मचर्याणुव्रतीकी पहली भावना। तो कहां श्रवण है पर उस श्रवणमें जैसे पौराणिक कथायें हैं, सीताजीकी कथा है या अन्य कोई कथायें, वे भी स्त्रीविषयक कथायें हैं मगर वे धार्मिक हैं और शीलव्रतका पोषण करने वाली कथायें हैं। इसलिए प्रत्येक कथाके सुननेका त्याग नहीं, किन्तु जिन कथावोंके सुननेसे रागभाव पैदा हो उनके सुनने का त्याग रहता है। (२) दूसरी भावना है तन मनोहारांग निरीक्षण त्याग। स्त्रियोंके सुन्दर अंगोंको देखनेका त्याग होना। मुख, हाथ पैर आदिक जो भी अंग, उनके देखनेका त्याग रहता है ब्रह्मचर्यके प्रेमीको। ऐसी प्रवृत्ति वह नहीं रखता कि जिसमें रागका एक द्वारमिल जाय जिससे कि वह हृदयमें पनप सके। (३) तीसरी भावना है भोगे हुए भोगोंकी याद न करना। पहले कालमें कोई भोग भोगे थे, ये भावनायें चूँकि गृहस्थमें भी चलती हैं और मुनियोंमें भी चलती हैं, पर साधारण भावनायें हैं इसलिए सब पर अर्थ लगेँगे। जो पहले भोग-भोगे उनका त्याग होनेपर अब उनका स्मरण तक भी नहीं करता है कि मैंने ऐसे भोग भोगा था क्योंकि उसके स्मरणमें पुनः रागकी भावना बन सकती है। इस कारण ब्रह्मचर्यव्रतका अनुरागी पूर्व भोगे हुए भोगोंका भी नहीं भोगता। (४) चौथी भावना है इष्टश्रेष्ठ रस त्याग। हृष्टपुष्ट कामोद्दीपन करने वाले भोजनका त्याग करना। जिससे एक कामवासना बने ऐसे रसीले चटपटे भोजनका त्याग होता है ब्रह्मचर्यव्रतके प्रेमीको। शरीरके लिए जितना आवश्यक है वह सब साधारण भोजन ही पूर्ति कर देता है मगर गरिष्ठ या अन्य कोई ऊंची दवाइयोंके ऐसे प्रयोग ये ब्रह्मचर्यव्रतमें बाधक हुआ करते हैं।

ब्रह्मचर्यकी पूरक पञ्च भावनाओंमें अन्तिम भावना—(५) पांचवी भावना है स्वशरीर संस्कार त्याग । अपने शरीरका संस्कार त्याग देना, शरीरको बड़ा सजाकर रखना, अब गृहस्थमें भी यह भावना है और मुनिमें भी यह भावना है तो कोई गृहस्थ बड़े चटकीले कपड़े पहने और नई-नई डिजाइनें पसंद करे, इस तरहके अनेक शौक बनाये तो वह शरीरका संस्कार बनाना है, ये ब्रह्मचर्याणुव्रतमें बाधक है । वास्तविकता तो यह है कि यह श्रावक घरमें तो रह रहा है मगर चित्त इसका कल्याणकी ओर ही रहता है । जगतको इसने असार जान लिया । जगतके समागमोंमें आत्माका कोई कल्याण नहीं है, यह बात हृदयमें भली भाँति बैठ गई । अब एक संस्कारका क्या भाव रहेगा ? वैसे तो जो ज्ञानी है, शान्त है वह किसी भी प्रकार रहे कमीजके बटन खुले हैं तो परवाह नहीं, टोपी टेढ़ी है तो परवाह नहीं, कोई भी स्थितिहो, यदि ज्ञानी है, परोपकारी है तो उसकी वह स्थिति भी लोगोंको सुहा ही जायगी । गांधीजी की पोषाकके विषयमें सुना ही होगा । जब वह कुर्ता पहनते थे तो उनके कुर्तके एक दो बटन खुले ही रहते थे, कैसी ही मुद्रामें रहते थे, मगर वे भी लोगोंके द्वारा आदरणीय बन गए । तो प्रसिद्धि, यश ये सब शान्ति और परोपकार पर निर्भर हैं । सो इसके लिए शान्ति परोपकार नहीं है, वे तो आत्माको विशुद्ध रखनेके लिए शान्ति और परोपकार है । तो जो आत्मकल्याणकी धुन रख रहे हैं ऐसे श्रावक अपने शरीरके संस्कारमें क्या अनुराग करेंगे । सो ब्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करने वाले गृहस्थकी ये भावनायें रहती हैं ।

इस लोक व परलोककी आपदाओंसे बचनेके लिए ब्रह्मचर्यव्रतकी अत्यावश्यकता— ब्रह्मचर्याणुव्रत क्यों आवश्यक है प्रत्येक गृहस्थको ? इस ब्रह्मचर्यके विरुद्ध प्रवृत्ति करेगा तो वह गृहस्थ इस लोकमें भी दुःख पायगा और अगले भवमें भी दुःख पायगा । जो कुशील पुरुष है, जो नामसे उन्मत्त है । स्त्री विषयक रागकी वासनासे जिसकी बुद्धि ठगाई गई है वह विचार रहित कार्य और अकार्यको न जानने वाला मंद बुद्धि हो जाता है । कर्तव्य अकर्तव्यका वहां ध्यान नहीं रहता जिसके चित्तमें कामवासनाका घर बना हुआ है । वह पाप और पुण्यको कुछ नहीं देखता । पुण्यकी बात तो वहां होगी ही क्या ? पापसे उसे डर ही नहीं रहता, क्योंकि बुद्धि उसकी भ्रष्ट हो गई है और काम वासनासे हृदय भर गया है । भला देखिये पशु भी आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चारों संज्ञाओंमें रहते हैं, यह मनुष्य भी यदि उसी प्रकार की प्रवृत्तियोंमें रहे तो मनुष्यमें और पशुमें क्या भेद रहा ? बल्कि प्रकृति देखिये कि पशुवर्गके तो अपने ऋतु और समयपर ही काम वासना बनती है किन्तु पुरुषोंके तो निरन्तर कामवासना रहा करती है । तो यह जन्म किसलिए पाया ? तो इस लोकमें भी बड़ा दण्ड मिलता है । छोटे लोग भी पीट देते हैं । सर्वस्व हरण तकका भी दण्ड मिलता है और मरकर परलोकमें दुर्गति पाता है । तो भला ऐसे कुवासना खोटे भावोंसे आत्माका अकल्याण है । अपने आत्मस्वरूपको निरखिये । यह स्वयं अविकार स्वरूप है । जो अपनी सत्ताके कारण सहज स्वरूप है उसमें विकार रंच नहीं है । हां वैभाविक शक्ति है । उस अनादिसे अशुद्ध जीवका निमित्त पाकर विकार उत्पन्न करले, मगर स्वरूपमें विकार नहीं है । हम अपने स्वरूपका ही आदर करें और अपने स्वरूपमें ही लीन होनेका यत्न करें । इसके अतिरिक्त बाहरी प्रवृत्तियां तो इस जीवको भटकाने वाली हैं ।

धनधन्यादिग्रन्थं परिमाण ततोऽधिकेषु निः स्पृहा ।

परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥

श्रावकोंके परिग्रहपरिमाणकी महिमा—अब परिग्रह परिमाण अणुव्रत का स्वरूप कहा जा रहा है। देखिये गृहस्थकी सारी दशायें बदलने वाला निर्दोष और आत्मकल्याणमें लगाने वाला यह परिग्रह परिमाणानुव्रत है। धन धान्यादिक परिग्रहोंका परिमाण कर लेना कि मैं इससे अधिक धन न रखूँगा। और इससे अधिककी वाञ्छा भी न करूँगा, यह परिग्रह परिमाणानुव्रत है। परिग्रहका परिमाण उतना रखना जितनमें संतोष हो जैसी वर्तमान परिस्थिति है उससे कुछ अधिक भले ही हो मगर बहुत अधिक अतिक्रम न करना। जैसे कोई यों कहने लगे कि मैं दो हाथी रखूँगा, इतने घोड़े रखूँगा ... तो परिमाण तो किया पर परिमाण सम्भव हुआ ही करना चाहिए। इसका नाम इच्छा परिमाण है। जिसके परिग्रह वर्तमानमें कम है मगर परिमाण अधिकका रखले तो इतना तो हो ही गया कि उससे अधिक परिग्रहकी भावना न रहे चित्तमें और इस कारणसे निर्दोष है और बुद्धिमें भी स्वच्छता आती है। परिग्रह यह समस्त पापोंका मूल है। खोटा ध्यान इसी परिग्रह भावनासे होता है। परिग्रह भावनासे तो त्यागी व्रती मुनियों पर भी संदेह होने लगता है। एक कथानक है ऐसा कि एक श्रावकके यहां मुनिराजने आहार किया। उस घर कहीं कोई रत्न रखा था, उसे किसी मुर्गीने खा लिया था पर घर वालों ने समझा कि मुनिराज उठा ले गए। अब वह गृहस्थ पहुंचा जंगलमें मुनिराजके पास और ऐसी-ऐसी चर्चायें उनसे करने लगा कि जिनमें यह भाव भरा था कि हे मुनिराज तुम मेरा रत्न घरसे चुरा लाये हो। आखिर बादमें एक योग ऐसा हुआ कि उस मुर्गीने उस रत्नको कय कर दिया, वहां वह रत्न पाकर अपनी भूलपर उस गृहस्थको भारी पछतावा हुआ। तो इस परिग्रहके लगावमें बड़े बड़े संदेह और दुर्भाव बन जाते हैं। किसी ने मानो बैंकमें कुछ रकम जमा कर रखा है तो उसके मनमें कभी-कभी ऐसा संदेह होता कि कहीं यह बैंक फेल न हो जाय और हमारी रकम डूब जाय। तो इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करने वाले परिग्रहसे तो विरक्त ही रहना चाहिए। और उसे अत्यन्ताभाव वाला निरखना चाहिए।

सहजात्मस्वरूपके अनुभवकी परमकलाकी महिमा—भेदविज्ञानसे, वस्तुस्वरूपके परिचयसे कौनसी ऐसी कला प्रकट हो जाती है जिससे यह जीव निशंक होकर मोक्षमार्गमें बढ़ता है। वह कला है वस्तुस्वरूपके परिचय की। देखिये बड़ी-बड़ी चर्चायें तो दूर रहीं, जो साधारण गुण बताये गए हैं वे सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं, उन साधारण गुणोंकी दृष्टिसे ही एकदम भान हो जाता कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ रंच भी सम्बंध नहीं है। तो साधारण गुण ६ बताये गये हैं—(१) अस्तित्व—याने पदार्थमें सत्ता बनी रहे। (२) वस्तुत्व—द्रव्य अपने स्वरूपसे सत् रहे, पर रूपसे असत् रहे, लो इसीने भेदविज्ञान जगा दिया। जब प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है तो अब सम्बंध क्या रहा? न एक द्रव्य दूसरेमें गया, न क्षेत्र, काल, भाव दूसरेमें गया। जो यह कहा जाता है कि अमुकका प्रभाव अमुक पर पड़ गया सो क्या यह सही बात है कि एकका प्रभाव दूसरेमें आ जाय? वस्तुस्वरूप यह है कि दूसरा इस ही योग्य था कि उसे देखकर वह अपनेमें ऐसा प्रभाव बना लेता है। प्रत्येक पदार्थ अपने

ही चतुष्टय में है, अपने ही द्रव्यसे है, अपने ही प्रदेशसे है, अपनी ही परिणतिमें है, अपने ही गुणोंमें है। एक का दूसरेके साथ रंच सम्बंध नहीं है। चाहे अन्य पदार्थ चेतन हों या अचेतन, यह जीव अनादिकालसे अब तक जो भ्रमता चला आया है उसका कारण है कि यह अपने सहज आत्मस्वरूपको नहीं पहिचान पाया। यह मैं एकत्वविभक्त हूं। समग्र अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा हूं और अपने आपके एकत्वस्वरूपमें तन्मय ऐसा यह मैं सहज परमात्म पदार्थ हूं। ऐसे अनुभवसे सहज ही सकल कर्म संकट दूर हो जाते हैं।

विनश्चर समागमकी प्रीतिकी व्यर्थता—देखिये कुटुम्बमें स्त्री पुत्रादिकमें थोड़ी देरको राग दिया जा रहा है, जिन्दगीभर भी करे तो वह थोड़ी देरको ही तो कहलाया। अनन्त कालके सामने यह १००—५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता? पर इतने छोटेसे जीवनमें जो रागभाव किया उसका फल संसारकी इन कुयोनियोंमें भ्रमण करना होता है और फिर भला बतलावो इससे पहले भवमें कोई अधिक वर्ष तो नहीं गुजरे हैं। किसीके ४० वर्ष गुजरे किसीके ५० वर्ष गुजरे तो इससे पहले जो हम किसी पूर्वभवमें थे, वहां भी तो समुदाय होगा, समागम था, कुटुम्ब था। उस कुटुम्बमें अनुराग जो किया उस अनुरागके फलमें आज तक क्या संतोष मिल रहा? क्या सुख मिल रहा? तो जैसे पहलेके समागमोंसे मेरेको कोई शान्ति नहीं, सुख नहीं वैसे ही आज भी जो समागम पाया उस समागमसे भी कोई संतोष या सुख नहीं मिल सकता। तो वास्तवमें परिग्रह तो मूर्छा है। तो ये पदार्थ जायेंगे कहां? कहीं लोकसे बाहर तो न पहुंच जायेंगे। ये वहीं रह रहे हैं, बस उनको अपना लिया, उनमें राग किया, मूर्छा उनमें होने लगी, परिग्रह बन गया तो इस जीवका बाहरी पदार्थ तो कुछ है ही नहीं। कभी नहीं है। तीन कालमें भी कोई दूसरा पदार्थ मेरा कुछ न हो सकेगा। अत्यन्ताभाव है पर यह मोही आत्मा अपने आपके स्वरूपमें न टिककर चेतन अचेतन पदार्थोंमें अनुराग बनाता है, मोह बनाता है और उससे ही अपना बड़प्पन मानता है।

परिपूर्ण निःसंग एकत्वकी स्थितिमें परम आनन्दका स्थायित्व—इस प्राणीको यह खबर नहीं है कि जितना मैं अकेला होता जाऊंगा उतना ही मेरा बड़प्पन बढ़ता जायगा। स्वर्णकिट्टकालिमा मलोंसे मलिन है और वह स्वर्ण उन मैलोंमें घुलमिलकर रह रहा है और जब अग्नि ताप आदिकके द्वारा उसका मैल जल जाता है, दूर होता है। स्वर्ण अपनी अकेली अवस्थामें आता है तब उस स्वर्णका बड़प्पन बढ़ जाता है। यहां हम आप भी ये तीन चीजोंके पिंडोला दिख रहे हैं—(१) शरीर, (२) कर्म और (३) जीव। ये तीनों ही मिलकर रह रहे हैं तो उसका फल क्या हो रहा कि जीव भी बिगड़ रहा, कर्म भी बिगड़ रहे शरीर भी बिगड़ रहा। जो परमाणु आज शरीर रूपमें बने हुए हैं जब मैंने उन्हें ग्रहण न किया था तब वे कितनी अच्छी शकलमें थे, उनमें हाड़, मांस, लोहू आदिक थे क्या? अरे वे गंदी हालतमें न थे। पर उन परमाणुओंको जैसे ही ग्रहण किया वैसे ही हड्डी, मांस, खून आदि नाना प्रकारकी अपवित्र चीजें बन जाती हैं। तो लो शरीर बिगड़ा कि नहीं बिगड़ा? इन तीनोंके मेल मिलापसे किसका भला है? किसकी सुन्दरता है? कर्मकी बात देखो—जब तक वे कार्माण वर्गणा रूपमें थे, उनको कर्मत्व न बनाया गया था। तब तक वे अनुभागसे रहित थे। जैसे ही अशुद्ध विकारका निमित्त पाकर वे कार्माण वर्गणाये कर्मरूप बनीं, उनमें अनुभाग आ गया और जैसे सनीमाके पदों पर जो कुछ भी चित्र

आप निरखते हैं वह फिल्मकी रंगाई कहो, गंदगी कहो, बस वही-वही झलकती रहती है। तो ऐसे ही **मुझ आत्मामें जो विकार झलक रहे वह कर्मकी गंदगी ही झलक रही।** कर्मरूप बंधेतो कर्ममें ऐसे अनुभागकी गंदगी आयी और जीवमें वह दिख ही रही है कितनी हालत बुरी है। यह अपने आपमें नहीं टिक पाता, निर्विकल्प नहीं हो पाता, शान्त नहीं रह पाता। तो इन तीनके मोहमें तीनों ही तो बिगड़ गए। अकेला हो जाय तो लो शरीरके परमाणु भी भीतर न रहे। शरीररूपताको छोड़कर जैसी शकल पहले थी उस शकलमें आ गए। यों वे भी ठीक रहे, अकर्मरूप हो गए, कार्माणवर्गणायें वे भी ठीक रहीं, और सबसे निराला अकेला यह चैतन्य स्वरूप हो गया, मायने सिद्ध भगवानहो गया तो यह भी अनन्तकालके लिए, सदा के लिए सब ठीक हो गया।

सर्वव्रत शील सदध्यानोका आधार सहजात्मस्वरूप परिचय—अहो जो बात सदाके लिए भली मिल सकती है उसकी उपासना नहीं है, ऐसा प्रबल मैल छाया है, और जो अध्रुव है, भिन्न है, विपत्तियोंका धाम है ऐसे परपदार्थोंमें इस मोहीका उपयोग उलझा हुआ है। सो जिसने अपने आत्माका यह स्वरूप जाना वह परिग्रहसे विरक्त रहता है और जिसके परिग्रहसे विरक्ति है वे ही परिमाण कर पाते हैं और उस परिग्रहके परिमाणको निभा लेते हैं, अन्यथा सम्यग्ज्ञान हुए बिना भावुकतामें कुछ भी व्रत ग्रहण कर लेनेपर वे निभ नहीं पाते, क्योंकि भीतर ज्ञान प्रकाश उतना हो नहीं सकता। इससे परिग्रहपरिमाण अहिंसाव्रत सभीका मूल है अपने आपके अविकार चैतन्यस्वरूपका अनुभव पा लेना और उस स्थितिमें सहज आनन्द जोगेगा उसके अनुभवके बलसे स्पष्ट उसे जाहिर हो गया कि अन्य समस्त समागम मेरे लिए सारभूत नहीं। मैं अपने ही अनन्त ऋद्धिसम्पन्न इस चैतन्यस्वरूपमें ही मग्न रहूं। इस ही में मेरी पवित्रता है और सदाके लिए कल्याण है।

कषायके आश्रयभूत बाह्यपरिग्रहके त्यागसे शान्तिके उपायकी संभवता—इस जीवको कष्ट देने वाला कषायभाव है। भीतरमें जहां क्रोध, मान, माया, लोभादिक कोई कषाय जगी तो उस कषायसे यह भगवान आत्मा वहीं ही तप्त हो जाता है और ये जितने परिग्रह हैं अंतरंग परिग्रह बहिरङ्ग परिग्रह, चेतन परिग्रह अचेतन परिग्रह, ये सभी कषायभावको बढ़ानेके साधन हैं, इस कारण परिग्रहका त्याग करना बना। त्याग न बने तो परिमाण करना यह आत्मकल्याणके लिए लाभदायक है। एक प्रश्न है कि बतलावो कौनसा पुरुष है ऐसा जो स्त्रीजनोंके वशमें नहीं है? कौनसा पुरुष है काम विकारसे जिसका मन खण्डित नहीं हुआ है, कौनसा पुरुष है ऐसा जो इन्द्रियके द्वारा जीता नहीं गया? और कौनसा पुरुष है वह जो कषायसे संतप्त न हो? ये चार प्रश्न किये हैं इनका उत्तर एक है। जिसने अंतरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग किया। जो अन्तर बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण नहीं करता वह पुरुष है, ऐसा जो स्त्रीजनोंके वश नहीं है, जिसका मन कामवासनासे खण्डित नहीं हुआ, जो इन्द्रियके द्वारा जीता नहीं गया, जिसे कषायोंने दबाया नहीं। वह पुरुष है जिसने कि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व परिग्रहोंका त्याग किया। धर्मसाधनाकी सबकी अभिलाषा बनी है। मंदिर आते हैं, जल्दी नहायेंगे, स्वाध्याय करेंगे, अनेक कार्य करेंगे। सबके चित्तमें भाव है कि मैं धर्मसाधना करूं। मगर धर्मसाधनाकी मौलिक विधि, सिस्टेमेटिक विधि यह है कि पहले भीतरका वह ज्ञान प्रकाश पायें जिसमें अपनेका और परका सही-सही

बोध हो। यह तत्त्वज्ञान हुए बिना धर्मपालन हो ही नहीं सकता। धर्मके नामपर मंदकषाय है, उसके पुण्य हो जायगा, पर जिसे कहते हैं कि मोक्षमें लग गया, मोक्षमार्गमें आ गया, वह बात न हो पायगी जिसके स्वपर विवेक वाला तत्त्वज्ञान नहीं है। तो यहां इसी बातको देखिये कि यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र स्वयं स्व सहज ऋद्धि अतिशयोंसे सम्पन्न हूं जिसका प्रभाव यह है कि यह दुःखी न रहे। वह सब कला मेरेमें है। ऐसा स्वरूप मेरेमें है और इसे छोड़कर मायने अपने सिवाय जगतमें जितने भी पदार्थ हैं चेतन अचेतन जितने भी समागम हैं ये समागम मेरे हितके काममें न आ पायेंगे, बल्कि इनमें लगाव, मन होनेसे मेरा बिगाड़ चल रहा है। यह बात खूब ध्यामें जमा लीजिए।

ममत्वत्याग बिना धर्मवत्सलताकी असंभवता—भैया ! मरते समय तो ध्यानमें आ ही जायगी यह बात, प्रायः आ ही जाती। जब जान रहे कि मैं जा रहा हूं, मर रहा हूं, यह धन, मकान, ये सब मेरे क्या कामके हैं। पड़े रहेंगे, मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं। अज्ञानी होंगे तो संक्लेश करेंगे कि हाय यह सब छूटा जा रहा, ज्ञान होगा तो मरण समयमें विरक्ति बढ़ेगी। तो आखिर मरण समयमें यह बात कुछ ध्यानमें आयगी। भला है कि अपने जीवनमें ही यह बात समझ लीजिए। यदि यह स्पष्ट प्रकाश रहे कि ये चेतन अचेतन सभी पदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, इस समय भी ये मेरे हितके काम नहीं हैं। बल्कि इनका ख्याल करके जो राग बन रहा है और द्वेष बन रहा है वह मेरे अहित में है। यह बात ध्यानमें जमी हो तो धर्मपालनकी बात बनेगी और परिग्रहकी तृष्णाका भाव चित्तमें है तो वहां धर्मपालनकी बात न बन सकेगी। दोउ काम नहीं होय सयाने। भोग विषय और मोक्षमें जाने ॥ जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकते ऐसे ही एक उपयोगमें परिग्रहकी तृष्णा बनी रहे, विषयोंकी तृष्णा बनी रहे और मोक्ष मार्ग भी चलता रहे। ये दो बातें कभी नहीं हो सकती हैं। चाहे एक म्यानमें दो तलवार जबरदस्ती करके डाल भी दी जायें यह तो सम्भव हो सकता क्योंकि म्यान कुछ बड़ी बन सकती, मगर मोक्षमार्गमें ये दोनों बातें एक साथ न चलेंगी कि इन्द्रिय विषयोंकी तृष्णा भी बनी रहे और मोक्षमार्ग भी चलता रहे। आखिर कितना सा जीवन है? यदि अपने भाव निर्मल बन सके तो इस भवमें भी सुखी रहेंगे और आगे भी सुखी रहेंगे। और यदि भाव बुरे रहे, दूसरेके अहितके रहे, दूसरोंपर कषायोंके रहे तो इस समयमें भी चित्त दुःखी रहेगा, और जो खोटा बंध किया उसके फलमें आगे भी दुःख मिलेगा।

विवेकबलसे आत्मसंबोधनमें बुद्धिमानी—भैया, विवेकी बनें। छोटे बच्चोंको तो खूब समझा लेते, देखो बेटा राजा बेटा बनो, राजा बेटा ऊधम नहीं करते, हठ नहीं करते, तुम तो राजा बेटा हो। अरे जरा अपने भी ऊपर इस उपयोगको समझालो कि ऊधम न करो, अन्य पदार्थोंकी ओर ही उपयोग लगाकर अपना जीवन मत खोवो, तुम तो भगवान स्वरूप हो। तुम्हारेमें तो बड़े ज्ञान और आनन्दका अतिशय पड़ा हुआ है। जरा समझा लो अपनेको। और न समझावोगे तो बरबाद कौन होगा? खुद ही तो बरबाद होगा। सो काम, स्त्री, तृष्णा इनके वश वही पुरुष हैं जो अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंको ग्रहण करता है, जो ग्रहण न करे वह निमिताधीन नहीं। जो लोभका त्यागकर निर्दोष रसायनसे निर्दोष हुआ है वह इस दुष्ट तृष्णाको खतम कर देता है। इस जीवको मथ-मथकर पीड़ित करने वाला कषाय

तृष्णा है परिग्रहकी तृष्णा, सो ऐसा जानकर श्रावकजन परिग्रह परिमाण करके रहें, जिसका उद्देश्य सही बना उसके तो चलेगा जीवनमें योग्य आचार और जिसने अपना उद्देश्य ही नहीं बनाया है सही उसका जीवन अटपट चलेगा और कभी शान्ति न मिल जायगी। जैसे नावको पतवारसे कितने ही लोग खेंवे तो उससे तो नाव आगे बढ़ती चली जायगी मगर नाव किस दिशामें जाय यह उस नावके पीछे रहने वाले कर्णधार पर निर्भर है। कर्णधारका नाम है दिशा देना। कर्णधार जिस दिशाका संकेत देगा नाव उस तरफ बढ़ जायगी। तो ऐसे ही समझ लो, यह जीव क्या-क्या पुरुषार्थ नहीं कर रहा, सभी उद्यम कर रहा, तेज उद्यमकर रहा, लड़ने वाले लड़ानेका उद्यम कर रहे, धनार्जन करने वाले धनार्जनका उद्यम कर रहे, और यहां वहां जिसको जो रुचता है वह उसका उद्यम कर रहा, सो चल तो रहा यह जीव बहुत तेज मगर सम्यग्दर्शनरूप कर्णधार जिसके पास है वह मोक्षमार्गमें तेज चल रहा और सम्यग्दर्शनका कर्णधार जिसके नहीं है वह अटपट तेज चल रहा है।

वैभवके लगावकी निपट बेहोशी—राजा भोज एक बहुत बड़ा ज्ञानप्रिय माना जाता था। ज्ञानकी बात सुननेपर मनमाना पुरस्कार दिया करता था। एक बार एक कविको बहुत दिनोंसे कुछ नहीं मिला, भूखों रहने लगा तो उसने सोचा कि अब क्या करूं, चोरी ही करना चाहिए। मगर छोटे लोगोंके यहां क्या चोरी करना, राजाके यहां ही चोरी करना चाहिए। सो एक दिन रात्रिके समय मौका पाकर वह राजाके भवनमें घुस गया। उसको छिपनेको कोई ठीक-ठीक जगह न मिली तो राजाके पलंगके नीचे ही छिप गया। राजा आया, शयन करने लगा। अब उसे नींद आये नहीं सो एक रचना करने बैठ गया। अपने वैभवका वर्णन उस रचनामें करने लगा। छन्दके तीन चरण तो बन गये, चौथा चरण नहीं बन पा रहा था, सो वे तीनों चरण बार-बार दुहरा रहा था, चौथा चरण उससे बने ही नहीं। वे तीन चरण इस प्रकार थे—

चेतोहराः युवतयः सहृदोऽनुकूलाः । सद्बन्धवा, प्रव्रतिगर्भगिरश्च भृत्याः । गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलाः तुरंगाः ।

उन्हें सुनकर उस चोर कविसे न रहा गया और नीचेसे बोल उठा—सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति। अब राजाके तीन चरणोंमें तो यह लिखा था कि मेरे पास चित्तको हरने वाली इतनी स्त्रियां हैं, इतने घोड़े हिनहिनाते हैं, इतने हाथी गरजते हैं, इतने आज्ञाकारी नौकर हैं, सभी लोग हमारे बड़े आज्ञाकारी हैं। तो उस चोर कविने चौथे चरणमें यह कहा कि आँखें मिच जानेपर ये सब कुछ नहीं रहते हैं। तो उस चौथे चरणको सुनकर सहसा ही अवाक रह गया, (सोचकर) अरे यह कौन बोला (नीचे देखकर) अरे भाई तुम कौन हो? चोर (बाहर निकलकर) राजन मैं चोर हूं। ... नहीं नहीं तुम चोर नहीं, तुम तो हमारे गुरु हो। हम अभी तक बहुत भूलमें थे। अपने प्राप्त वैभवको ही हम अपना सर्वस्व समझ रहे थे, पर तुमने मुझे सम्बोधा कि आँखें मिच जाने पर फिर ये अपने कुछ न रहेंगे। आखिर उस चोर कविने अपनी बात सुनाया, राजाने बड़ा पुरस्कार देकर विदा किया। तो उस चोर कवि की बात अपने ऊपर क्यों न घटावें। केवल बोलने सुननेके लिए वह बात नहीं है। भीतरमें अपनी अपनी बात सब निहारो, क्योंकि इस संसारमें खुदके खुद ही जिम्मेदार हैं। इन असार भिन्न सत्तावाले पदार्थोंके बारेमें, इन चेतन अचेतन पदार्थोंके विषयमें कल्पनायें, रागद्वेष, हठ, और आसक्ति चल रही है

क्या, इसका विचार तो करलें। अगर हठ और आसक्ति चल रही है तो समझो कि हम पर बहुत बड़ी विपत्ति छाया है, निकट कालमें ही बड़ा कष्ट मिलेगा।

बाह्य वैभव न होनेपर भी मूर्च्छाके कारण कष्टाक्रान्तता—जितने भी कष्टकारी कदम है उन सबका आधार है मूर्च्छा। मूर्च्छाको ही भगवानने परिग्रह बताया है। तब बाह्य परिग्रह चाहे कम हो, पर मूर्च्छा अधिक हो तो वह तो बड़ा परिग्रह कहा जायगा। जिसके बाह्यपरिग्रह अधिक है और मूर्च्छा अल्प है तो वह अल्प परिग्रह कहा जायगा। बाह्य परिग्रहसे रहित तो दीन दरिद्री भी हैं, पर उनके अन्तरङ्ग परिग्रह तो लगा है विकट। और ऐसे कितने ही मनुष्य हैं जो कि जन्मके बादसे ही मांगना शुरू कर देते हैं। ४-६ वर्षके बालक अब भी स्टेशनोंपर, बस अड्डोंपर मांगते हुए पाये जाते हैं। वे तो बेचारे फटे पुराने वस्त्र पहने रहते, कोई टूटा फूटा एल्मोनियम या टीनका बर्तन रखे रहते, मांगते खाते अपना समय बिताते हैं। पासमें एक पैसा नहीं। बड़े नम्र भी दिखाई पड़ते हैं दूसरोंके द्वारा अपमानजनक शब्द भी सुनकर हंस हंसकर टाल देते हैं लगता तो ऐसा है कि निष्परिग्रह तो वास्तवमें वे हैं, पर ऐसी बात नहीं है। उनके पास तो कुछ नहीं है, पर मूर्च्छा उनको इतनी होती कि वे दुनियाका सारा वैभव चाहते हैं अन्तरंग परिग्रह उनके साथ बड़ा तेज लगा है। तो उन्हें परिग्रहका महापाप लगता है, विषयोंकी बात देखो—कभी उन्होंने मिठाई विशेष नहीं खायी, बड़े अच्छे शौकके वस्त्र भी नहीं पहिना, जिनका न विवाह हुआ, न स्त्री, न बच्चे, न पेट भर खानेको ही मिला, सोना, रत्न, हीरा जवाहरात कभी देखा नहीं, धन वैभव जिनके पास कभी जमा हुआ नहीं, रहनेको जिनके पास कुटी तक नहीं, मगर भीतरमें उनकी ममता देखो तो विकट मूर्च्छा है, वहां इतने विकल्प चलते हैं कि आत्माके स्वरूपकी सुध लेनेका वहां अवकाश ही नहीं। सो बाह्य परिग्रहोंको परिग्रह कहा जाय, पाप कहा जाय तो भिखारियोंके पास तो कुछ नहीं है, तो क्या वे निष्परिग्रह हैं? धर्मात्मा हैं? नहीं।

बाह्य परिग्रहके लगावके रहते अन्तरङ्ग परिग्रह त्यागकी असंभवता—अच्छा, कोई यह पूछ सकता है कि अन्तरंग परिग्रहको ही जब परिग्रह माना जाता तो बाह्य परिग्रह कितना ही बना रहे उससे नुकसान क्या? तो उसका भी उत्तर खुद समझ लीजिए। बाह्य परिग्रह निकट है, सम्हालते, रखते हैं, तद्विषयक राग और आसक्ति है ना, ये ही मूर्च्छाके कारण बन जाते हैं। सो बाह्य परिग्रह मूर्च्छाका कारण हैं इसलिए त्यागने योग्य है और अन्तरङ्ग परिग्रह तो साक्षात् इस भगवान आत्माको मथता रहता है सो त्यागने योग्य है। दोनों ही परिग्रहोंका त्याग अहिंसा कहलाता है। मूर्च्छा साक्षात् हिंसा है। अनन्त ऐश्वर्य शक्तिवान भगवान आत्माको जो मथ डाले उस भावको तो हिंसा ही कहा जायगा। सो परिग्रहको सर्व अनर्थका कारण जानकर इसका परिमाण करना और परिमाणके बाहरके परिग्रहमें रंच भी आकांक्षा न होना यह श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। धर्मपालनकी दिशा परिग्रह परिमाणके बाद मिलेगी। सो आज परिग्रह परिमाणके बाबत चर्चा तक भी नहीं चलती और धर्म करना, धर्म करना, इस नामपर उत्सव समारोह मंदिर पूजा, विधान यज्ञ आदिक सब कुछ चलते हैं। पर यह बात चित्तमें अभी तक भी नहीं प्रायः आज तक कि परिग्रहका परिमाण किए बिना ये सब बातें थोथी हैं, क्योंकि बाह्य पदार्थ विषयक तृष्णा संस्कार तो यहां बना है और इस संस्कार वाले हृदयमें धर्मकी बातका स्थान मिले यह कैसे हो

सकता है? परिग्रहका परिमाण करने वालेके तृष्णाका संस्कार नहीं रहता। यद्यपि परिग्रह निकट है और उसकी व्यवस्था भी बनायी जा रही है, फिर भी परिमाण होनेसे वह तृष्णाका संस्कार न रहेगा, क्योंकि उसके बाहरी कोई आकांक्षा ही नहीं है।

परिग्रह परिमाणव्रती ज्ञानीके हृदयमें महारम्भी धनिकोंके प्रति दयाका भाव—बड़े-बड़े धनिकों को देखकर अज्ञानीको अचरज सा होता और कुछ यों लगता कि सुखी तो ये हैं क्योंकि उन बड़े धनिकोंकी मुख मुद्रा भी अच्छी है, उनके साथ दो तीन सिपाही भी चल रहे हैं। लोगोंके मिलनेका तांता भी चल रहा है। लगता है कि ये बड़ेसुखी होंगे, और इतना धन हो तब ही ठीक है। यह कल्पना अज्ञानियोंके हुआ करती है। ज्ञानीजन तो उस बड़े धनिकको देखकर दया करते हैं कि यह कितना अधिक दुःखी है। कितना अधिक परिग्रहमें इसका चित्त चलता रहता है। और अपने आत्मा भगवानके स्वरूपकी ओर आनेका इसे मौका ही नहीं रहता है। यह बड़े कष्टमें है। ज्ञानीको तो यों दया आयगी, लालच आनेकी बात तो बिल्कुल दूर है। बड़े पुरुषोंको देखकर ज्ञानीके चित्तमें लालच न आयगा, किन्तु दया आयगी, क्योंकि वह जानता है कि परिग्रहमें इसका इतना उपयोग फंसा है कि इसको अपने आत्मस्वरूपकी भी कुछ सुध नहीं है। तो परिग्रह परिमाणमें गुण परखिये—श्रावकके धर्मका मूल आधार परिग्रहका परिमाण है, तृष्णाका परिहार है। गृहस्थाचारमें रहे, वह चाहे थोड़ा परिग्रह रखे चाहे बहुत, पर परिमाण रहे तो उसको धर्मका प्रकाश मिलता है। परिग्रह बिना गृहस्थके पास परिग्रह न हो तो वह भी कौड़ीका नहीं। खुदका जीवन न चलेगा, ढंगसे रह न सकेगा, सो परिग्रह बिना काम तो नहीं चलता मगर परिग्रहके पीछे ही मरना और जीवन लगा देना, यह कौनसी बुद्धिमानी है? हो रहा है जैसा उदय है, आ रहा है जैसा उदय है, घरमें रह रहे हैं सो पुरुषार्थ करनेकी बात है, कर रहे पर उस ही में अपना दिल बसाये रहना यह तो जीवको बेकार खो देना है। परिग्रहका परिमाण होना और पाये हुए परिग्रहसे भी विरक्त रहना यह ज्ञानी श्रावककी चर्या होती है। घर गृहस्थीमें अनेक घटनायें आती हैं और पद-पद पर फिर आये, खर्च करे, काम चलेगा। पर यह तो एक काम चलाऊकी ही बात चित्तमें रहनी चाहिए। उसके बारेमें और देख देखकर खुश होना। रखना जोड़ना, उसकी तृष्णा होना, यह तो अनर्थके लिए है। सो परिग्रहका परिमाण करना और रखे हुए परिग्रहमें भी विरक्त रहना।

बाह्य पदार्थोंसे उपयोग हटाकर सहजात्मस्वरूपमें उपयोग लगानेमें ही आत्मरक्षा—भैया, आखिर हैं तो बाह्य पदार्थ। इनसे इस मेरे आत्मामें कोई अतिशय प्रकट नहीं हो सकता सो भीतर एक निष्परिग्रह अपने स्वरूपका आलोकन तो करें। इस आत्माके साथ क्या चिपटा है? आप अपने मकानसे चलकर यहां शास्त्रसभामें आये तो बताओ आपके साथ आपका घर, परिजन, धन दौलत कुछ चिपक आया है क्या? अरे सब जहांके तहां पड़े हैं, आप अकेले यहां आये हैं, आपके साथ जो यह शरीर लगा है वह भी आपका नहीं है, आपसे अत्यन्त भिन्न है। भले ही एक क्षेत्रावगाह है मगर स्वरूप तो अत्यन्त जुदा है। सो इन जुदे पदार्थोंकी दृष्टिमें, इनके अनुरागमें भगवान आत्माकी बरबादी ही है, लाभ कुछ नहीं है। सो अपने आपको किसी समय निसंग तो परखिये—अमूर्त, ज्ञानमात्र आकाशवत् निर्लेप, किन्तु चेतन गुणसे अधिक यह मैं आत्मा अन्य किसी चीजको ग्रहण नहीं कर सकता हूं। केवल यहां

भाव बनाता रहता हूँ। भावोंके सिवाय और कुछ काम नहीं कर पाता। तो बाह्य परिग्रह मेरा क्या है? कुछ भी नहीं। ऐसा एक बार दृष्ट्य तो अन्दर समाये और सबसे निराला यह ज्ञानमात्र अमूर्त अंतस्तत्त्व दृष्टिमें आये तो एक ऐसा अलौकिक सहज आनन्द जगेगा कि जिसके अनुभवके बाद स्पष्ट निर्णय होगा कि किसी भी बाह्य पदार्थमें मेरा कुछ नहीं है। मैं अपने आपमें लीन होऊँ तो मेरी रक्षा है। बाह्य पदार्थोंकी ओर उपयोग लगाऊँ तो वहाँ मेरी बरबादी है।

परिग्रह परिमाणव्रती सद्गृहस्थकी ऋण न लेनेकी अर्थनीति—श्रावकके ५ अणुव्रतोंमें यह परिग्रह परिमाण अणुव्रतका वर्णन चल रहा है। परिग्रह परिमाण गृहस्थके लिए अतीव आवश्यक है। क्योंकि ऐसा किये बिना संतोष न रहेगा, धर्ममें मन न रहेगा और तब ही तो चित्तमें यह बात रहती है कि धर्मके लिए हमें समय कम है। समय कैसे कम है, पर परिग्रहका परिमाण न होनेसे तद्विषयक तृष्णाका संस्कार रहनेसे उसका विकल्पोंमें ही सारा समय जाता है। उन विकल्पोंके कारण धर्ममें चित्त नहीं जमता। तो परिग्रह परिमाण गृहस्थके लिए अतीव आवश्यक है। परिग्रह परिमाणकी भावना रखने वाले, परिग्रहका परिमाण करने वाले गृहस्थ अपनी अर्थ नीतिकी कलाका भली प्रकार ध्यान रखते हैं। कभी ऋण नहीं लेते। कर्ज लेकर अपनी आवश्यकताको पूर्ण नहीं करते, फिर कोई कहे कि आवश्यकता है तो क्या करें तो कौन कहता कि आवश्यकता है? जैसा चित्त बनाया वैसी अपनी आवश्यकता रह जाती है। इसका यकीन न आये तो अपनेसे गरीबोंकी ओर दृष्टि दो उनका कैसे गुजारा होता है? तो ऋण लेकर पीछे उसका भाव अधीर हो जाता है। उसके प्रति लोगोंकी प्रतीति नहीं रहती। सोचेंगे कि यह ऋण लेता है, इसके कुछ होगा नहीं। यह कर्जसे अपना गुजारा चलाता है, यों दीनता प्रकट हो जायगी। एक बार प्रतीति बिगड़ी पीछे आजीविकाका ढंग बनना भी कठिन हो जाता है, इस कारण यह कला जरूर गृहस्थोंको ध्यानमें रखना है कि आजीविकाके अनुकूल खर्च करें। किसी अन्य पुण्यवानको अधिक खर्च करते हुए देखकर अपनेमें यह तृष्णा नहीं करता। अपना खर्च अपनी आमदनीके अन्दर रखना अन्यथा यश धर्म और नीति तीनों ही खतम हो जायेंगे, न उसका धर्ममें चित्त रहेगा न यश रहेगा। और क्या करना? कुछ उसे मार्ग भी न सुहायेगा। इससे जीवनमें महान् कार्यतो धर्ममें उपयोग रखना समझियेगा। बाहरी बातें जैसे गुजरनी हों गुजरें। कोई कहे कि इससे तो लोकमें यश न फैलेगा? यश वाञ्छनीय तत्त्व नहीं है। यदि चाहते ही तो लोकमें यश फैलानेके अनेक उपाय हैं। धनसे यश नहीं फैला करता है। धन वाले भी यदि परोपकार न करें, धर्मके कार्योंमें न खर्च करें तो वहाँ यश कहाँ फैलता? यशके तो अनेक उपाय हैं तनसे, मनसे, वचनसे और धनसे दूसरोंका उपकार करनेमें यश फैलता है। अगर कर्ज लेकर या अपनी भीतरी नीति बिगाड़कर जीवन चलाया तो वह सारा जीवन अंधेरेमें रह जाता है। यदि यह जीवन उज्ज्वल रहे, भले ही एक मनुष्यभवमें थोड़ा खर्च कम करके रहें, भोगोपभोगके साधन न बनें और शान्त रहें तो यहां ही ऐसा पुण्यरस बढ़ेगा कि इस भवके बाद वह महान् ऋद्धिवाला देव भी हो जायगा। फिर खूब ऋद्धि सम्पन्न रहेगा तो अपने धर्मको कभी न बिगाड़ना, इसीमें ही बुद्धिमानी है।

परिग्रहपरिमाणव्रती सद्गृहस्थकी आयसे कम खर्च करनेकी अर्थनीति—अपनी आयसे

कम खर्च हो और अपना कुलवानपना रहे। यदि यह सही बात रहेगी तो धर्ममें उसका चित्त चलेगा। आवश्यकताकी बात दो ही तो हैं—तन ढाकनेको दो कपड़े, पेट भरनेको दो रोटियां। इतना साधन हर एकके सुलभ है। किन्तु जो और बात विशेष बढ़ा रखी है कि मुझे दुनियांमें यह दिखाना, ऐसी जो अनेक बनावट करते हैं वे विपत्तिके साधन हैं, अन्य बातें आपमें पुण्योदयके अनुकूल स्वयं होगी। एक बात यह है कि खर्च कम करना, सात्विक वृत्तिसे रहना। उदाहरणके लिए लीजिए। जो लोग बीड़ी पान आदिक पीने खानेमें रोज ८-१० रुपये खर्च कर डालते हैं वे यदि बीड़ी सिगरेट पान आदिका प्रयोग न करें तो लाभ भी है और फिजूल खर्चसे भी बच जायेंगे। अनेक खर्च फिजूलके ऐसे हैं जो व्यर्थके हैं, बुद्धिको बिगाड़ने वाले हैं। अरे आज सुयोगसे जैन शासन मिला है। सद्गृहस्थ हुए हैं तो अपना कर्तव्य है कि सात्विक वृत्तिसे रहकर धर्मकार्योंमें विशेष उपयोग लगायें।

अनुकूल बाह्य सामग्रियोंके सान्निध्यमें धर्मसाधनकी सुविधा—कोई कह सकता कि धर्म साधना तो आत्माके आधीन है अर्थ अर्जनकी समस्या अलग है। वह पूर्वकर्मके अधीन है या वर्तमान व्यापारके आधीन है। तो धर्मसाधना तो स्वयमेव बन जायेगी उसकी क्योंकि वह स्वाधीन है, फिर इतना जोर क्यों दिया जा रहा कि घरमें रहते हुए अर्थनीतिका सदाचार रखियेगा, जिससे कभी कर्जदार न बनें और विकल्प तरंग न बढ़ाने पड़ें, क्योंकि धर्म साधना तो खुदके आधीनकी बात है। समाधान, बात तो सही है, धर्मकी साधना आत्माके आश्रयसे होती है। लेकिन धर्मसाधना हो सके उसकी पात्रता तो पुण्य कर्मके उदयसे बनेगी। जैसे मनुष्य हुए, नीच, चाण्डाल, दरिद्री हुए तो वहां तो उसके अनुरूप भाव चलेंगे, संक्लेशके भाव रहेंगे, धर्मसाधनाकी पात्रता न हो पायगी, उत्तम कुलमें जन्म पाना, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, अच्छे देशमें होना, इन्द्रियां परिपूर्ण होना, शरीर रोग रहित हो, अच्छी संगति मिले, आजीविका स्थिरतासे हो ऐसी पुण्योदयजन्य बाह्य सामग्री जहां मिलती है वहां ही धर्मग्रहण और धर्मका सेवन बनता है। तो धर्मसेवन यद्यपि आत्माके ही आधीन है मगर ऐसा आत्माधीन धर्मका पालन उसके बनता है जिसके ऐसी बाह्य सामग्री है। अतः पुण्य करना, अर्थ नीति व्यवस्थित रखना यह गृहस्थजनोंका एक आवश्यक कार्य है।

सदाचारी मनुष्यकी आजीविकाकी सुविधा—जो मनुष्य सत्पात्र रहेगा, न्याय अन्यायका विवेक रखेगा, सबसे प्रिय वचन बोलेगा, दूसरेके धनपर निगाह न डालेगा, अन्य स्त्रियोंसे विमुख रहेगा, आलस्य और प्रमाद न करेगा, धीर रहेगा ऐसे पुरुषको आजीविका का लाभ होना सुगम है। अब भी देखा जाता है कि घरमें रहने वाला दुकानमें रहने वाला नौकर यदि ईमानदार है तो उसकी सब चाह करते हैं और उसकी आजीविका आदिका बहुत विशेष ध्यान रखते हैं और एक बार कोई बेईमानीसे वह धन हड़पले तो उस नौकरके प्रति लोगोंको प्रतीति नहीं रहती और धन भी उसके पास नहीं रह पाता क्योंकि फाल्तू अनाप सनाप बिना कमाये, बिना सदाचारके जो धन मिला है वह टिक नहीं पाता। जैसे विवाह करनेमें लोग दहेज अधिक मांग लेते हैं तो चूंकि उनको मुफ्त मिलता दूसरेका धन, दूसरेका दिल दुखाकर मिला तो वह धन उनके पास टिक नहीं पाता, ऐसे ही अटपट वृत्तिसे पाया हुआ धन टिकता नहीं है। और टिके या न टिके, उसका क्या ख्याल करना? जरा अपने आत्माका तो ध्यान रखो। मेरे परिणाम

सदैव निर्मल रहें ताकि मेरा भविष्य सुन्दर रहे। तो श्रावक पदमें भले प्रकार धर्म साधना करें, ऐसी भावना रखने वालेको परिग्रहका परिमाण अवश्य रखना चाहिए।

सद्गृहस्थका कुटुम्बीजनोंको संबोधनेका कर्तव्य—यहां एक समस्या सामने आ सकती है कि लोग जब समझाते हैं कि तुम अपना श्रद्धान सही रखो और अपने मनको समझालो। और अगर हम सात्विक वृत्तिसे रहने लगे, धर्म कार्योंमें चित्त लगाने लगे, तो फिर घरमें जो कुटुम्बीजन हैं माता-पिता वगैरह उनका क्या करेंगे? तो उसका उत्तर है कि तुम उन कुटुम्बीजनोंको समझावोगे कि देखो तुम लोगोंने पूर्व जन्ममें दान नहीं दिया, व्रतका पालन नहीं किया, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं रखा, अन्याय कुछ नहीं गिना, दूसरोंका धन हरा, तो उन पूर्व जन्मके पापकर्मों का उदय है जो अपनेको एक दरिद्रता प्राप्त हुई है, विशेष धन नहीं मिला है, मगर इसकी परवाह क्या करना? जितना अपनी आजीविकामें प्राप्त होता है उतनेमें ही गुजारा करके धैर्य रखना यह कर्तव्य है अन्यथा आगे भी दुःख सहने पड़ेंगे। इससे धर्ममें प्रीति करो। इस प्रकारसे कुटुम्बीजनोंको समझाना है। यदि दूसरे धनिकोंके आभरण शृंगार, आभूषण आदिक निरखकर उनका मौज, मोटर आदिक देखकर तुम भी आकांक्षा करोगे, भीतरमें मंथन मचावोगे तो मरकर तिर्यज्च होना पड़ेगा, फिर क्या बीतेगी? इससे इस समय मनुष्य हैं, श्रेष्ठ मन मिला है, उत्तम समझ आ सकती है कि दुनियासे आंखे मींच लो और अपना जैसे भला होता हो वैसी प्रवृत्ति करो। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्धन अवस्थामें कुटुम्बीजनोंको समझाता है और उन्हें भी धर्म मार्गमें लगाता है। और देखो जो आज स्थिति मिली है निर्धनपनेकी उस स्थितिमें जिन शासनका सहारा लेकर धर्ममें प्रीति लगाकर संतोषवृत्तिमें रहा जाय तो वहां तो ऐसी कर्मनिर्जरा होगी जैसी कि मुनिजन बड़े तपश्चरण करके कर्मनिर्जरा करते हैं। सो जिसे जो कुछ भाग्योदयसे प्राप्त हुआ उस ही के अन्दर व्यवस्था बनायें और परिग्रहका परिमाण रखें, ऐसे श्रावकजन इस भवमें भी प्रसन्न रहते हैं, निर्मल रहते हैं और भविष्यमें भी उनका आत्मा प्रसन्न रहेगा। ऐसी परिग्रह परिमाण व्रतकी बात कहकर अब उसके अतिचार बतलाते हैं जो दोष परिग्रह परिमाण व्रत वालेको न करना चाहिए।

अतिवाहना, तिसङ् ग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।

परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥

परिग्रहपरिमाणव्रतके पांच अतिचार—जिस श्रावकने परिग्रहका परिमाण किया है वह श्रावक इन अतिचारोंसे दूर रहता है। (१) पहला अतिचार है अतिवाहन। लोभके वश होकर गाड़ी बैल आदिक तिर्यज्चोंको अथवा अपने सेवकोंको बहुत दूर तक मंजिल कराना, बोझा ढोना यह अतिवाहन अतिचार है। जो परिग्रहोंका परिमाण करके स्वयं संतुष्ट रहना चाहते हैं उनको अन्य जीवोंपर भी कुछ ध्यान देना चाहिए कि उनपर अधिक बोझा न लाद दें। न उनको अधिक दूर तक चलायें। जिसमें जितनी सामर्थ्य है उससे उतना ही काम लेना, उससे अधिक काम न लेना। अगर लेते हैं काम अधिक, बोझा लादते हैं अधिक, तो उसके परिग्रह परिमाणमें भी अतिचार आता है। यह बात यद्यपि अहिंसाणुव्रतके अतिचारमें तो थी ही किन्तु परिग्रह परिमाणमें भी यहां दोष आता है। परिग्रह परिमाण जैसा किया वैसा ही परिमाण

वह तो अन्तर्निहित है कि दूसरेसे अधिक कार्य न लेना, अधिक बोझा न लादना। (२) दूसरा दोष है अतिसंग्रह। परिमाण तो किया है उसका भंग नहीं कर रहा, पर बिना प्रयोजन अनेक चीजोंका संग्रह करते रहना यह परिग्रह परिमाणका दोष है। जैसे अनेक टूटे ताले पड़े हैं, पुराने टूटे पाटिया पड़े हैं, टूटे-फूटे कनस्तर पड़े हैं उन सबका संग्रह करते जा रहे, याकोई चीज खूब सस्ती देख लिया तो उसे खरीदकर भर लिया, यह भी दोष है, क्योंकि यह अनावश्यक संग्रह किया जा रहा है। ऐसा जो अनावश्यक संग्रह करता है वह पीछे उलझनमें आता कि क्या करें, ये फेंके भी नहीं जाते, रखे भी नहीं जाते। (३) तीसरा अतिचार है विस्मय या जिन बड़ी वस्तुओंको कभी देखा नहीं है उनको देखकर या सुनकर आश्चर्य करना यह परिग्रहपरिमाणका दोष है। अरे क्या आश्चर्य करना, पुद्गल है, स्कंध है, कैसा ही आगया, कैसा ही पड़ा है, उसमें क्या आश्चर्य करना? अगर आश्चर्य करते हैं तो उसमें दोष है। किसीका बड़ा ऐश्वर्य देखकर, वैभव देखकर अथवा बड़े ऊँचे ऊँचे पद देखकर उनका आश्चर्य करना यह भी दोष है। (४) चौथा अतिचार है परिमितपरिग्रह—परिग्रह परिमाणका भंग तो नहीं कर रहा पर रोजके कामोंमें या धर्मके कामोंमें लोभ कर रहा तो यह दोष है। (५) पांचवां दोष है अतिभारवाहन। शक्तिसे अधिक बोझा लाद देना इससे भी पशुवोंको बड़ा कष्ट होता है। अथवा बहुत बोझा लादा तो परिमाणका जो उद्देश्य था उस उद्देश्यमें कोई कलंक लगा। इस प्रकार इन ५ अतिचारोंसे रहित परिग्रह परिमाणका पालन करना है।

अपरिग्रहत्वसाधनाकी पांच भावनायें—परिग्रह परिमाण व्रतको पुष्ट करनेके लिए अपरिग्रहत्वकी ५ भावनायें होती हैं। वे ये हैं कि यदि कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्णका विषय है, सुहावना है तो उसमें राग न करना। इस इष्ट विषयमें राग करनेके आधारपर ही तो परिग्रहका परिमाण खण्डित होता है। तो इष्ट विषयमें राग न करना चाहिए। यह बात तभी भली प्रकार निभेगी जिसने अपने निसंग चैतन्यस्वभावको माना कि यह मैं हूँ, और उसका काम इस चैतन्य स्वभावकी वृत्तिका पाते रहना है। उसका भोग चैतन्य स्वभावके बर्तनसे जो स्थिति बनती है उसका अनुभव करना है। इसके अतिरिक्त बाहर कहीं भी न मेरा स्वरूप है, न मेरी क्रिया है, न मेरा भोग है। इस प्रकारका जिनके स्पष्ट प्रकाश है वे ही पुरुष परिग्रह परिमाणको निर्दोष निभा पाते हैं। तो ५ इन्द्रियके इष्ट विषयोंमें राग न करना। राग न करनेकी भावना रखना, यह भावना है। और इसी प्रकार ५ इन्द्रियके विषय यदि अनिष्ट मिल जायें, अपनेको रुचे नहीं, तो उनको देखकर, उनको पाकर द्वेष न करना, द्वेष न उत्पन्न हो ऐसी भावना रखना, ऐसी ५ भावनाओंको जो रखता है उसके परिग्रहका परिमाण निभता है, क्योंकि यदि विषयोंमें राग बढ़ाया, द्वेष बढ़ाया तो वही बढ़कर, फूटकर परिग्रहके परिमाणको खण्डित कर देगा। इससे अपने आत्माको समझाना होगा। और इष्ट अनिष्ट विषयोंमें रागद्वेष न हो ऐसा अपने अन्दर भाव बनाना होगा। यों इन भावनाओंके प्रसादसे परिग्रहका परिहार भली प्रकार निभता है। इस तरह गृहस्थके ५ अणुव्रत कहा है। इन अणुव्रतोंका जो पालन करते हैं वे सद्गतिको प्राप्त करते हैं, उत्तम समागम पाते हैं, इसका वर्णन करते हैं।

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमाणाः फलन्ति सुरलोकम् ।

यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

अणुव्रती श्रावकको दिव्य शरीरका लाभ—गृहस्थकी निधि ५ अणुव्रत हैं, गृहस्थका धन और क्या है? सदाचार । जिसका सदाचार गया उसका सब गया, जिसका धन गया उसका कुछ नहीं गया, अब भी भले प्रकार रह सकेंगे । गुजारा तो बन ही जायगा । जिसका यश गया समझो उसका कुछ नहीं गया यश भी व्यर्थकी चीज है । मायावी लोगोंके द्वारा गायी हुई बात है, उसका कुछ नहीं गया, पर जिसका चरित्र गया, जो अपने श्रद्धान और चरित्रसे भ्रष्ट हो गया उसका सब कुछ गया । तो अपना सदाचार रहना, निरतिचार सदाचार बनना बहुत बड़ी भारी निधि है । सो जिनके ५ अणुव्रत खजाना है, निरतिचार उनका पालन है, ऐसे पुरुष सुरलोकको प्राप्त होते हैं, यह पुण्यका फल है । अब पुण्यके फलमें डिगे नहीं, यह उस समयका पुरुषार्थ है, मगर पुण्य प्रकृति जब बंधी है तो उसके उदय कालमें यह बात सब स्वयं सहज होती है । मनुष्य भी तो केवल अपने भाव सुधारता है और उसे कुछ ख्याल आया करता है, आगे जो कुछ होगा सही उचित वह स्वयं हो जायगा वैसे समागम मिलेंगे, पर बहुत बड़ी कमाई तो यह है कि अपने भाव न बिगाड़ने पायें । सब जीवोंके सुखी रहनेकी भावना करें । किसी भी जीवके प्रति द्वेषकी बुद्धि न रखें । कदाचित कोई दुश्मनी भी रख रहा हो तो उसके कल्याणकी ही भावना रखना । कोई अपने पर उपद्रव भी कर रहा हो तो भी भीतरमें उसके हित और कल्याणकी ही भावना रखना । जो निर्मल भाव रखेगा उसका भविष्य अच्छा रहेगा । जो थोड़ेसे लोभके वश होकर अपने भाव बिगाड़कर जीवन चलायगा तो उसका भविष्य अंधेरेमें है । जो श्रावक निरतिचार ५ अणुव्रतका पालन करता है वह स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है और उसके अष्ट ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं ।

देवोंके शरीरका प्राकृतिक अतिशय—तपसे उत्पन्न होने वाली ऋद्धियां देवोंके नहीं हैं, किन्तु वह सब देवोंका एक स्वाभाविक गुण है । जिसको जैसा देह मिला है उस देहके माफिक गुण उसमें प्रकट हो जाते हैं । यहां भी तो देख लो बंदर लोग कहींसे कहीं चढ़ जाते हैं, उनके हाथ पैर इसी ढंगके होते कि मानों चारोंके चारों उनके हाथ हैं । जैसे आगेके हाथोंमें लोच होती वैसे ही पीछेके पैरोंमें भी लोच होती । तो शरीरके भेदसे अनेक भेद हैं, यह भी यहां देखा जा रहा है । स्वर्गमें जो देह मिलता है वह वैक्रियक देह है उस देहमें हाड़, मांस, खून आदि नहीं होते । और पौद्गलिक देह । जैसे यहां ही कोई डल्लपकी मूर्ति बना दी जाय अंदाजमें वैसा समझलो पता नहीं किस ढंगका होता होगा । वे अपने शरीरको दिखाना चाहें तो दिखा दें, न दिखाना चाहें तो अदृश्य हो जायें । ये अनेक गुण उस भवमें प्रकृत्या ही प्राप्त हैं उनको भूख प्यासकी वेदना नहीं होती, कभी हजारों वर्षों में भूख लगे तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है । उनको कमानेकी आवश्यकता नहीं होती । उनका सारा जीवन खाली पड़ा है तो अब क्या करें ? या तो भोगोंमें रमेंगे या धर्ममें । जो विवेकी देव होते हैं वे तो अपना सारा समय धर्मके कार्योंमें व्यतीत करते हैं और जो अविवेकी देव होते हैं विषयभोगोंमें या कुछ धर्मकार्योंमें भी भाग लेकर अपना समय बिताते हैं । वे अविवेकी देव भोगोंमें अधिक लगते हैं क्योंकि उनको भोग

साधनोंकी कमी नहीं रहती। तो ऐसा जहां दिव्य भव प्राप्त होता है कि वह सब पुण्यका प्रताप है और सदगृहस्थके जो अणुव्रत हैं उन अणुव्रतोंका श्रद्धान करनेमें, उनका पालन करनेमें जो भावशुद्धि बनती है उससे जो पुण्यरस बढ़ता है उसका प्रताप है कि उनके अब अनेक सागरों पर्यन्त अनगिनते वर्षों पर्यन्त ऐसे आराममें गुजरेंगे, अब वहांका काम वहां करेंगे। ऐसी स्थिति पा लेने पर यदि धर्म कार्योंमें समय न दो तो उनका भव भी बेकार बन जायगा। जैसे यहां जिनको धन सम्पदा मिली है सो पूर्वकृत पुण्यके उदयसे मिली है। अब मिलनेके बाद एक बड़ी जिम्मेदारी यहां आ गई। यदि वह दूसरों पर अन्याय करता है, अत्याचार करता है तो वह दुर्गतिमें जायगा और पायी हुई सुविधा साधनका यदि वह सदुपयोग करता है, परोपकार दया दान आदि धर्म कार्योंमें यदि चित्त देता है तो यह भली गति पायगा। तो अब यह जिम्मेदारी नई इसके पास है आया है धन वैभव, मगर पूर्वमें जो पुण्य कार्य किया था उसके प्रसादसे धन सम्पदाको, इष्ट समागमोंको आना ही पड़ता है। सो जो पुरुष निरतिचार पञ्च अणुव्रतका पालन करते हैं वे सदगतिको प्राप्त होते हैं और सुख साधनोंमें रहकर धर्मसाधना कर मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं। इससे गृहस्थके अष्ट मूल गुणोंमें भी ५ अणुव्रत कहा और व्रत प्रतिमामें भी अणुव्रत कहा। इससे सिद्ध है कि साधारणतया पंच अणुव्रतोंका निर्वाह तो प्रत्येक श्रावकका होना ही चाहिए।

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्तः परः ।

नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमं ॥ ६४ ॥

अहिंसाव्रतमें प्रसिद्ध यमपाल चाण्डालके व्रत परीक्षणके अवसरकी एक घटना— श्रावकोंके ५ अणुव्रतोंमें जो प्रसिद्ध हुए हैं उनका नाम निर्देश इस छंदमें किया गया है। अहिंसाणुव्रतमें यमपाल नामका चाण्डाल प्रसिद्ध हुआ है। पार्श्वनाथ भगवानकी जन्मभूमि काशीनगरीमें पाकशासन नामके राजा राज्य करते थे। राज्य व्यवस्था वहां भले प्रकार चलती थी। एक समय उनके राज्यमें हैजेकी बीमारी फैल गई। उस बीमारीके कारण प्रजाके लोगोंमें बड़ी आकुलता हो गई, तब उस रोगके निवारणके लिए राजाने व्रतसाधनाका प्रोग्राम बनाया। सब लोग अहिंसा व्रतका पालन करें। संसारमें जितने भी रोगादिक होते हैं वे सब पूर्वजन्मके पापके कारण होते हैं। सर्वपापोंमें हिंसा पाप प्रधान है। हिंसा पापका निवारणहो और अहिंसा धर्मका धारण हो तो यह हैजेका रोग दूर हो जायगा, ऐसा ध्यान रखकर राजाने अपने राज्यमें घोषणा करा दी कि अष्टान्हिकाके दिनोंमें कोई भी पुरुष जीवोंकी हिंसा न करे। उस नगरमें एक सेठ रहता था, उसके पुत्रका नाम था धर्म। नाम तो बड़ा अच्छा था पर वह बड़ा अधर्म करता था। जीव हिंसाका उसे बड़ा शौक हो गया था। मांस खानेकी उसकी इतनी बुरी आदत हो गई थी कि उसके बिना वह रह न सकता था। अष्टान्हिकाके दिनोंमें ही एक दिन वह राजाके बगीचेमें गया और वहांसे एक मेंढा मार लाया और उस मेढ़ेका कच्चा मांस खा गया। अब उसकी जो हड्डियां बचीं सो उसने एक गड्ढा खोदकर गाड़ दिया। जब उस मेढ़ेकी खोज की गई, कहीं मिले नहीं तो यह बात राजाके पास पहुंची। तो राजाने गुप्त रीतिसे पता लगानेके लिए गुप्तचरोंको भेजा। उधर बगीचेमें

मालीने वह सब कृत्य देख लिया था और वह रात्रिमें अपनी स्त्रीसे सेठके पुत्र धर्मकी सारी करतूत सुना रहा था, इसी बीच गुप्तचर वहांसे निकले और वह कहानी सुन ली। तब उन गुप्तचरोंने राजासे जाकर कहा कि उस मेढ़ेकी हत्या सेठके पुत्र धर्मने कर दी है। तब राजाने उसे कोतवालसे बुलवाया और उससे कहा कि देखो सेठके लड़के ने प्रथम तो जीव हत्याकी सो यह महापाप किया, दूसरे मेरी आज्ञा भंग की। जब सारे नगरमें घोषणा करा दी कि अष्टान्हिकाके दिनोंमें कोई जीवहत्या न करे फिर भी उसने जीव हत्या की। तो दूसरा कठिन अपराध राजाज्ञा भंग करनेका है। इस कारण उसे फांसी लगावो। राजा आज्ञा सुनकर उस कोतवालने उस सेठके पुत्रको तुरंत पकड़वाकर बुलाया और फांसीकी आज्ञा सुनायी, फांसी देनेका प्रबंध किया, वह दिन था चतुर्दशीका, फिर भी राजाज्ञा है, यह तो शासनकी व्यवस्था है।

चतुर्दशीके दिवस अहिंसाव्रतकी प्रतिज्ञा रखनेवाले यमपाल चाण्डालपर व्रत विरुद्ध क्रिया करनेके लिए सिपाहियोंका आक्रमण—चतुर्दशीके दिन उस सेठके धर्म नामक पुत्रको फांसीकी जगहपर ले जाया गया और यमपाल चाण्डालको बुलानेके लिए सिपाही भेज दिया क्योंकि फांसीका पूरा प्रबंध यमपाल चाण्डाल ही किया करता था। सिपाही लोग यमपाल चाण्डालके घर पहुंचे। उसने बाहरसे ही देख लिया कि आज कुछ सिपाही लोग आ रहे हैं और सुना भी है कि सेठके लड़केने मेढ़ेकी हत्या कर दी है तो उसको फांसीकी सजा हुई है, उसके लिये ये सिपाही आ रहे। उस यमपाल चाण्डालने चतुर्दशीको हिंसा न करनेका व्रत लिया था। अब वह दुविधामें पड़ गया कि मैं क्या उपाय करूं कि आज इस झंझटसे छूट जाऊं। आज मुझे हिंसा न करना पड़े। उसने एक मुनिराजके पास प्रतिज्ञा ली थी कि मैं चतुर्दशीके दिन जीवहिंसा न करूंगा, सो वह अपनी प्रतिज्ञापर अटल था। तो उसने अपनी स्त्रीसे कह दिया कि देखो ये सिपाही लोग मुझे लिवानेके लिए आ रहे हैं सो मैं तो घरमें कहीं छिप जाऊंगा और जैसे ही सिपाही द्वार पर आवें तो झट कह देना कि आज यमपाल घरपर नहीं हैं, कहीं बाहर गए हैं। आखिर सिपाही लोग जब द्वारपर आये और यमपालको पूछा तो उसकी स्त्रीने वही कहा जैसा कि यमपालने उसे समझाया था। अब वे सिपाही लोग यमपाल चाण्डालको न पाकर पछताकर कहने लगे कि यमपाल बड़ा भाग्यहीन है। आज सेठके पुत्र “धर्म” की फांसी होनी है और आज वह घर पर नहीं है। यदि यमपाल आज घर होता और फांसी लगाने चलता तो सेठके सब वस्त्र-आभूषण यमपालको मिल जाते। जैसा ही सिपाहियोंने यह वृत्तान्त बताया तो यमपालकी स्त्रीके मनमें लालच आ गया और वह इस दुविधामें पड़ गई कि यदि मैं पतिको बताये देती हूं तो पतिकी आज्ञाका भंग होता है और जो नहीं बतलाती हूं तो हजारों लाखोंका जो माल मिलनेको था वह न मिल पायगा, इस दुविधाके बाद उसने यह निर्णय किया कि पतितो पीछे राजी हो जायेंगे और घर धनसे भर जानेकी बात है सो आज इसलिए बता देना चाहिए तो स्त्री धनके लोभमें हाथसे पतिकी ओर इसारा करके सिपाहियोंसे कहने लगी कि वे तो आज एक गांव गए हैं। उसने ऐसा इस कारण किया कि पति भी यह जाने कि इसने मेरी आज्ञाका भंग नहीं किया और सिपाही लोग उस इशारेके अनुसार घरके भीतर घुस जायें और यमपालको पकड़कर ले जायें, फांसी लगाये और लाखोंके

वस्त्राभूषण हमारे घर आयें। सिपाहियोंने स्त्रीका इशारा पाकर चाण्डालके घरमें प्रवेश किया और यमपालको पकड़कर फांसी देनेकी जगहपर ले गए।

यमपाल चाण्डालको अहिंसाव्रतके विरुद्ध क्रिया न करनेपर क्रूरमत्स्योंसे परिपूर्ण तालाबमें डालनेका दण्ड और धर्मप्रभावसे देवों द्वारा यमपालको सिंहासनपर बैठाना—यमपालको फांसीकी जगहपर पहुंचा दिया गया। यमपालसे राजा कहता है कि इस सेठपुत्रको फांसी लगावो तो वह वहां कहता है कि महाराज आज तो हमारा चतुर्दशीको हिंसा न करनेका व्रत है। और यह मुझसे न हो सकेगा कि आज मैं किसी जीवकी हिंसा करूं। मैं फांसी नहीं लगा सकता। जैसे ही राजाने चाण्डालका रूखा उत्तर सुना कि वह बड़े क्रोधमें आकर बोला कोतवालसे कि ऐ कोतवाल जावो इन दोनोंको (सेठपुत्रको और यमपाल चाण्डालको) तालाबमें डुबो दो, जिससे कि मगरमच्छ इन दोनोंको खा जायें। सो राजाकी आज्ञासे कोतवालने सेठपुत्र “धर्म” और यमपालको बड़े गहरे तालाबमें डुबो दिया। उस समय पापी सेठपुत्रको तो उन क्रूर मगरमच्छोंने खा डाला। मगर यमपालके पुण्य प्रतापसे इसी तालाबके बीच जल देवतावोंने रक्षा की। और स्वर्णके सिंहासनपर बैठा दिया। आखिर यह दृश्य देखकर सभीने उसका बड़ा सत्कार किया। सुन्दर वस्त्राभूषण पहनायें और गाजेबाजेके साथ उसके गुणोंका गान किया। तब नगरके लोगोंने उस यमपालको धन्यवाद दिया। जब राजाको यह मालूम हुआ कि मैंने उस अहिंसाव्रती यमपालको व्यर्थ ही दुःखी किया। उसकी तो देवोंने भी सहायता की तो वह अपने इस कृत्यपर बहुत पछताया और शीघ्र ही यमपालके पास जाकर अपने अपराधकी क्षमा मांगी। इस कथानकसे यह प्रेरणा मिली कि चाहे कैसी ही परिस्थिति आये अपने अहिंसाव्रतको न छोड़ें। चाहे ऐसी स्थितिमें प्राण जानेका भी अवसर आये तो प्राण गए बाद दूसरा भव मिलेगा किन्तु धर्म यदि गया तो भव भवमें दुर्गति होगी, इस कारण अहिंसा व्रतको दृढ़तासे पालना चाहिए।

सत्यव्रती धनदेवके साथ उसके मित्र जिनदेव द्वारा अन्याय—दूसरे सत्याणुव्रतमें धनदेव प्रसिद्ध हुए हैं। ये धनदेव पूर्वविदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकनी नगरीमें रहते थे। जम्बूद्वीपमें ठीक बीचोंबीच विदेह क्षेत्र है, जहांसे सदैव मुनिराज मोक्ष जाते रहते हैं। वहां कभी धर्मका अभाव नहीं होता और न वहां कुमत्तका प्रचार है, ऐसे जम्बूद्वीपमें दो विदेह हैं—पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह। पूर्वविदेहमें ८ नगरी नदीके इस ओर हैं, ८ नगरी नदीके उस ओर हैं, ऐसे ही पश्चिम विदेहमें भी १६ नगरी हैं, इन ३२ नगरियोंमें से पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकनी नगरीमें धनदेव नामके एक व्यक्ति रहते थे। उनके एक मित्रका नाम था जिनदेव। ये दोनों सलाहसे अपना-अपना व्यापार करते थे। इनमें धनदेव तो था सत्यवादी पर जिनदेव बेईमान था। एक दिन उन्होंने विदेशमें व्यापार करनेका ठहराव किया। और दोनोंमें यह तय हो गया कि व्यापारमें जो कुछ लाभ होगा उसका आधा-आधा हिस्सा दोनोंको मिलेगा। सो वहां वे व्यापार करने गये और कुछ ही दिनोंमें बहुतसा धन कमा लिया। जब बहुत धनका लाभ दिखा तो जिनदेवका चित्त चलायमान हो गया और धनदेवसे कहने लगा कि मैंने तो तुम्हें व्यापारमें हिस्सेदार नहीं बनाया था, मैंने तो यह कह दिया था कि तुम्हारे श्रमके अनुसार तुमको धन दिया जायगा। सो जितना तुम्हारा श्रम है उसके अनुसार थोड़ा सा धन तुम्हें मिलेगा, आधा न

दिया जायगा। आखिर जिनदेव कुछ बलवान था वह थोड़ा धन देने लगा तो धनदेवने उसे लेनेसे इन्कार कर दिया और नगरीमें पंचोंके सामने यह झगड़ा रख दिया। वहां पंचोंने उस झगड़ेको निपटानेका प्रयत्न तो किया पर जिनदेवने पंचोंकी बात न मानी।

धनदेवकी सत्यव्रतके प्रतापसे विजय और सत्यधर्मकी प्रभावना—आखिर धनदेवने यह मामला राजाके पास भेजा। विनती कि हम दोनोंने यह ठहराव किया था कि व्यापारमें जो भी लाभ होगा उसको बराबर बराबर दो हिस्सोंमें बांटा जायगा पर इस जिनदेवने मेरा हिस्सा हड़पना चाहा है, मुझे उसमेंसे थोड़ा सा ही धन देना चाहता है। सो मैं इसका फैसला चाहता हूं। अब इस ठहरावमें कोई लिखत प्रमाण तो न था सो राजाको इसका निर्णय देनेमें बड़ी कठिनाई आयी। राजाने बहुत विचार किया कि कौनसा उपाय किया जाय कि जो सत्य बात विदित हो। तो राजाने उत्तर दिया कि देखो तुम दोनोंके हाथपर जलते हुए आगके अंगारे रखे जायेंगे और सत्यके प्रतापसे जिसके हाथ न जलेंगे उसकी बात सच मानी जायगी और धन उसको दिलाया जायगा। यह बात सुनकर जिनदेव बड़ी चिन्तामें पड़ गया। वह सोचने लगा कि मैंने धनदेवको आधा धन देनेका ठहराव किया था और अब मैं झूठ बोलूंगा तो मेरा हाथ जरूर जल जायगा। उस समय धनदेवके चेहरेपर एक बड़ी प्रसन्नता झलक रही थी। उसे विश्वास था कि मेरे हाथपर अंगारे रखे जायेंगे तो हाथ जलेंगे नहीं, क्योंकि घटना यथार्थ है। और मैं सत्यपर दृढ़ हूं। और जो मेरा ठहराव है वही मैं मांगता हूं। सो प्रभुकी कृपासे मेरी ही जीत होगी, मैं न जलूंगा। राजा उन दोनोंके चेहरेको ही देखकर सबकुछ समझ गया कि जिनदेव असत्यवादी है और यह धनदेव सही कह रहा है। पर राजाको इतनेसे संतोष न हुआ, जलते हुए अंगारे मंगाये और दोनोंके हाथपर अंगारे रख दिया। तो जो जिनदेव झूठा था उसने तो झट अग्निको फैंक दिया, उसे वह सह न सका और धनदेव आनन्दसे उन अंगारोंको लिए रहा, उसका मन मलिन न हुआ। यह वृत्तान्त देखकर राजाने धनदेवके हाथसे अंगारे हटवा दिये और वहां सभीने धनदेवकी सत्यताकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजाने सारा धन धनदेवको दिलाया, पर धनदेव अपना ही हिस्सा लेकर धर्मसाधनमें लग गया। इस प्रकारकी परीक्षामें पास होनेके बाद यह हाल सुनकर नगरके सब लोग आये। सभीने बड़ा आश्चर्य किया और धनदेवकी बड़ी प्रशंसा की। तभीसे नगरके लोग उस धनदेवको एक महात्मा सारिखे मानने लगे। सत्यकी सदा जय होती है। आजकल लोग सत्यपर शंका रखते हैं और सत्यसे विचलित होते हैं पर जो सत्यपर अडिग रहता है उसके इतना पुण्य बढ़ता है कि उसके प्रतापसे सर्व प्रभाव और सुविधायें उसमें जग जाती हैं। जो लोग ऐसा ध्यान रखते हैं कि धनका अर्जन, सर्व भोगोंकी प्राप्ति झूठ बोलनेसे ही होती है उन्हें इस कथानकसे यह शिक्षा लेना चाहिए और समझना चाहिए कि यदि ग्राहकोंको या लोगोंको यह पता पड़ जाय कि यह व्यापारमें झूठ बोलता है तो उसका व्यापार नहीं चल सकता। जब लोगोंको विश्वास हो जाता कि इसका व्यापार सच्चा है, यह झूठ नहीं बोलता तभी लोग उसके पास पहुँचते और उसका व्यापार चलता। बाहरी बातें कितनी ही कुछ आती हों पर अपने सत्य धर्मसे कभी न डिगना चाहिए।

अचौर्यव्रतके धारी श्री वारिषेण द्वारा धर्मप्रधान अचौर्यव्रतमें वारिषेणकुमार प्रसिद्ध हुए।

उनका वृत्तान्त इस प्रकार है कि पूर्व समयमें राजगृही नगरीमें राजा श्रेणिक रहते थे। उनके कई पुत्र थे, उनमेंसे एक पुत्रका नाम वारिषेण था, और उसी नगरमें एक विद्युत चोर रहता था, वह चोर वेश्यागामी था। उस नगरमें मगध सुन्दरी नामकी एक वेश्यासे उसकी प्रीति थी। चतुर्दशीकी रात्रिको जब वह चोर वेश्याके घर गया तो वेश्याने उससे कहा कि श्रीकीर्ति नामके सेठके यहां जो रत्नोंका हार है वह लाकर मुझे दीजिए। अब देखिये—प्रीतिमें आसक्त लोग तो सब कुछ पाप कर डालते हैं, आखिर वह चोर रातों ही रात गया और श्री कीर्तिके यहांसे वह रत्नोंका हार चुरा लाया। रत्नोंका हार तो चुरा लिया, पर वह इतना चमकदार था कि उसकी कांति कपड़ेमें भी न छुप सकी। सो जैसे ही वह चुराकर लिए जा रहा था कि नगर कोतवालने चमकता हुआ पदार्थ देखा और उस चोरका पीछा किया। चोर भी उस समय वेश्याके पास न जाकर भागते-भागते एक श्मशानमें पहुंच गया। उसी श्मशानमें राजा श्रेणिकके पुत्र वारिषेण ध्यान कर रहे थे। चोरने कोतवालसे अपनी जान बचानेके लिए वह हार वारिषेणके पास फेंक दिया और कहीं दूर जाकर छिप गया। जब वहां कोतवाल पहुंचा और वारिषेणके पास वह चमकता हुआ हार देखा तो समझ लिया कि यह वही चोर है जिसने इस हारको चुराया है और अब ध्यान करने बैठ गया है। आखिर वारिषेणकी यह घटना राजा श्रेणिकके सामने पेश की। कोतवालके कहनेसे राजा श्रेणिकने वारिषेणका मस्तक काट डालनेका दण्ड सुनाया। कोतवालको आज्ञा दी। कोतवालने चाण्डालको हुक्म दिया। तो जैसे ही चाण्डालने हाथमें तलवार लेकर वारिषेण पर प्रहार किया तो वारिषेणके पुण्य प्रतापसे वारिषेणके गलेमें पुष्पमाला बनकर उनके गलेमें पड़ गई। यह बड़ी अद्भुत घटना थी। उसी समयदेवता लोग आये, जय-जयके शब्द बोलने लगे। पुष्पोंकी वर्षाकी, किन्तु वहां वारिषेणने अपना ध्यान तनिक भी नहीं छोड़ा। इस घटनाका समाचार जब महाराजा श्रेणिकको मिला तो वे कुबुद्धि पर बहुत पछताये। आखिर वारिषेणके पास आकर बोले—मेरे अपराधको क्षमा करो और घर चलो। पर वह तो अब विरक्तकी ओर बढ़ रहे थे, उन्होंने संसारका चित्र देखा तो वहीं उन्होंने जिनदीक्षा ले ली और महान् तपश्चरण करके वे मोक्ष सिधारे। तो इस अचौर्य व्रतकी कथासे यह प्रेरणा मिलती है कि इस परधनको धूल समान समझकर उसकी रंच भी इच्छा न करें और अपने ज्ञानानन्द स्वभावको निरखकर सन्तुष्ट रहें। समस्त परभावसे हटकर परमार्थ सहजपरमात्मतत्त्वमें मग्न होना परमार्थ अचौर्य है, परमार्थ सत्य है, परमार्थ अहिंसा है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतमें सुदृढ़ नीलीका धोकेमें सागरदत्तके साथ पाणिग्रहण—श्रावकका चौथा अणुव्रत है ब्रह्मचर्याणुव्रत। ब्रह्मचर्य एक परमतप है जिसके कारण मन, वचन, कायका बल प्रकट होता है, भावोंमें विशुद्धि बढ़ती है और मोक्षमार्ग उसके लिए सुगम हो जाता है। ब्रह्मचर्य व्रतमें नीलीबाईकी प्रसिद्धि अधिक है। एक नगरमें जिनदत्त सेठ रहता था और उन सेठके इकलौती कन्याका नाम नीली बाई था। नीली बाई बहुत सुन्दर गुणवान विद्यावान थी। उसी नगरमें एक वैश्य रहता था, जिसका नाम समुद्रदत्त था। यह समुद्रदत्त मिथ्यादृष्टि था, उसके सागरदत्त नामका एक पुत्र था। एक दिन वह नीली जिन मंदिरमें पूजा करके सामायिक कर रही थी। वहां अचानक ही सागरदत्त अपने एक मित्रके साथ घूमता हुआ आ गया तो उस नीलीकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गया। वह सागरदत्त पर लो आया पर

उसको चिन्ता नीलीसे शादी करनेकी लग गई और उस कामावेशमें खानपान भी छोड़ दिया, निद्रा भी उड़ गई। यह बात सागरदत्तके पिताको मालूम हुई तो उसने सागरदत्तको बहुत समझाया कि नीली का पिता जैन धर्मावलम्बी है, वह जैन धर्मका अनुयायी किसी अन्यको अपनी पुत्री कैसे दे सकेगा? लेकिन सागरदत्त अपनी हठ पर रहा, तब वहां यह विचार किया गया कि हम और यह पुत्र दोनों दिखाऊ रूपसे जैन व्रत लें और जिन मंदिर रोज जाने लगे। सो वे जिनमंदिरमें जाने लगे, दर्शन पूजा स्वाध्याय आदिक करने लगे। अब सभी लोगोंको उनके जैन बन जानेका पूरा विश्वास हो गया। उस समय यह सेठ जिनदत्त ने धोखेमें आकर कि यह तो बहुत श्रद्धालु जैन है नीलीका विवाह सागरदत्तके साथ कर दिया।

पतिव्रता धर्मवत्सला नीलीपर कुटुम्बकी ओरसे कठिन उपद्रव—नीलीके विवाहोपरान्त कुछही दिनोंमें समुद्रदत्त पिता और सागरदत्त पुत्र दोनोंने जैन शासनको छोड़कर अन्य धर्म जिसमें थे उसीको मानने लगे। और उस नीलीको उसके पिताके घर भी आना-जाना बंद करा दिया। उधर नीलीका पिता दोनोंकी दिखावटी करतूतसे बहुत पछताने लगा, पर अब क्या किया जा सकता था? खैर नीलीने अपना धैर्य न छोड़ा। वह जैन धर्मका पालन करती थी। नित्यप्रति अरहंतदेवकी भक्ति किया करती थी अब तो उसको और भी श्रद्धा बढ़ गई। और कितने ही उपद्रव आये पर उसने अपने धर्मको नहीं छोड़ा। सागरदत्तने और उसके पिताने नीलीको बहुत समझाया कि तुम जैन धर्मको छोड़ दो और हमारे बौद्ध धर्मको अंगीकार कर लो, पर नीलीने रंच भी स्वीकार न किया। एक बार समुद्र दत्तने सोचा कि यह मेरे समझानेसे तो मानती नहीं, इसको अपने बौद्ध साधुवोंसे समझानेका हमें उपाय करना चाहिए। यह सोचकर कि साधुवोंका कहना अवश्य मान जायेगी। तो उसने अपने घर बौद्ध साधुवोंको अपने घर आहार करानेके लिए नीलीसे कहा। अब नीलीको श्रद्धा तो उन पर थी नहीं फिर भी उन्हें अपने घर आहार करनेके लिए बुलवाया, कमरेमें आदरसे बैठवाया और क्या किया कि अपनी दासीके द्वारा उन बौद्ध साधुवोंकी जूती मंगवाया और उनको छिपाकर एक स्थानमें रखवा दिया। बादमें भोजनोपरान्त उन्होंने पूछा कि मेरी जूती कहां? सो नीलीने कहा—महाराज आप तो अन्तर्यामी कहलाते हैं, आप स्वयं अपनी जूतीका पता लगा लें। लेकिन वे कहां पता लगा सकते थे? आखिर नीलीने बताया कि आपकी जूती तो आपके ही पीछेके कमरेमें है। मुड़कर देखा जूती वहां मौजूद थीं। खैर वे साधु लज्जित होकर चले गए लेकिन यह मामला अब तो और भी अधिक बढ़ गया। जब अपने साधुवों का अपमान देखा तो समुद्रदत्त और उसके घरके सब लोग नीलीके पूरे शत्रु बन गए। और यहां तक कि उसकी ननद ने उसको कुशीलका भी दोष लगाया। उस कुशीलके दोषका अपयश सुनकर नीलीको बड़ा खेद हुआ। वह नीली अपने पर हुए सारे आक्रमणोंको तो सहती गई पर कुशीलका कलंक उससे न सहा गया।

शीलव्रतके प्रभावसे नीलीका संकटहरण व बड़ी धर्मप्रभावना—दूसरे दिन वह जिनमंदिर गई और प्रभुके समक्ष खड़ी होकर हाथ जोड़कर बिनती करने लगी और संकल्प किया कि हे नाथ जब तक यह कलंक मेरा न हटेगा तब तक मैं अन्न जल ग्रहण न करूंगी। उसके उपवास शुरु हो गए। उस नगरकी देवीको जब यह हाल विदित हुआ तो उसने स्वयं नीलीके पास आकर उसे धैर्य बंधया और

उस ही रात राजा और मंत्रीको ऐसा स्वप्न दिया कि शहरके दरवाजे बंद हैं, किसीके खोलनेपर नहीं खुल रहे, तो यह वाणी हुई कि ये किवाड़ इस तरह न खुलेंगे। किसी शीलवती स्त्रीके पैर लगेंगे तब किवाड़ खुल सकेंगे। सबेरा हुआ और देखा कि मुख्य फाटक बंद है। नगरके बाहरका आना-जाना सब बंद हो गया तब सब लोग दुःखी होने लगे। तब राजाने रात्रिके स्वप्नको याद किया और शहर की सब स्त्रियोंको बुलाया। हर एक से किवाड़ खुलवाया पर वे किवाड़ किसीसे न खुले। अन्तमें नीलीके पैरका अंगूठा लगनेसे सब दरवाजे खुल गए। यह दृश्य देखकर राजाने व सभी नागरिकोंने नीलीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसका बड़ा सम्मान किया। और इस घटनासे पवित्र ब्रह्मचर्य व्रतकी बड़ी महिमा प्रकट हुई। जो ब्रह्मचर्य के धारक व्रती पुरुष हैं सो ब्रह्मचर्यके प्रतापसे उनके आत्माका आन्तरिक बल वृद्धिको प्राप्त होता है। साथ ही ऐसे दुर्द्धर ब्रह्मचर्य व्रतके धारणके प्रतापसे शुभ रागांशके कारण विशिष्ट पुण्यका बंध होता है, पापस नष्ट होता है। जिससे ऐसा अतिशय और देवोंकी सहायता उन्हें प्राप्त होती है।

परिग्रहपरिमाणव्रती संतोषी जयकुमारका वृत्तान्त—श्रावकके ५ अणुव्रतमें ५वां अणुव्रत है परिग्रह परिमाणअणुव्रत। परिग्रहका परिमाण करना यह श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है, जिनके परिग्रहका परिमाण नहीं होता उनके लालसा तृष्णा बहुत अधिक बढ़ जाती है और उनका जीवन क्लेशमें व्यतीत होता है। इस परिग्रह परिमाण व्रतमें जयकुमारकी प्रसिद्धि बहुत अधिक है। यह जयकुमारकी कथा उस समयकी है जबकि हस्तिनापुरमें सोमराजा राज्य करते थे। सोमराजाके पुत्रका नाम जयकुमार था वह जयकुमार बहुत संतोषी धर्मात्मा पुरुष था और उसकी स्त्री सुलोचना थी। एक दिन राजपुत्र जयकुमार और उनकी स्त्री सुलोचना इन दोनोंने एक विद्याधर और विद्याधरीको विमानपर बैठकर जाते देखा। उस दृश्यको देखते ही इन दोनोंको पूर्वभवका स्मरणहो गया। उस स्मृतिमें ये दोनों ही बेहोश हो गए। थोड़े समय बाद जब वे सचेत हुए तो पूर्व जन्मकी सिद्ध की हुई विद्या उनके पास आयी और प्रकट होकर कहने लगी कि आप जो आज्ञा देंगे सो हम करेंगी जब इसको पूर्वजन्मकी विद्या सिद्ध हुई तो ये दोनों जयकुमार और सुलोचना कैलाश पर्वतकी वंदना करने गए। वहां भरत राजाके बनवाये हुए अनेक जिनमंदिर थे। उनकी पूजा कर रहे थे।

संतोषप्रिय राजपुत्र जयकुमारकी देव द्वारा परीक्षा—उस समय स्वर्गमें इन्द्रकी सभामें शास्त्र व्याख्यान हो रहा था और इन्द्र परिग्रह परिमाणकी चर्चा करते हुए जय कुमारकी बड़ी प्रशंसा कर रहा था कि इस समय मध्यलोकमें राजपुत्र जयकुमार परिग्रह परिमाणके पूरे दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। इस वृत्तान्तको सुनकर एक रतिप्रभ नामके देवताको यह इच्छा हुई कि मैं जयकुमारके इस परिग्रह परिमाणव्रतकी परीक्षा करूंगा। सो वह रतिप्रभदेव चला। जिस समय जयकुमार और सुलोचना प्रभु पूजा करके बहुत दूर-दूर बैठे हुए थे, धर्मध्यानके समय बहुत दूर-दूर बैठना उचित होता है उसी नीतिके अनुसार वे दूर-दूर बैठे हुए थे तो वहां वह रतिप्रभ देव स्त्रीका रूप धरकर और साथ ही चार देवांगनायें लेकर जयकुमारके पास पहुंचा और वह देव कहने लगा कि आपकी स्त्री सुलोचनाके विवाहके समय जिस नमि विद्याधरने आपसे लड़ाई की थी उसकी मैं स्त्री हूं, स्वरूपा मेरा नाम है। मुझे अनेक प्रकारकी विद्यायें सिद्ध हैं, मैं

आपके रूपमें मुग्ध होकर आपके पास आयी हूं। मैं आपके रूपके सामने अपने पतिको भी छोड़कर आयी हूं। आप मुझे अंगीकार करें तो मैं अपनी सारी विद्यायें और राज्य आपको सौंपनेके लिए तैयार हूं। पहले यह घटना हुई थी। जब सुलोचनाका स्वयंवर था तो अनेक राजपुत्र वहां आये थे, जिसमें सुलोचनाने जयकुमारको वरण किया था, उस समय अनेक राजपुत्र रुष्ट होकर लड़ाई ठानने लगे थे। तो वहां नमि विद्याधरने जयकुमारसे लड़ाई की थी। उस नमि विद्याधरकी स्त्री बनकर वह रतिप्रभदेव कह रहा था, यों वह अनेक विद्यावोंका प्रलोभन दे रहा था।

राजपुत्र जयकुमारकी संतोष परीक्षामें उत्तीर्णता—उक्त सब बात सुनकर जयकुमारने उत्तर दिया कि यह तो कभी भी सम्भव नहीं, और ऐसा रूप व ऐसी विद्या मुझे नहीं चाहिए। मैंने जो ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाणका व्रत लिया है उस अपने व्रतको मैं कभी भी नहीं छोड़ सकता। और तेरा जैसा सुन्दर रूप है यदि तू ऐसी शीलवती होती तो कितना अच्छा था, यह तो स्वर्णमें सुगंध होने जैसी बात होती। तुमने मनुष्य जैसा देह पाया, राज घरानेके अच्छे साधन पाये और अपने आत्माके कल्याणमें उपयोग नहीं जाता यह जानकर मुझे दुःख होता है। सो तू अब भी पतिव्रत धर्मको धारण कर। प्रभुकी पूजा स्वाध्याय आदिकमें लीन हो, ऐसा जयकुमारने बहुत समझाया, पश्चात् अपनी सामायिकमें जुट गया। विधिपूर्वक सामायिक क्रिया करके वह ध्यानमें लीन हो गया। उस समय वह बनावटीदेव, रतिप्रभ, जिसने स्त्रीका रूप धारण किया था जयकुमारको ध्यानसे डिगानेके लिए अनेक उपद्रव करने लगा। बड़े सुरीले सुन्दर गान तान करने लगा। फिर बड़े अटपट रूप दिखाने लगा। किन्तु वह धीर वीर जयकुमारके मनको जरा भी विचलित न कर सका।

संतोषी राजपुत्र जयकुमारका देव द्वारा सत्कार—अन्तमें हार मानकर उस रति प्रभ देवने अपना सही रूप दिखाया और संतुष्ट होकर कहने लगा कि हे जयकुमार धन्यहो तुम्हारा संतोष। तुम्हारे मनकी स्थिरता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं मनुष्य नहीं हूं। मैं स्वर्गका देव हूं, मेरा नाम रतिप्रभ है। स्वर्गमें इन्द्र महाराजने आपकी जैसी महिमा बतायी थी वैसा ही आपमें पाया। इस प्रकार रतिप्रभने जयकुमारकी बड़ी प्रशंसा की। बड़े आदरके साथ अनेक कपड़े गहने आभूषण आदि भेंट देकर वह स्वर्गको चला गया। यहां ये तृष्णारहित ब्रह्मचर्यके धनी जय कुमार अपनी स्त्री सुलोचना सहित कई दिन तक कैलाश पर्वत पर रहे और प्रतिदिन भगवानकी पूजा वंदना की। उसके पश्चात् अपने घर आये और कुछ दिन रहकर वे गृहस्थीकी सम्हाल करते रहे। गृहस्थीके सुख भोगे, पश्चात् मुनि हुए। मुनि होकर जयकुमारने बहुत तप धारण किया फिर मोक्ष सिधारे। रानी सुलोचनाने भी श्रावकके व्रत धारण किए और समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग गई। इस कथाका तात्पर्य यह है कि जैसे वह जयकुमार विद्याके और राज्यके लोभमें न आया और अपने धर्ममें दृढ़ रहा इसी प्रकार हम आपको भी धर्ममें दृढ़ रहना चाहिए। जो पुरुष अपना जीवन संतोषसे बिताता है और कारण पाकर सर्वसे विरक्त होकर आत्मानुभवमें अधिक समय लगता है वह अन्तमें निर्वाणपदको प्राप्त होता है। इस कथानकसे हम आपको शिक्षा यह लेना है कि हमेशा परिग्रहसे विरक्त रहें। तृष्णासे दूर रहें और परिग्रहमें संतोष रखें।

धनश्रीसत्यघोषी च तापसारक्षकामपि ।

उपाख्येयास्तथा श्मश्रु नवनीतो यथाक्रमम् ॥ ६५ ॥

हिंसापापमें प्रसिद्ध धनश्रीका दुराचरण—श्रावकके ५ पापोंका त्याग रहता है, वे पांचों ही पाप संसारमें भटकाने वाले हैं। अनेक दुर्गतियोंके कारण हैं। उन सब पापोंमें प्रसिद्ध है हिंसा। जिनका हिंसामें चित्त रहता है उनके सदैव पापका बंध चलता है जिसके फलमें मरणकर दुर्गति ही पाते हैं। हिंसा पापमें धन श्री की बड़ी प्रसिद्धि हुई है। बहुत पहलेकी कथा है कि एक नगरमें धनपाल सेठ रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम धनश्री था। वह धन श्री दुष्ट स्वभावकी थी और उसके मनमें निरन्तर हिंसा ही रुचती थी। सेठ धनपालने उस धनश्रीको बहुत सम्बोधन किया धर्म वृत्तिसे रहना, पतिव्रतका पालन करना, पतिकी आज्ञा मानना, जीवोंकी दया पालना। सत्य बोलना आदिक अनेक शिक्षायें समय समयपर दिया करता था परन्तु धनश्रीने उसकी एक भी बात न मानी। तो जहां प्रकृति भिन्न हो वहां पति पत्नीकी प्रकृत्या नहीं पटती, फिर जो दुष्टा हिंसा चित्त वाली हो तो उस सेठानीकी सेठसे बिल्कुल ही वृत्ति न मिलती थी। तो धनश्रीके द्वारा सेठ धनपालको कोई आराम न था। कुछ दिन बाद धनश्रीके एक लड़का और एक लड़की ये दो संतान हुई। लड़केका नाम गुणपाल था और लड़कीका नाम सुन्दरी था। संतान होनेके पहले ही सेठ सेठानीने अपने पास एक लड़का रख रखा था। जब बहुत दिन तक संतान न हुए तो यह सोचकर कि इस परिवारका, इस धनका कोई उत्तराधिकारी तो हो। सो एक लड़का गोद ले लिया था, उसका नाम था कुण्डल। उस कुण्डलको वे सेठ सेठानी पुत्रके समान मानते थे। कुछ दिन बाद सेठ धनपालका तो देहान्त हो गया और वह कुण्डल लड़का जवान हुआ। उस दुष्ट धनश्रीका उस कुण्डलसे अपने पतिका नाता लग गया। पति तो गुजर गया था और यह कुण्डल रखा हुआ लड़का था तो उस नातेसे यद्यपि वह धनश्रीका ही लड़का कहलाया, पर वह धनश्री उस कुण्डलसे स्नेह करने लगी और कुशील सेवन करने लगी। सो ऐसी स्वतंत्रता मिलने पर उस धनश्रीकी कुटिलताका ठिकाना न रहा।

हिंसाप्रिय धनश्रीकी बधकारक प्रवृत्ति—अब धनश्रीका पुत्र गुणपाल बड़ा हुआ तो वह पापिनी धनश्री सोचने लगी कि अब यह लड़का बड़ा हो गया है और यह भलाई बुराई समझने लगा है, यह मेरी और कुण्डलकी दोस्तीमें विघ्न डालेगा यह मेरे लिए कांटा बन गया है। उस कुशीलके बेगमें धनश्रीको अपना ही गुणपाल लड़का कांटा लगने लगा? सो सोचा कि इस कांटेको निकालना चाहिए, अर्थात् किसी प्रकारसे इस गुणपालको मार डालना चाहिए। तब रात्रिको धनश्री उस कुण्डलसे कहने लगी कि देखो आज सवेरे ही गुणपालको गाय चराने जंगल भेजूंगी और तुम हथियार लेकर पीछे-पीछे चले जाना और जंगलमें उसे मार डालना। जब तुम गुणपालको मार डालोगे तब ही हम तुम ठीक आनन्दसे रह पायेंगे। कुण्डलने भी धनश्रीकी यह सलाह मान ली क्योंकि कुण्डलको गुणपालसे क्या स्नेह? लेकिन यह सब वार्ता गुणपालकी बहिन सुन्दरीने सुन लिया। जब वार्ता हो रही थी तो सुन्दरी छिपे-छिपे सब बात सुन रही थी। तो उसने अपने भाई गुणपालको सावधान कर दिया और रातमें जो मंत्रणा हुई थी वह सब भी अपने भाईको सुना दी। तब गुणपाल बोला—बहिन तूने बड़ा अच्छा किया

जो मुझे सावधान किया। आगे भी जो बात समय-समय पर हो वह भी हमें बता दिया करना। जब कुण्डल मेरे मारनेके उपायमें है तो मैं ही कुण्डलको मार डालनेका उपाय करूंगा। प्रातः काल होने वाला था तब धनश्रीने गुणपालसे कहा कि बेटा गुणपाल आज कुण्डलको ज्वर हा गया है इसलिए तुम पशु चराने जावोगे। गुणपालको सब वृत्तान्त मालूम था ही। वह जंगलमें तो चला गया पर एक तलवार अपने कपड़ेमें छिपाकर चला और उसने जंगलमें पहुंचने पर अपने कपड़े उतार दिये और एक ठूठको वे कपड़े पहना दिया और स्वयं एक झाड़ीमें तलवार लेकर छिप गया। पीछेसे जब कुण्डल आया तो उस ठूठको गुणपाल समझकर कुल्हाड़ेका भारी प्रहार किया, जिससे उस ठूठके टुकड़े-टुकड़े हो गए। यह दृश्य देखकर कुण्डल आश्चर्यमें पड़ गया और बड़ा घबड़ाया कि यह क्या हुआ। वह कुछ ऐसा सोच ही रहा था कि पीछेसे गुणपालने आकर तलवारसे कुण्डलके टुकड़े कर डाले। देखो वह कुण्डल गुणपालको मारना चाहता था पर खुद गुणपालके ही हाथसे मारा गया।

हिंसापापप्रिय धनश्रीकी हिंसावृत्ति और उसका परिणाम दुर्दशा दुर्मरण व दुर्गति—अब वह गुणपाल लौटकर घर आया, उसके कपड़ोंपर खूनके धब्बे दिखाई दिए, पर कुण्डलके न दिखने पर धनश्रीने पूछा कि कुण्डल कहां है? तो पहलेतो चुप रहा, फिर साहस करके बोला कि इस तलवारसे पूछो कि कुण्डल कहां है। धनश्री सब बात समझ गई कि कुण्डल मार डाला गया। उसी समय तत्काल धनश्रीने गुणपालके हाथसे तलवार छुड़ाकर गुणपालकी हत्या कर दी। यह दृश्य गुणपालकी बहिन सुन्दरी देख रही थी कि मेरी ही मानें मेरे प्रिय भाई की हत्या कर दी सो वह भी मूसल लेकर धनश्रीको मारने दौड़ी। धनश्री और सुन्दरीके बीच मारा-मारी हो रही थी कि वह समाचार नगरमें सब जगह फैल गया। राजाके पास भी इसकी खबर गई तो राजाने उस धनश्रीको हत्यारिनी पापिनी जानकर सेवकोंको आज्ञा दी कि इस धनश्रीके नाक-कान काट लो, फिर इसे गधे पर बैठाकर नगरमें फिरावो और फिर इसे प्राणदण्ड दे दो। सेवकोंने राजाज्ञासे वैसा ही किया। धनश्री छोटे ध्यानसे मरकर नरक गई। तो हिंसा पापके फलमें जीवोंको धनश्रीके समान दोनों ही जन्मोंमें दुःख भोगना पड़ता है। यह हिंसा पाप सर्वथा ही छोड़ने योग्य है।

श्रीभूतका सत्यताकी दुहाई सत्यघोष नाम प्रसिद्ध करवाना—श्रावकने दूसरे पाप झूठका त्याग किया है। असत्य पापके कारण लोगोंको प्रतीति नहीं रहती, स्वयंका उपयोग कलुषित रहता है, वह धर्मका पात्र नहीं रहता। झूठ बोलने वाले लोग प्रायः मायाचारका आश्रय लेते हैं जिससे उनका पुण्य निरन्तर कुटिल रहता है इस पापमें सत्यघोष प्रसिद्ध हुआ है। इसी भरत क्षेत्रमें सिंहपुर नगर था जहां राजा सिंहसेन राज्य करता था, उनकी रानीका नाम रामदत्ता था, उसी नगरमें एक पुरोहित रहता था जिसका नाम श्रीभूत था। श्रीभूत बहुत ही धोखा देने वाला और धोखा देकर अनेकोंका धन हड़पनेका प्रयत्न रखता था। उसने लोगोंको धोखा देने के लिए अपने जनेऊमें एक छोटा चाकू बांध रखा था और उसे दिखाकर लोगोंसे कहता कि मेरे सत्यव्रतका नियम है। यदि भूलसे झूठ बोल जाऊं तो मैं इस चाकूके द्वारा अपनी जीभ काट लूंगा इसलिए मैंने यह चाकू जनेऊमें लटका रखा है। और इसी प्रसंगको लेकर उसने अपना नाम सत्यघोष प्रसिद्ध कर रखा था। नगरके लोग उसपर बड़ा विश्वास

करते थे। अनेक लोग उसके यहां अपना धन धरोहरके रूपमें रखने आते थे। लेकिन वह सत्यघोष किसी किसीकी धरोहर तो वापिस कर देता था और कई लोगोंकी धरोहर हड़प लेता था। वह यदि कहीं फरियाद भी करे तो नगरके लोग उल्टा उसे ही झूठा कहते थे। यदि कोई लोग राजाके पास जाकर इस सत्यघोषकी नालिस भी करते थे तो भी राजाके चित्तमें सत्यघोषने इतना प्रभाव जमा रखा था और विश्वास बना रखा था कि जिससे राजा किसीकी भी न सुनता था।

सत्यघोषके पास समुद्रदत्तके पांच महामूल्यके रत्न फंस जाना—एक बार पद्मखण्ड नगरमें रहने वाला समुद्रदत्त व्यापारके कामसे सिंहपुर नगरमें आया। उसकी इच्छा विदेश जाकर व्यापार करनेकी थी। सो उस समुद्रदत्तने सोचा कि हम बहुत दूर विदेश व्यापार करनेके लिए जा रहे हैं, यदि वहां कुछ टोटा पड़ जाय या जहाज आदिक डूब जाय तो यहां का रखा हुआ धन तो काम आ जायगा। इस कारण जो उसके पास ५ रत्न थे उन्हें सत्यघोषके पास जमा करने गया और बड़े विनयसे उसके यहां ५ रत्न रख दिया यह समुद्रदत्त अब रत्नद्वीपमें वहां बहुत दिन तक रहा। अच्छा व्यापार चला और धन कमाया तब वह लौटकर आ रहा था तो उसका जहाज टकरा गया और फट गया जिससे उसके साथी और सारा धन समुद्रमें डूब गया। अब वह बेचारा समुद्रदत्त जहाजके टूटे हुए किसी काठके टुकड़ेके सहारे तैरता हुआ बड़ी कठिनाईसे उस समुद्रके किनारे आ सका और वह समुद्रदत्त सीधा सत्यघोषके पास गया, यह सोचकर कि सत्यघोषके यहां मेरे ५ रत्न रखे हैं उन्हें लूंगा, और पुनः व्यापार करके अपना दरिद्र्य मिटाऊंगा इधर सत्यघोषने समुद्रदत्तके जहाजके डूबनेकी बात पहले ही सुन रखी थी और अब समुद्रदत्तको आते देखातो सत्यघोषने समझ लिया कि यह अपने रत्न अवश्य मांगेगा। अब सत्यघोषने एक मायाजाल रचा, वह पहलेसे ही अपने पासके बैठने वाले लोगोंसे कहने लगा कि आज कुछ असगुन होने वाला है। देखो वहा कोई भिखारीसा आ रहा जान पड़ता है यह वही मनुष्य है जिसका कि कल जहाज डूब गया सुना था। अब यह धन डूब जानेसे अवश्य पागल हो गया होगा। और यह न जाने किससे क्या कह बैठेगा? इतनेमें समुद्रदत्त आ ही गया और सत्यघोषको नमस्कार कर बड़े विनयसे अपने पांचों रत्न मांगने लगा। तब सत्यघोषने पास बैठे हुए लोगोंसे कहा कि देखा जी जो मैंने अभी कहा था वह बात यथार्थ सत्य निकली। सत्यघोषने समुद्रदत्तको उत्तर दिया कि भाई तू कौन है, कहांका रहने वाला है। मैं तो तुझे पहचानता भी नहीं हूं और तुम क्या कर रहे हो? तुम्हारा चित्त ठीक भी है या नहीं। तेरे पास रत्न आये भी कहांसे? और फिर मेरे पास रखनेका सवाल ही क्या? मालूम होता है कि तेरा धन डूब जानेसे तू पागल हो गया है। यदि तेरे पास रत्न भी थे तो और किसीके यहां भूल आया होगा, यहां तू कैसे मांगने आया? सत्यघोषने समुद्रदत्तको अनेक भली बुरी बातें कहीं और खूब उसे डाट लगायी, और इतना ही नहीं, उसने अपने नौकरोंके हाथ राजाके पास भेज दिया और यह कहलाकर भेजा कि यह भिखारी हमें बिना कारण कष्ट देता है, आप इसका प्रबंध कर दें। अब राजा सिंहसेन इस झूठे सत्यघोषको सच्चा सत्यघोष जान रहे थे इस कारण उन्होंने उस बेचारे समुद्रदत्तकी एक भी बात न सुनी और उसे झूठा घोषित करके निकलवा दिया।

समुद्रदत्त व सत्यघोषके मामलेका निर्णय करानेका रानी द्वारा प्रयास—अब वह बेचारा

समुद्रदत्त उस पापी सत्यघोषके द्वारा ठगा जानेसे सचमुच पागल जैसा हो गया। वह नगरमें बाजारमें जहां भी जाता वहां यह कहता रहता था कि सत्यघोष मेरे ५ रत्न नहीं देता। कोई उसकी बात सच न माने? अब तो नगरके लोग उसे पागल कहने लगे। वह समुद्रदत्त दिन भर नगरमें रोता हुआ घूमता रहता था और रात्रिको राजाके महलके पीछे एक पेड़पर चढ़कर रोज पुकारा करता था कि सत्यघोषके पासमैं ५ रत्न जमा कर गया था, वह नहीं देता। ऐसा चिल्लाते चिल्लाते ६ महीना हो गए। एक दिन महारानी रामदत्ताने राजासे कहा कि आप सत्यघोषकी मायामें न भूल जायें इस बेचारे समुद्रदत्तका ठीक-ठीक न्याय करो। राजाने रानीके कहनेसे समुद्रदत्तको बुलवाया तो उसने सच बात राजासे कह सुनाया। राजाने रानीसे कहा कि मालूम तो ऐसा पड़ता है कि समुद्रदत्त सच कह रहा है, पर इसका भेद खुलनेका कोई उपाय नहीं सूझ रहा। रानीने कुछ देर सोचा और कहा कि हम इसका उपाय करेंगी।

रानी द्वारा सत्यघोषकी बेईमानी व मायाका प्रकट करना—दूसरे दिन रानीने सत्यघोषको महलमें बुलवाया और चौपड़ खेलनेको कहा तो सत्यघोष रानीका कहना न टाल सका और चौपड़ खेलने लगा। रानीने पहले ही बाजीमें सत्यघोषकी अंगूठी जीत ली और भीतर उसे खेल खिलाती रही और चुपचाप दासीको बुलाकर कहा कि सत्यघोषके घर जावो और उसकी स्त्रीसे कहो कि सत्यघोषने तुम्हारे पास अपनी यह निशानी भेजी है और समुद्रदत्तके रत्न मंगवाये हैं। दासी सत्यघोषके घर गई और अंगूठी दिखाकर पांचों रत्न मंगवानेकी बात कही तो पुरोहितनने दासीको उत्तर दिया कि यह अंगूठी उन जैसी मालूम तो पड़ती है पर पूरा विश्वास नहीं कि यह उन्हींकी अंगूठी है। दासी लौटकर रानीके पास आयी इस बीच रानीने सत्यघोषकी चाकू और जनेऊ भी जीत लिया था। जब पुरोहितनका उत्तर रानीने सुना तो रानीने इस बार जनेऊ और चाकू दासीको देकर फिर सत्यघोषके घर भेजा। दासी पहुंची और सत्यघोषकी स्त्रीके हाथमें चाकू और जनेऊ देकर कहा—लो यह उनकी निशानी, क्या अभी भी आपको कुछ संदेह है? फौरन पांचों रत्न दे दीजिए, तुरन्त इसी समय मंगाया है। तो पुरोहितनको पूरा विश्वास हो गया और उसने पांचों रत्न दासीको दे दिया, दासीने वे रत्न लेजाकर रानीको दे दिया। अब रानीने प्रसन्न होकर खेल समाप्त कर दिया और पुरोहित जी अपने घर पहुंचे। रानीने रत्न राजाके सामने रख दिया।

असत्यवादी सत्यघोषको कठिन दण्ड—महाराजने सिपाही भेजकर सत्यघोषको पकड़ बुलवाया। सत्यघोष भी सब जान गया और अपनेको अभागा और दण्ड पाने योग्य समझने लगा। राजाने कुछ अपने रत्न उन पांचों रत्नोंमें मिलाकर समुद्रदत्तको बुलाकर कहा कि इन रत्नोंमें से अपने रत्नोंकी पहिचान कर लो। समुद्रदत्तने अपने पांचों ही रत्न छान्ट लिए, सत्यघोषकी गुंडागर्दी राजाकी समझमें आ गई और मंत्रियोंकी सलाहसे सत्यघोषको तीन दण्ड सुनाये। एक तो यह दण्ड कि थाली भर गोबर खाये, या फिर हमारे मल्लके ३२ घूँसे सहे या फिर अपना सारा धन राजाको दे दे। अब सत्यघोषने सबसे पहले थालीभर गोबर खाना मंजूर किया, जब खाने लगा तो दो चार घ्रास भी न खा सका। फिर मल्लके ३२ घूँसे सहना स्वीकार किया, पर एक ही घूँसा लगनेपर वह अधमरा हो गया, फिर विवश होकर उसे सब धन देना पड़ा। तो देखिये सत्यघोषने इस तरहसे तीनों ही दण्ड भोगे और

थोड़े ही दिनोंमें खोटे भावोंसे मरकर वह कुगतिमें गया। झूठ बोलनेका परिणाम बहुत बुरा होता है। मनुष्यको चाहिए कि कोई परिस्थिति ऐसी आये कि थोड़ा नुकसान भी होता हो तो भले ही सहले पर उसे बचानेके लिए भी झूठ न बोले।

तापसीके भेषमें चोरकी मायाचारी—श्रावकने तीसरे चोरी पापका भी त्याग किया है। चोरी करने वालेका कभी भी समाधान चित्त नहीं रहता, निरन्तर शंकित रहता है और इस शंकासे उनका रहना बैठना सबकुछ असमंजसरूप होता है। चोरीके पापमें एक साधु भेषधारी चोर प्रसिद्ध हुआ है। पूर्वकालमें कौसम्बी नगरीमें सिंहस्थ राज्य करता था, वह न्यायप्रिय था, उसी नगरमें एक चोर रहता था। उसका क्या कार्य था कि साधुके भेषमें रहता था और एक बड़े पेड़की डालसे छींका बांध रखा था और उसमें बैठ जाता था, लोग उसके पास आते थे तो वह यह कहता था कि दूसरेकी वस्तुकी तो बात क्या, मैं तो धरती तकको भी नहीं छूता हूं। सदा छींके पर अधर लटका रहता था। दिनभर वह उसी तरहसे डालपर रहता था पर रात्रिको वह बस्तीमें जाकर चोरी किया करता था। उसके साधुभेषके कारण, मीठे उपदेशके कारण लोगोंको उसपर बड़ा विश्वास जम गया। वह चोरीका धन एक पास हीमें खोद रखे कुवेमें डाल देता था और नीचे-नीचे दूर तक गुफा बना रखी थी जिसमें उसकी स्त्री भोजन तैयार करके उसे खिलाती थी। जब नगरमें बहुतसी चोरियां हो चुकी और पता न लगे तो राजाने थानेदारको बुलवाया और बड़ी डाट लगायी, थानेदार पता लगाता फिरे पर अन्तमें हार मानकर चिन्तामें बैठ गया।

एक ब्राह्मण द्वारा ढोंगी साधुवोंके ढोंगी सूचक कथाका कथन—वहां एक भिखारी ब्राह्मण आया और खानेको कुछ भोजन थानेदारसे मांगा। तो वहां थानेदार ने नाराज होकर कहा कि तुम्हें खानेको पड़ी है यहां तो जानकी आफत आ रही है। तो वहां ब्राह्मणने थानेदारसे उदासीका कारण पूछा तो थानेदारने अपना सारा हाल उससे कह सुनाया। तो उस ब्राह्मणने वहां कुछ सोचकर कहा कि चोरी करने वाला तो वही मनुष्यहो सकता है जिसने अपनी सच्चाईकी बड़ी प्रसिद्धि कर रखी हो, जिन्होंने अपनी बड़ाईकी बड़ी प्रसिद्धि कर रखा हो और उसका बड़ा ढोंग फैल रहा हो, ऐसे लोग बड़े ठग निकलते हैं। तब थानेदार बोला कि यहां तो एक साधु पास ही में रहता है जो बड़ा संतोषी है, उसपर मुझे रंच भी संदेह नहीं। उसे तो नगरवासी लोग महात्मा मानते हैं। तो वह ब्राह्मण बोला कि आप उसकी सच्चाईका पता तो लगाइये। देखो हम (ब्राह्मण) अपने ऊपर बीती हुई एक घटना सुनाते हैं, सुनो हमारी स्त्रीने अपनेको बड़ी सती प्रसिद्ध कर रखा था, जब वह बच्चेको दूध पिलाती थी तो बच्चेको अपने पूरे स्तन निकाल कर दूध न पिलाती थी, सारे स्तनको कपड़ेसे ढांके रहती थी सिर्फ स्तनकी काली घुंड़ी बच्चेके मुखमें डाल देती थी। जब कोई पूछता कि ऐसा क्यों करती? तो वह कहती थी कि यह बच्चा भी पर पुरुष है। उसे यदि मैं अपने स्तन छुवाती हूं तो उसमें मेरे सतीत्वमें दोष आता है। इस प्रकारकी बड़ी सती बनती थी। एक दिन मैंने अपनी आंखों से दूसरेके साथ व्यभिचार करते देखा तभीसे मैं उससे विरक्त होकर तीर्थ यात्राको निकल पड़ा हूं। मैं भिखारी न था, बड़ा सम्पन्न था। बहुतसा सोना मेरे पास था। मैंने उस सोनेको एक पोली लाठीके अन्दर भरवाकर उसका मुख बंद कर रखा था और उस लाठीको मैं हमेशा अपने हाथमें रखता था। एक दिनकी घटना कि यात्रा करते हुए मैं

हमको एक जगह एक लड़का मिल गया, अब वह भी हमारे साथ रहने लगा। साथ रहते हुए मैं कुछ दिनों में हमको उसपर विश्वास हो गया। एक दिन हम और वह लड़का दोनों एक कुम्हारके यहां शामको ठहर गए, सुबह वहांसे आगे बढ़ गए। कुछ दूर जाकर वह लड़का मेरेसे बोला—अरे रे रे बड़ा गजब हो गया, मैं हूं चोरीका त्यागी और यह कुम्हारके घरका तिनका मेरे देहमें चिपक कर चला आया, मैं उसे वापिस करके आऊंगा। आखिर वापिस करने गया तबसे उस बालकपर मुझे बड़ा विश्वास हो गया। फिर एक दिनकी बात कि मेरे पास भोजन न था सो उस लड़केसे एक जगहसे भोजन लानेको कहा तो वह लड़का बोला कि भोजन लेकर लौटते-लौटते रात हो जायगी इसलिए रातको कुत्ते आदिकसे बचनेके लिए यह लाठी मुझे दे दीजिए। सो मैंने विश्वासमें आकर वह लाठी उसे दे दी। पर वह लाठी लेकर अभी तक लौटकर नहीं आया। मैंने उसका बड़ा पता लगाया पर वह कहीं न मिला। तो ऐसे कितने ही ढोंगी लोग होते हैं जो अपनी सच्चाईकी बड़ी प्रसिद्धि करते हैं मगर वे चोर और दगाबाज होते हैं।

ब्राह्मण द्वारा तापसी चोरकी मायाचारी व चोरीका प्रकाशन—अच्छा थानेदार साहब मैं ही आज रातको उस साधुकी परीक्षा करूंगा। अब वह ब्राह्मण रात होते ही उस तापसीके आश्रमपर पहुंचा, तापसीके चेलोंने टोका कि तू कौन है? तो ब्राह्मण बड़े दीनताभरे शब्दोंमें बोला कि मैं एक मुसाफिर हूं मुझे रातको सूझता नहीं है, यहीं कहीं किसी कोनेमें रातभर पड़े रहेंगे और सवेरा होते ही यहांसे चले जायेंगे। यह समाचार उन चेलोंने तापसीको दिया तो तापसी बोला—कोई बात नहीं, अंधा है, पड़ा रहने दो रातभर किसी कोनेमें, उससे अपना कुछ बिगड़ता नहीं। तो एक जगह कोनेमें उसे पड़े रहनेकी आज्ञा दे दिया। वह पड़ा-पड़ा सब हाल छुप छुपकर देखता रहा कि यहां ये लोग क्या करते हैं। सो आधी रात बीतते ही तापसी अपने चेलों सहित नगर गया, वहांसे बहुत धन चुराकर लाये, पासके कुवेंमें सब धन जमा किया, और पासकी गुफामें रहने वाली उसकी स्त्रीने भोजन बनाकर खिलाया, यह सब दृश्य उस ब्राह्मणने रातको देखा। बस अब क्या था, सवेरा होते ही वह ब्राह्मण उस थानेदारके पास पहुंचा और सारा हाल कह सुनाया। थानेदारने राजाको भी खबर कर दिया, आखिरवह तापसी चेलों सहित पकड़ा गया, सारा माल बरामद हुआ। चेलोंको तो जेल करवा दिया और उस तापसीको फांसीका हुक्म दे दिया जिससे वह मरकर नरक गया। तो चोरी करना बड़ा पाप है। चोरी करने वाले लोग न इस भवमें सुखसे रह पाते और न वे परभव ही सुधार पाते, इस कारण सज्जन पुरुष चोरीके पापका त्याग करते हैं। श्रावकजन कुशीलका भी त्याग करते हैं। जिसके ब्रह्मचर्य नहीं उसका तन, मन, धन, वचन सबकुछ हीन हो जाता है और धर्ममें उसका चित्त नहीं रह पाता।

कुशील पापसे कुशील यमदण्डकी दुर्दशा—कुशील पापमें एक कोतवाल प्रसिद्ध हुआ है। नासिक नगरमें एक कनकरथ राजा रहता था, उसी नगरमें एक कोतवाल था जिसका नाम था यमदण्ड। यमदण्डकी माताका नाम वसुन्धरा था। वह वसुन्धरा छोटी उमरमें ही विधवा हो गई थी और वह व्यभिचारिणी भी अधिक हो गई। एक दिन यमदण्ड तो रात्रिमें चौकसी करने चला गया, उधर वसुन्धरा (कोतवालकी मां) अपने ही लड़के यमदण्डकी स्त्रीसे उसके सब गहने लेकर अपने यारको देनेके लिए

चली गई। जिस समय यारके बताये हुए ठिकानेपर वह जा रही थी उस समय यमदंडने रातको ही देख लिया। कि यह कोई स्त्री है जो कहीं जा रही है सो उसने उसका पीछा किया। दोनों ही एक दूसरेको न पहिचान सके। जब उस ठिकाने पर वह स्त्री पहुंची तो वहीं यमदण्ड भी पहुंच गया, उस वसुन्धराने उसे समझा कि यह मेरा वही यार है और उस यमदण्ड कोतवालने समझा कि यह तो कोई व्यभिचारिणी स्त्री है। आखिर वसुन्धराके साथ उस कोतवालने व्यभिचार भी किया और वसुन्धराने उसको सब गहने भी दे दिया पर दोनों एक दूसरेको पहचान न सके। घर आनेपर कोतवालने वे गहने अपनी स्त्रीको दे दिया, तो स्त्रीने पूछा कि मेरे ये गहनेतो सासजी याने तुम्हारी माताजी हमसे मांगकर ले गई थीं ये तुम्हारे हाथ कैसे लगे? तो यमदण्ड कोतवाल निरुत्तर रह गया और सब बात समझ गया। आखिर उसको वसुन्धराके साथ कामसेवन करनेका चस्का लग गया। लुके छिपे वह रोज-रोज कामसेवन करता रहा। देखिये विषयवासनामें पड़कर यह मनुष्य अंधा हो जाता है उसके लिए क्या माता, क्या बहिन, क्या पुत्री, उसे कुछ सुध बुध नहीं रहती। अब उस कोतवालकी स्त्रीको शंका तो उसी समय हो गई, बादमें भी स्त्रियोंमें कुछ उसकी चर्चा चली, यहां तक कि महाराजा कनकरथके पास भी यह खबर पहुंची कि यमदण्ड कोतवाल अपनी माताके साथ व्यभिचार करता है। तो पहले तो उसे विश्वास न हुआ इस बात पर फिर भी उसका पक्का पता लगानेके लिए उसने सिपाहियोंको भेजा। सिपाही रात्रिमें इसकी खोजको निकले और यमदण्ड वाला सब समाचार राजाको स्पष्ट दिखा दिया। राजाने उस पापी यमदण्डको कठोर दण्ड दिया जिससे वह थोड़े ही दिनोंमें मरकर नरक गया। तो सारांश यह है कि चाहे कोई पुरुष हो अथवा स्त्री हो, जिस किसीको भी व्यभिचारका चस्का लग जाता है वह माता, बहिन, पुत्री आदि कुछ नहीं गिनता, सबके साथ पाप करने लगता है। जिस पापके कारण इस भवमें घोर दुःख उठाना पड़ता है और परभवमें कुगतिमें जाना होता है। इस कारण शान्ति सुख चाहने वाले पुरुषोंको ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहना चाहिए और जो गृहस्थ श्रावकजन हैं उनको अपनी स्त्री और पतिसे ही संतोष रखना चाहिए। जो गृहस्थीमें रहकर भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं उनका मन प्रसन्न रहता है और आत्मतत्त्वको निरखकर अनेक बार अद्भुत आनन्दका अनुभव करनेका अवसर मिलता रहता है।

परिग्रहपापमें तृष्णावृद्धिमें प्रसिद्ध लुब्धदत्तका प्रारम्भिक परिचय—आत्माकी रक्षा अपने आपके सहजस्वरूपके मननमें है। मैं वास्तवमें क्या हूं। दूसरेकी मददके बिना शरीर और कर्मके सम्बन्धके बिना अपने आपकी सत्तासे मैं एक ज्ञाताद्रष्टा पदार्थ हूं। सो इस ज्ञानानन्द स्वभावमें अपनी आस्था रखना यह ही आत्मरक्षाका उपाय है। जितने भी धर्मपालन हैं वे सब इसही आत्मस्वरूपकी स्मृतिके लिए हैं। इस वास्तविक धर्मसाधनमें बाधक हैं तो बाह्य विषय साधनोंका संग, परिग्रहका लगाव। तब इस जीवको सिद्ध भगवान होनेमें ही कल्चाण है, और वहां ही यह रहेगा अकेला केवल पुञ्ज, ऐसी स्थिति पानेके लिए यहां भी केवल सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि करनी होगी और इसके लिए जो बाधक हैं बाह्य परिग्रह उनका परित्याग करना होगा। गृहस्थावस्थामें परिग्रहका परिमाण करना होगा। जिसके परिमाण नहीं है, परिग्रहकी तृष्णा है उसका जीवन सारा कष्टमें व्यतीत होता है। परिग्रह पापमें एक लुब्धदत्त प्रसिद्ध हुआ है, बहुत पुरानी घटना है—अयोध्या नगरीमें एक भवदत्त नामका सेठ

था, उसके लड़केका नाम था लुब्धदत्त । वह लोभी विशेष था । धन कमानेके लिए वह परदेश गया । धन तो कमाया बहुत मगर रास्तेमें जहाजमें आ रहा था कि वहां लुटेरोंने सारा धन छीन लिया और इसके पास कुछ भी न रहा । आया अपने गांव । जब कुछ भी न रहा, पूर्ण निर्धन हो गया तो जैसा चाहे काम करे । एक बार किसीके घर उसने छाँछ पिया तो छाँछ पीनेके बाद जो उसने मूँछपर हाथ फेरा तो कुछ मक्खनके कण हाथमें आ गए । उसने सोचा कि यह रोजगार अच्छा है । रोज-रोज २५—३० जनोके यहां छाँछ पीने जायेंगे और मूँछपर हाथ फेरकर जो घी जुड़ेगा उस घीको जोड़कर रखूँगा । जब कुछ पूँजी न रही तब बैठे-बैठे क्या करे ? लोभ प्राकृतिक था । सो इस तरहसे वह मक्खनको जोड़ने लगा । धीरे-धीरे उसका नाम भी स्मश्रुनवनीत याने मूँछ मक्खन पड़ गया । दो चार सालमें ही उसके पास काफी मक्खन जुड़ गया । एक बड़े मिट्टीके घड़ेमें वह मक्खन अपने घरमें झौंपड़ीमें छीके पर टांगे रखता था । उसके नीचे आग जलती रहती थी ठंडसे बचनेके लिए ।

लुब्धदत्तकी तृष्णाकी बाढ़—एक दिन चारपाई पर लेटा हुआ था पड़े-पड़े उसे ख्याल आया कि मेरे पास तो अब काफी घी जुड़ गया है । इसको मैं कल बाजारमें बेचूँगा और जो नफा आयगा उससे बकरी खरीदूँगा । फिर बकरी बेचकर गाय खरीदूँगा, फिर उसे बेचकर भैंस खरीदूँगा । फिर बैल खरीदूँगा, खेती खरीदूँगा, फिर महल बनवाऊँगा, फिर विवाह भी कर लूँगा, बच्चे होंगे । कोई बच्चा जब मुझे भोजनके लिए बुलाने आयगा कि चलो माने भोजनके लिए बुलाया है तो मैं कहूँगा कि मैं अभी नहीं जाता, फिर दुबारा कहेगा तो कहूँगा कि अभी नहीं जाता । और यदि तबारा कहेगा यों लात मारकर कहूँगा कि अभी नहीं जाता तो उसकी वह लात सचमुच ही मानो मारनेके लिए उठ गई और वह घीके उबलेमें लग गई । उबला छीकेसे नीचे गिर गया, नीचे जलती हुई आग पर पड़ गया । आगपर घीका उबला गिरनेसे सारा घी जल गया, आग तेज बढ़ी, झौंपड़ी जलने लगी । अब तो वह स्मश्रुनवनीत (मूछमक्खन) बहुत घबड़ाया और चिल्लाकर झौंपड़ीसे बाहर भग गया यह चिल्लाता हुआ कि अरे दौड़ो भाइयों मेरा मकान जल गया, मेरी गाय, बैल, भैंस, स्त्री, बच्चे तथा अन्य सब सम्पत्ति जल गई ... उसकी इस प्रकार की आवाज सुनकर लोग जुड़े । सब आश्चर्यमें पड़ गए कि यह क्या बक रहा है । अभी तो भीख मांगता था, आज इस तरहसे बोल रहा । तो लोगोंने उससे कहा—अरे कहां तेरा कुछ जल गया ? तेरे पास तो कुछ भी नहीं है । तो उसने अपनी सारी कथा सुनाया । तो वहां लोगोंने यही कहा कि तेरा कुछ जला तो नहीं । था ही कहां तेरे पास कुछ, वह तो तेरी एक कल्पनाकी बात थी । तो वहां मानों कोई विवेकी पुरुष बोला कि आप लोग भी तो यही कर रहे । आपका है कहीं कुछ नहीं, केवल कल्पनासे आप उन्हें अपना समझ रहे और उनके नष्ट होनेपर दुःखी हो रहे ।

तत्त्वज्ञानसे ही उद्धारकी संभवता—अरे जरा स्वरूप दृष्टिसे तो निहारो, सत्त्व सबका पृथक्-पृथक् है । एकका दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता है । ममत्व करना, लगाव रखना यह ही तो कष्ट दे रहा है । सो परिग्रह नाम बाह्य पदार्थका ही नहीं है, वे तो एक सब आश्रयभूत हैं । पर परिग्रह नाम है मूर्छाका । ममत्व परिणाम करना । सो यह मूर्छा केवल धन की ही नहीं है धनकी भी मूर्छा, यशकी भी मूर्छा, नामबरीकी भी मूर्छा और धर्मके नामपर जो हैं चाहता हूँ वही होता, इनका चाहा कुछ नहीं होता, इस

प्रकारकी बात चले तो उसके भी मूर्छा है। इस जीवको दुःख देने वाला है तो यह मूर्छाका परिणाम है। जिसके मूर्छा नहीं है उसके बाहरी पदार्थ रहते हुए भी परिग्रह नहीं है वैसे तो अन्तरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रह जब तक रागांश हैं कहां जायेंगे मगर ममत्वके हटते ही श्रद्धामें वह निष्परिग्रह हो गया। जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप है। रहता तो स्वरूपके साथ है, मरण करके जायगा तो साथ कौन जाएगा? कौन साथ रहेगा? मेरा स्वरूप, मेरा भाव, मेरी करनी, सो यदि मेरा भाव और करनी बिगड़ गई, ममता रूप हुई, दूसरोंको सताने रूप हुई तो उससे जो पापकर्मका बन्ध होगा उसका फल कोई दूसरा न भोगेगा। खुदको ही भोगना पड़ता है। तो जिसको संतोषसे रहना है धर्म साधना करके जीवन सफल करना है उनका कर्तव्य है कि वे अपने परिग्रहका परिमाण कर लें। मैं १० लाखका करूंगा १५ लाखका करूंगा, जो वर्तमान स्थिति है उससे दुगुना कर लिया पर परिमाण कर लेनेसे उस म्यादके बाहर तृष्णा न जगे, और जितना परिमाण किया उतना पूरा हो जाय और व्यापार करनेमें यदि अधिक लाभ हो जाय तो परिमाणसे अधिक हुए धन को परोपकारमें लगायें, धर्ममें लगायें तो उसका यश भी है और धर्मपालन भी है। तो वास्तविक कर्तव्य है कि परिग्रहका परिमाणतो नियमसे रखें और उसमें ही संतुष्ट रहें।

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकं ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥

श्रावकके अष्टमूलगुण—श्रावकके ५ अणुव्रतोंका वर्णन करके कहना तो चाहिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत। क्योंकि बारह व्रतोंका यह प्रकरण है। फिर भी पञ्चाणुव्रतके वर्णनके बाद श्रावकोंके अष्टमूल गुणका वर्णन इस श्लोकमें किया है। इसमें सिर्फ इतना प्रसंगका सम्बंध है कि श्रावकोंके ८ मूल गुणोंमें तीन तो हैं मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ हैं अणुव्रतका पालन, इस प्रकार ८ बताये गए हैं। तो चूँकि मूल गुणोंमें भी अणुव्रतका सम्बंध रखा है इस कारण बीचमें ही ८ मूल गुणोंका वर्णन किया है। साथ ही यह भी जान जायें कि अष्टमूल गुणोंके पालन बिना पंच अणुव्रतका पालन न बन सकेगा। इस कारण भी ८ मूल गुणोंका वर्णन किया जा रहा है। श्रावकोंके मूल गुण अर्थात् जिनके बिना श्रावक कहलानेका हकदार नहीं वे मूल गुण ८ हैं। जैन कुलमें उत्पन्न हुए और अपनेको जैन कहलाने वाले लोग इस तरफ ध्यान दें कि यह तो बहुत साधारण कुल परम्पराका आचरण है। जिसके खिलाफ यदि बच्चे युवक कोई अपनी प्रवृत्ति कर रहे हों तो यह उनके लिए कलंक है।

मद्यमांस मधुके दोषोंका संक्षिप्त परिचय—मद्य पीना, मांस वाले होटलमें जाकर आहार करना अथवा मधु सेवन करना, ऐसे प्रवृत्ति अगर आ जाती है तो यह उस घरके लिए कलंक है, क्योंकि इन मूल गुणोंके बिना वह घर श्रावकका घर नहीं कहला सकता। मद्य ऐसी गंदी वस्तु है कि जिसका सेवन करनेसे परिणाम मोहित हो जाते, बेहोश हो जाते, हित अहितकी सावधानी नहीं रहती और हिंसा उसमें भी चल रही है यह अच्छे कुल वाले के लिए रंच भी शोभा नहीं देता। मांस दो इन्द्रिय आदिक जीवोंके घात करनेसे उत्पन्न होता है। कितना गंदा पदार्थ है। एक तो प्राणीका घात हुआ, दूसरे उसका कलेवर

शरीर वह खाया जा रहा है। यह बड़े अज्ञानका माहात्म्य है कि जिसके मांस भक्षणके बारेमें कुछ भी आकांक्षा जगे। मधु तो मधुमक्खियोंकी कय है, साथ ही उनकी विष्टा भी रहती है। और उसमें निरन्तर जीवोंकी उत्पत्ति भी चलती है। कोई कहे कि इस तरहसे छत्ते बनाये किसी कोठरीमें या बक्समें और वे मक्खियां उड़ जायें तब उन्हें निचोड़कर मधु निकाल लें तो उसमें दोष नहीं, ऐसा कोई कहे तो वह अयुक्त बात है। उनका जो उगाल है वह स्वयं मांस सहित है। जीवोंकी उत्पत्ति होती है। और फिर वह मक्खीका उगाल है। जैसे मनुष्योंका उगाल होना कफ कहलाता ऐसे ही वह मक्खियोंका उगाल है। भले ही वह मीठा हो तो मनुष्योंका कय भी तो कुत्तोंके लिए मीठा लगता। उस मीठा लगनेसे क्या होता? तो मधुभक्षणमें भी दोष है।

अष्ट मूलगुणके पांच अणुव्रतोंका संक्षिप्त परिचय—मूलगुणमें ५ अणुव्रत निरतिचार नहीं हैं, यहां पर सामान्यतया हैं। ८ मूल गुणोंमें त्रस जीवकी हिंसाका त्याग यह अहिंसा है श्रावकके मूलगुणमें। किसीको क्लेश उपजाने वाले वचन, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रिका घात करने वाले वचन जिनमें दूसरेका या अपना श्रद्धान ज्ञान आचरण बिगड़े ऐसे वचन न बोलना। यह है गृहस्थके मूल गुणोंका सत्य व्रत। बिना दिए हुए किसीकी धरी गड़ी भूली चीजको न ग्रहण करना यह है मूल गुणका अचौर्य, परस्त्रीमें रागका त्याग होना यह है मूल गुणका ब्रह्मचर्य और न्यायसे उत्पन्न परिग्रहमें ही परिमाण करके अधिक परिमाणका त्याग। श्रावकके मूल गुणके अणुव्रतमें और व्रतियोंके अणुव्रतमें निर्दोष पालन और निर्दोष पालन न होना यह ही अन्तर है। तो ये हैं मूल गुण श्रावकके जो बिल्कुल मौलिक बात है, इसके विरुद्ध प्रवृत्ति घरमें न हो सके ऐसा विशेष ध्यान देना चाहिए। कोईसा भी ऐब छोटा हो तो वह बड़े ऐबोंकी जड़ बन जाता है। जैसे एक बीड़ी सिगरेटका ही पीना यह छोटा ऐब माना जाता पर जब अधिकता हो जायगी तब और नशेके लिए इच्छा होती है अन्य वस्तुकी और फिर वह आधारके बिना विरुद्ध सी जंचती। भले ही आजके अफसर या नेता लोग, या धनिक लोग ऐसे हो गए जो कि उन बीड़ी सिगरेट वगैरहके पान करनेमें अपना बड़प्पन सा समझते हैं और कलाके साथ पीते हैं पर ये अवगुण हैं और इन छोटे अवगुणोंके आधारपर धीरे-धीरे बड़े अवगुण भी आ जाते हैं, इसलिए छोटे अवगुण भी न हों। बहुत पूर्व समयमें जैन लोग बीड़ी सिगरेट वगैरह नशीली चीजोंका प्रयोग नहीं करते थे, इस बातको आजके बड़ी अवस्था वाले लोग जानते भी होंगे।

जघन्यविधिके अष्ट मूलगुण—ग्रन्थोंमें कहीं अष्ट मूलगुण इस प्रकार भी आते हैं कि मद्य मांस मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग। ५ उदम्बर फल मांसमें ही गर्भित हो जाते हैं क्योंकि ये जितने भी उदम्बर फल हैं इनमें कीड़ा पंखी बहुत अधिक रहते हैं, इनके भक्षणमें मांसका दोष है फिर भी साक्षात् ऊपरसे मांस नहीं लगता और कुछ वनस्पति मालूम होती है, इस कारणसे छोटे लोगोंके लिए ५ उदम्बरको अलगसे ग्रहण किया है। जो चाण्डाल हैं। जो कषायकी ही वृत्तिमें रहा करते हैं। ऐसे छोटे लोगोंके लिए ये ८ मूल गुण बताये गए हैं। अब यदि कोई जैन भी छोटा मूलगुण पालन न कर सके तो यह तो एक जैन नाम धराकर लज्जाकी बात होनी चाहिए। मद्य पीने लगा तो यह जीव धर्मको बिल्कुल ही भूल जाता है और निशंक होकर हिंसाका आचरण कर लेता है। पागल बना,

विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न करे। काम वासनाको विशेष जागृत करे, ऐसे मद्य मांस चरस आदिक सभी ये मद्य पानमें गर्भित हैं। कैसा एक विषयका संस्कार है कि यदि कोई विषय भोगनेके अयोग्य हो गया तो भी लालसा बनी है तो अनेक औषधियां खाकर या भंग आदिक पीकर यह लालसा रखता है कि मैं विषय सेवनके लायक रहूँ और विषय भोगूँ, इसी आधार पर यह भंग नशा आदिकका प्रसार बढ़ा हुआ है। जिन जीवोंका भविष्य खोटा है उनके कुबुद्धियां ही उत्पन्न होंगी।

सदाचार संस्कारकी प्रथमतः आवश्यकता—जैन शासनकी चरणानुयोग प्रक्रियाके अनुसार छोटे बालकोंको सप्त व्यसनका त्याग, अष्टमूलगुणका पालन करानेकी पद्धति थी, वह बहुत उद्धार वाली पद्धति थी। देव दर्शन करना, थोड़ा सत्संगमें बैठना यह बालकोंके लिए बहुत जरूरी है, लोग सोचते हैं कि अभी बच्चे हैं। इनके खेलनेके दिन हैं, उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते किन्तु बचपनसे ही यदि सत्संग देवदर्शन आदिककी आदत रहे तो उसके छोटे कामोंमें बुद्धि न जायेगी। जब वे धर्मसे अलग रहते हैं और उनका संग खोटा रहता है तो उनकी बुद्धि बिगड़ती है और बिगड़नेके बाद बिगड़ बिगड़कर बहुत कठिन हो जाती है। तो यह प्रयत्न करना चाहिए कि छोटे बच्चे भी देवदर्शन करें। सप्त व्यसन छोड़ें, अष्ट मूलगुणोंका पालन करें। जैसी कि प्रक्रिया बतायी गई, हेयका त्याग करें, उपादेयका ग्रहण करें तो उनका संस्कार भला रहेगा और वह बड़ी अवस्था तक भी सही रहेगा। बड़े पुरुष तो मदिरा की धार देख लें तो भोजनका भी त्याग कर देते हैं। अगर मदिराका स्पर्श हो जाय तो पूरा नहाते हैं, वस्त्र भी धोते हैं। मद्यपायी उन्नत पुरुष स्त्रीको कभी माता या पुत्री भी बोल देता या कभी माता या पुत्रीको स्त्री बोल देता, तथा और और भी जितने दोष हैं—हिंसा, क्रोध, मान, माया, लोभ सभी उस मद्य पायी जीवके हो जाया करते हैं इसलिए मद्यका दूरसे ही त्याग करना, छूना ही नहीं और मद्य पायीका संग न करना, मद्यका व्यवसाय भी न करना।

मांसकी अपवित्रता, त्रसघातजातता—मांस चाहे वह कच्चा हो चाहे पका हो उसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते रहते हैं। औरकी तो बात क्या, पक रहे की हालतमें भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए कोई लोग इस मांस शब्दको मुखसे नहीं बोलते थे। बूढ़े पुराने लोग जान रहे होंगे, अगर कोई मांस खाता था तो उसके सम्बंधमें चर्चा यों करते थे कि वह तो गंदी चीज खाता है, वह तो मिट्टी खाता है। वे मांस शब्दको मुखसे बोलनेमें भी लज्जा मानते थे। अब चूँकि मांसका बहुत प्रसार चल रहा आज इस देशमें, कुछ ही परसेन्ट लोग ऐसे मिलेंगे जो मांसभक्षी नहीं होंगे। तो जब इतना प्रसार चल गया और जब बारबार उनको समझानेका या उनके बात करनेका अवसर हुआ तो अब तो वक्ता लोग भी उपदेशमें मांस शब्दका उच्चारण करने लगे उपदेशोंमें भी, पर पहले तो यह शब्द बोला ही न जाता था, बोलनेमें बुरा लगता था। लोगोंको अचरज होता था कि ये लोग कैसे मांसको खा लेते हैं। ऐसा यह मांस बहुत निन्दनीय वस्तु है। मांसभक्षीके दया नहीं उत्पन्न हो सकती। क्रूर हो जाता है, और शूरता भी नष्ट हो जाती है। जो सेना मांसभक्षी अधिक है उसमें वास्तविक शूरता नहीं रहती, यह आजके लोग मानने लगे और शाकाहारी सेना शूरवीर होती है। आज भारतकी सेनाका जो लोगोंके चित्तमें प्रभाव है उसका भी आधार यह ही है कि भले ही वे कोई मांस खाते हों, पर बहुतसे लोग ऐसे भी हैं

जो नहीं खाते। कुछ लोग सेनामें ऐसे भी हैं जो मांसका अधिक प्रयोग नहीं करते तो उनमें शूरता उन सेनाओंकी अपेक्षा अधिक है।

मांसभक्षणकी अभिलाषा होते ही दयाकी निवृत्ति—जो मांसभक्षी हैं उनके हृदयमें जीवोंके प्रति दया नहीं होती। जिनके दया नहीं वे चाहे कितना ही धर्मके नामपर अनेक बातें करें, पर उनको सुगति नहीं मिल सकती। कितने ही लोग मांसके इतने प्रेमी हो गये कि यदि वे बड़े वर्णके थे, मांस खानेमें लाज आती थी, मांस खानेकी इच्छा हो गई तो क्या जाल रचा कि उन बड़े लोगोंने कि एक धर्मका रूप दे दिया। यज्ञ हो रहा है, अश्वमेध यज्ञ चल रहा है, नरमेध यज्ञ चल रहा है, जिसका मांस खानेका भाव हो उसीके नामपर यज्ञका नाम रख दिया। लोग हाथ जोड़कर घोड़ा लाने लगे, घोड़ोंका यज्ञ कराया, मनुष्योंका भी यज्ञ करा दिया। ताजा मांस मिल गया, अच्छी तरह प्रसाद मानकर खाया, यह आधार है पशुओंके होमनेकी एक रचना निकलनेका और आज भी अनेक लोग देवी देवताके नामपर बलि करते हैं। यह पाप है, महापाप है, देवता मांस नहीं खाते। देवताओंके कंठसे अमृत झरता, उनका वैक्रियक शरीर है, मगर खुद मांसके लोलुपी हैं और व्यवहारमें प्रतिष्ठा भी बनाये रखना है तो एक रूपक दे दिया कि देवताओंको बलि चढ़ावो और वह ऐसा धीरे-धीरे घर कर गया कि कोई कष्ट आये किसीके तो वह देवताको बलि बोल देता है, सोचो कितना अधर्मकी बात है। ऐसे लोगोंके चित्तमें आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपका कहां ध्यान बनेगा।

मधुकी अभक्ष्यता—मधु, मक्खियोंका कय है, भील चाण्डालोंका जूठा है, वे खाते रहते हैं और उसीमें से बेचनेको ले आते हैं। त्रस जीवोंकी जहां उत्पत्ति है उस मधुके बारेमें जिन लोगोंका बहुत बड़प्पन था, जिनके मधुका त्याग था। कैसे खायें, तो प्रारम्भमें उस मधुके खानेके लिए एक विधि निकल गई। उसे पंचामृतमें से लेने लग गए और अपने माने हुए देवताओंका प्रसाद रूपमें लेने लगे। अरे मधु (शहद) का एक कण भी औषधिका नाम लेकर भी ग्रहण करे रोगको दूर करनेके लिए भक्षण करे तो वह भी दुर्गतिका ही कारण है। उसकी खोटी अवस्था बनेगी। प्रथम तो लोगोंको अपने बुखार आदिक रोग होने पर यह विश्वास रखना चाहिए कि यह शरीर मलीन है। इसमें अपथ्य सेवन करनेसे ये रोग हुए हैं, तो अपथ्यका त्याग कर दें, भोजनका त्याग कर दें, रोगका अपने आप शमन हो जायगा। कोई रोग ऐसा हो कि गर्मी बढ़ जाय तो गर्म जल लेते रहें रोगमें, रोगका अपने आप शमन हो जायगा। बड़े डॉक्टरोंकी दवाइयां करके भी आखिर १०-१५ दिन तो ठीक होनेमें लग ही जाते हैं, और एक दवा भी न करे और अपथ्यका परिहार करे तो भी १०-१५ दिनमें वह ठीक हो जायगा। दवा न लेगा तो मौलिक ढंगसे ठीक हो जायगा। दवा करनेसे तो वह रोग दब जायगा या उल्टा भी पड़ सकता है। पशु पक्षी बीमार होते हैं, पड़े रहते हैं तो कुछ दिनमें ठीक हो जाते हैं तो पहली बात तो यह है फिर दूसरी बात यदि औषधिसेवन करना पड़े तो थोड़े दिन विशेष भले ही लग जायें मगर शुद्ध निर्दोष आयुर्वेदमें बतायी गई जड़ी बूटी आदिकी औषधियोंका उपचार करना चाहिए। जो इन जड़ी बूटियोंका प्रभाव है वह मांस आदिकका प्रभाव नहीं है। जड़ी बूटी आदि औषधिके सेवनसे मौलिक ढंगसे रोग

ठीक हो जायगा। इतना विरक्ति होनी ही चाहिए कि अपने शरीरको निरोग जल्दी करनेके लिए मधुमांसका भक्षण न करें।

आत्मकरुणा करके दुराचारसे निवृत्त होकर परमब्रह्मस्वभावमें लगनेका अनुरोध—भैया, अपने आपके बारेमें अनादि अनन्त सत्ताका विचार करना चाहिए। मैं क्या उतना ही हूँ जितना कि मैं मनुष्य रहूँगा? मैं वास्तविक सत् चेतनात्मक पदार्थ हूँ। इस शरीरके छूटनेके बाद भी जिसमें मैं हूँ मैं हूँ का बोध चल रहा है वह जीव परमपदार्थ रहेगा। उसका विनाश नहीं होता, फिर अगला भव कैसे बनेगा? कोई बनानेसे बनेगा क्या? इस भवमें जैसे परिणाम किया उसके अनुसार जैसा कर्मबन्ध हुआ उसके उदयके अनुसार परिणाम बनेगा। आज मनुष्य हैं, मरने के बाद एकदम कीड़ा बन सकते हैं। भला अन्य जीवोंको तो देखिये—बताओ इन पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ोंका क्या जीवन है? इनको कोई तत्त्वज्ञानका साधन ही नहीं। अपने मनकी बात दूसरेको बता सकते नहीं, ऐसा भव धरना क्या तुम्हें पसंद है? अगर छोटे भव धारण करना, छोटी गतिमें जन्म लेना यदि यह पसंद है तो उसका उपाय तो बहुत सुगम बन रहा। हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह, मधु, मद्य, मांसका भक्षण बस यह ही उसका उपाय है कि दुर्गतियोंमें जन्म लेता जाय। तो अपने दयाकी दृष्टिसे कुछ अपना चिन्तन करना चाहिए। धर्म पर्व इसीलिए आते हैं कि उन दिनोंमें आत्महितका विशेष चिन्तन करना चाहिए। दूसरोंके लिए ही जो नाना तरहके पाप किए जाते हैं वे भी निश्चयतः यह खुद अपने लिए करता है। अपने गिरनेके लिए गड़ढा खोदता है। तो कितने दिनोंका यह जीवन है? समागममें आये हुए लोग कितने दिनों तक साथ देने वाले हैं? आखिर यह जीव अकेला ही है। जीवनमें भी कोई साथ नहीं दे सकता।

अपनेको बाह्य जीवादिकी ओरसे अशरण निहारनेमें धर्म रुचिकी उद्भूति—एक राजा जंगलमें जा रहा था तो वहां उसे एक जवान, सुन्दर, हृष्टपुष्ट मुनिराज दिखे। राजा मुनिराजके पास बैठ गया। राजाको उनके प्रति करुणा हुई—कैसा सुन्दर, कैसा हृष्टपुष्ट, कैसा कांतिमान यह युवक बैठा है। बिल्कुल नंगा है, अकेला बैठा है, इसका कोई रक्षक नहीं, यह सब सोचता हुआ राजा पूछता है—कहो भाई आप कौन हैं? तो वह मुनि बोले—मैं अनाथ मुनि हूँ। तो राजा बोला—अच्छा अब आजसे अपनेको अनाथ न बोलना, मैं आपका नाथ बनता हूँ। अब आपको कोई कष्ट न रहेगा, खूब आरामसे, आनन्दसे जीवन गुजारो, और यहांसे उठकर हमारे महलोमें चलो। तो मुनिराज बोले—आप कौन हैं? तो फिर राजा बोला—आप कुछ चिन्ता न करें, आप ऐसा न समझें कि कोई मामूली आदमी होगा जो हमको बहका रहा, अरे हम इस नगरीके राजा हैं। हमारे पास बड़ा ठाठ है, बड़े सुख साधन हैं, आपकी सब प्रकारकी व्यवस्था हम कर देंगे, आरामसे जिन्दगी बिताना। चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं। तो मुनि बोले कि ऐसा ही तो मैं भी था। फिर आप अपनेको अनाथ क्यों कहते? ... राजन एक बार मेरे सिरमें भयंकर दर्द उत्पन्न हुआ, पर मेरे उस दर्दको क्या तो परिजन, क्या तो मित्रजन, क्या तो नाते रिस्तेदार, बड़ा बड़ा प्यार दिखाने वाले लोग कोई मेरे उस दुःखको बांट न सके। वहां मेरी समझमें आया कि सचमुच मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं, कोई रक्षक नहीं। बस वहींसे मुझे वैराग्य जग गया कि मेरा कुछ नहीं है। इतनी सी बात सुनकर राजाका ज्ञान जग गया, श्रद्धासे उसके सामने सिर

झुक गया और चरणोंमें लोटकर बोला—महाराज आज तो मेरा जीवन आपके दर्शन पाकर सफल हो गया। वास्तवमें मैं भी आप जैसा ही अनाथ हूं। आपका मेरे लिए बड़ा उपकार हुआ। मैं आपके इस उपकारका बदला चुकानेमें असमर्थ हूं, यह कहकर राजा वापिस हो गया। तो जरा अपने आपके प्रति भी तो कुछ विचार करें कि हम भी इस जगतमें अनाथ हैं कि नहीं। यहां कौन मदद कर देगा, कौन मेरा नाथ बन सकेगा, जो कुछ भी मुझपर बीतती है वह खुदको ही भोगना पड़ता है कोई दूसरा किसीका सुख दुःख बांट नहीं सकता।

परमार्थ अहिंसाकी आस्थामें शान्तिमार्गकी प्राप्ति—दूसरे प्राणियोंका जो घात करते हैं उनके महापापका उदय है। जो गर्दनोपर हथियार भरा हाथ डालने लगता है वह बड़ी विपत्तिमें हैं, और अपने जीवनमें भी सोचिये कि यदि आपके किसी विचारसे, आपके किसी वचनके बोलनेसे, आपके किसी कायकी चेष्टासे यदि दूसरेके दिलको आघात पहुंचे अथवा दूसरेका अनर्थ हो जाय तो इसमें आपको क्या मिल गया? अपना शुद्ध ध्येय बनावे जीवनमें। चाहे कोई भी स्थिति हो, यदि कुछ धनका समागम मिलातो वहां भी भावोंकी सन्धाल बनाये रहें, नहीं तो धोखा हो जायगा। आज अगर कुछ निर्धनताकी स्थिति मिली तो अपने भाव सन्धालें, नहीं तो और परिस्थिति बिगड़ेगी। भावोंमें निर्मलता हो यह ही अपना वास्तविक धन है और कोई मेरी रक्षा कर सकने वाला नहीं है, ऐसा अपने अन्दरमें निर्णय बनाइये, समझिये, निश्चय कीजिए। जीवघात वाले पदार्थोंका त्याग करें, अहिंसामें कल्याण समझें। अपनेको भी संक्लेश न हो, दूसरेको भी संक्लेश न हो एतदर्थ पापोंसे बचना और अपनेमें अन्तः प्रकाशमान कारण समयसार स्वरूप परमब्रह्मकी उपासना करना। ऐसा जीवन चले तो यह जीवन कृतार्थ होगा।

दिग्ब्रतमनर्थदण्डव्रतं च, भोगोपभोग-परिमाणं।

अनुवृंहणाद् गुणाना—माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥ ६७ ॥

गुणव्रतके भेद—इस ग्रन्थमें पहले तो सम्यग्दर्शनका वृत्तान्त चला था क्योंकि सम्यग्दृष्टि हुए बिना व्रत पालन वास्तविक व्रतपालन नहीं कहलाता। सम्यग्दर्शन एक स्वरूपफल आदिकके वर्णनके बाद सम्यग्ज्ञानका वर्णन चला। यद्यपि ज्ञान सभी सम्यक्त्वसे पहले भी रहते हैं, पर अनुभवरहित होनेके कारण उसे सम्यग्ज्ञान न कहा करते थे। सम्यक्त्व हुए बाद वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसके पश्चात् सम्यक्चारित्रका वर्णन किया गया, जिसके दो भेद हैं—(१) देशचारित्र और (२) सकल चारित्र। देशचारित्रमें ५ अणुव्रतका वर्णन चल रहा था और अभी बीचमें इससे पूर्व ही श्रावकके अष्टमूल गुणोंका वर्णन हुआ, अब बारह व्रत रूप देश चारित्रमें से ५ अणुव्रतके वर्णनके बाद गुणव्रतका वर्णन किया जा रहा है। आदि पुरुष गणधरदेव गुणव्रत तीन प्रकारके बतलाते हैं—(१) दिग्ब्रत (२) अनर्थ दंडव्रत और (३) भोगोपभोग परिमाण। यहां देशव्रत न कहकर भोगोपभोग परिमाण व्रत कहा है। अनेक ग्रंथोंमें दिग्ब्रत, देशव्रत अनर्थदण्डव्रत ऐसे तीन भेद किए गए। दिग्ब्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण—ये तीन प्रकार बताये गए। परस्पर कोई विरोधकी बात नहीं है। सबका ध्येय यह है कि अणुव्रतकी दृढ़ता रहे इस कारण ये गुणव्रत कहे जा रहे हैं। दिग्ब्रत नाम है दसों दिशाओंमें गमन

ल्लकारण्ड प्रवचन द्वितीय भाग

करनेकी मर्यादा कर लेनेका, देशव्रत जो यहां नहीं कहा गया वह दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर और भी मर्यादा कर लेना यह दिग्व्रतका और पूरक ही है। विरोधक नहीं है, अतएव वह दिग्व्रतका ही एक अंग समझिये। अनर्थदण्ड उसे कहते हैं कि बिना प्रयोजन पापकार्योंका आरम्भ करना उसका त्याग अनर्थदण्डव्रतमें होता है। भोगोपभोग परिमाण—भोग और उपभोग की वस्तुवोंका परिमाण कर लेना भोगोपभोग परिमाण है। अब इसके आगे स्वयं आचार्यदेव वर्णन करेंगे, पर यहां इतना समझ लेना कि यह अणुव्रतके भावोंको बढ़ाता है, गुणित कर देता है, इस कारण इसे गुणव्रत कहते हैं। अब इन तीन गुणव्रतोंमें प्रथम गुणव्रतका स्वरूप कह रहे हैं।

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।

इति सङ्कल्पौ दिग्व्रत-मामृत्यणुपापविनिवृत्तयै ॥ ६८ ॥

दिग्व्रतका स्वरूप—दसों दिशावोंमें प्रमाण करके इससे बाहर मैं न जाऊंगा, ऐसे संकल्पको दिग्व्रत कहते हैं। इस दिग्व्रतके कर लेनेसे उस सीमाके बाहर रंच भी पापका दोष नहीं आता। संकल्प ही न रहा, वहांका सम्बंध ही न रखा इसलिए रंच भी पापकी निवृत्तिके लिए यह दिग्व्रत १२ व्रतोंमें बताया गया है। ये १२ व्रत सद गृहस्थके हैं, गृहस्थीका कार्य आजीविकाके बिना न चल सकेगा, अनेक कार्य हैं, अवसर हैं, रोग आदिक हों, समाजके कार्य, देशके कार्य, धर्मप्रभावनाके कार्य सभीमें सदगृहस्थको योग देना होगा सो वह धन बिना नहीं बन सकता, अतएव धनार्जन करनेकी ड्यूटी भी है, व्यापारके लिए यत्र तत्र जाना पड़ता है। तो सारे विश्वके संकल्पका पाप न रहा, इस कारण वह दिशावोंकी मर्यादा कर लेता है, इससे बाहर न जाऊंगा, इससे बाहर व्यापार भी न करूंगा, पत्र भी न डालूंगा। जितनी दिग्व्रतकी सीमा ली है उससे बाहर सम्बंध न रखूंगा। इस सम्बंधमें एक समस्या जरूर आ खड़ी होती है कि फिर अखबार पढ़ूँ या न पढ़ूँ क्योंकि अखबारमें तो रूस, अमेरिका वगैरह सभी देशोंके समाचार होते हैं? तो इस प्रश्नका हल जो जिस दृष्टिसे करे, पर अखबार पढ़नेमें तो एक ज्ञान ही किया। अगर वहांके बारेंमें रागद्वेषका भाव लाये और सोचे कि उसकी हार क्यों हो रही, उसकी जात होनी चाहिए, इस प्रकारके परिणाम आते हैं तब तो दिग्व्रतके प्रयोजनका उसने पालन नहीं किया और वृत्तान्त जान लिया तो या तो जैन शास्त्रमें सारे विश्वका वृत्तान्त लिखा है। स्वर्गों में क्या रचना, अमुक जगह क्या रचना, तो इसका प्रयोजन यह है कि परिणामोंमें संक्लेश न आये, रागद्वेष न जगे, उस सीमासे बाहरके क्षेत्रका आधार लेकर यह इस दिग्व्रतका प्रयोजन है। हां तो अब यह दिग्व्रती अपनी मर्यादा किए क्षेत्रसे बाहर व्यवहार नहीं करता, यह सब किया गया है लोभकषायके लिए और अहिंसा या धर्मवृद्धिके लिए। यह अब श्रावक मरण पर्यन्त दसों दिशावोंमें मर्यादा किए हुए क्षेत्रसे बाहर न जायगा, न किसीको बुलायगा, न किसीको भेजेगा, न वहांकी कोई वस्तु मंगायागा। एक समस्या यह भी सामने आयी कि वहां बाहर की वस्तुवें तो न मंगायेँगे मगर यहां जो बाहरकी वस्तुवें दिखती हैं उन्हें खरीदेंगे या नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि उसमें इस बातका ध्यान रहे कि कहीं बाहर भेजनेके उद्देश्यसे उन्हें न खरीदे। इस प्रकारका व्यापार वह न कर सकेगा कि किसी भी चीजको अपनी रखी हुई सीमासे बाहर भेजे या

बाहरसे मंगाये, जिसने एक अपने देशकी सीमा रखी। अब दसों दिशाओंका परिमाण किस ढंगसे किया जाता है उसके सम्बंधमें कहते हैं।

मकराकरसरिदटवी-गिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः।

प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ ६९ ॥

दिग्व्रतमें आजीवन गमनागमनादिकी सीमा लेनेकी विधिके कुछ उदाहरण—दसों दिशाओंकी मर्यादा करनेके लिए जो प्रसिद्ध चीज हो दूर पर उसका नाम लेकर मर्यादा बनती है, जैसे मैं अमुक समुद्रसे बाहर न जाऊंगा, या समुद्रकी इस सीमाका न उल्लंघन करूंगा, इस प्रकारकी एक प्रतिज्ञा बनती है। दूसरे यदि कोई ऐसी सीमा करने लायक चीज न हो जिसका नाम ले सके तो वह योजन कोश दूरकी मर्यादा लेकर भी कर सकता कि मैं हजार योजनसे बाहर न जाऊंगा। ऐसी मर्यादा किए हुए क्षेत्रसे बाहर गमनागमन न करूंगा। समुद्र आदिक लोकमें विख्यात हैं इस कारण उनका नाम लेकर प्रायः दिशावोंकी मर्यादा किया है। दिशायें कोई वस्तु नहीं होतीं। पर हमारी कल्पनामें है ना यह बात कि पूरब यह है, पश्चिम यह है, उत्तर यह है और दक्षिण यह है। जिधर सूर्य निकलता उधर मुख करके खड़े हों तो पूरब की ओर मुख है। पीठ पीछे पश्चिम है, दाहिने हाथकी ओर दक्षिण है और बायें हाथकी ओर उत्तर है। जैसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल पदार्थ हैं ऐसा कोई दिशा पदार्थ नहीं होता। अन्य दार्शनिकोंने तो दिशाको पदार्थ माना है पर उस ओरके जो आकाश प्रदेश हैं उन्हींमें हम दिशावोंकी कल्पना करते हैं। सो उस आधारपर यह बात तो आ गई कि पूरबमें यहां तक जाना, पश्चिममें यहां तक जाना, उत्तरमें यहां तक जाना और दक्षिणमें यहां तक जाना, और इतना ही नहीं, ऊपर नीचेके क्षेत्रोंमें भी मर्यादा चलती है। पर्वत पर कितना ऊपर चढ़ना, नीचे कहां तक जाना, जैसे कुवां बावड़ी आदि किसी जगह उतरे बाहरमें गमन न करना दिग्व्रत है। दसों दिशाओंकी जो मर्यादा कर लेता है और उससे बाहर अपना व्यापार सम्बंध नहीं रखता उसके क्या परिणाम रहते हैं और क्या फल प्राप्त होता है यह बात बतलाते हैं।

अवधेर्वहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयतां।

पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥

दिग्व्रतके पालक सदगृहस्थके सीमाबाह्यक्षेत्रके लिए महाव्रतत्वकी कल्पना—दिग्व्रत धारण करनेसे याने मर्यादा चारों ओरकी बनाकर उसके भीतर ही अपना संकल्प बनाये रहनेसे चूँकि बाहरमें इसका कोई संकल्प न रहा, व्यवहार न रहा, आना जाना न रहा तो ऐसे दिग्व्रतको धारण करने वाले पुरुषोंके यह अणुव्रत वहाँके लिए महाव्रतको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सर्व प्रकारकी हिंसाका त्याग हो गया इस क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें। और इस प्रकार असत्य झूठ आदिक सभी पापोंका पूर्णरूपसे त्याग है उस क्षेत्रमें तो ऐसा दिग्व्रत धारण करने वाले पुरुषके यह अणुव्रत चूँकि बाहर अणुमात्र भी पाप नहीं है इसलिए महाव्रतपनेको प्राप्त होता है। यद्यपि बाहर न आना जाना यह दिग्व्रत ही कहलायगा

अणुव्रतका ही पूरक कहलायगा मगर उस क्षेत्रके लिए तो यह महाव्रत जैसी परिणति बनती है। ऐसी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि बाहरी क्षेत्रमें महाव्रतकी परिणति कर रहे सो दबकर क्यों कह रहे, बाहरके क्षेत्रोंमें तो वह महान् व्रती है ऐसा क्यों नहीं कहते? उसके उत्तरमें कहते हैं कि—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोहपरिणामाः ।

सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ ७१ ॥

गृहस्थके दिग्व्रतसीमासे बाहर क्षेत्रके लिए सीधा महाव्रत न माना जानेका कारण— कषायें २५ प्रकारकी बतायी गई हैं जिनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तो सम्यक्त्वका घात करती हैं, अप्रत्याख्यानवरण देश संयमका घात करती हैं और प्रत्याख्यानवरण कषाय महाव्रतका घात करती हैं। इस श्रावकके प्रत्याख्यानवरण कषायका अभाव नहीं हुआ है। प्रत्याख्यानवरणका क्षयोपशम होनेसे इसके संयमासंयमका अभाव प्रकट है, किन्तु जब प्रत्याख्यानवरण कषायका क्षयोपशम हो जाय तो महाव्रत होवेगा। पर इस सदगृहस्थके प्रत्याख्यानवरण कषाय बराबर बनी है, हां मंद हो। तो प्रत्याख्यानवरण कषायके मंद होनेसे महाव्रत तो नहीं कहा जा सकता। है तो प्रत्याख्यानवरण कषाय पर इस क्षेत्रसे बाहर इसका कोई सम्बंध नहीं चल रहा इस कारणसे महाव्रतकी कल्पना समानता अथवा एक क्षेत्रमें रखी गई है। साक्षात् महाव्रत न कहलायगा, पर उनका अणुव्रत बाहरके क्षेत्रके लिए महाव्रतके लिए कल्पना की जाती है। जिसके चारित्रिमोहके कर्मके मंद उदयका परिणाम है संज्वलन कषायरूप ही मात्र कषाय है, प्रत्यक्ष न रही उसके महाव्रत कहलाता है, पर गृहस्थ देशव्रतीके प्रत्यक्षका उदय विद्यमान है इस कारण संज्वलन कषायका मंद उदय होनेसे परिणामोंमें तो विशुद्धि है वह महाव्रत गृहस्थके न कहलायगा। हां बाह्य क्षेत्रमें समस्त पापोंका त्याग हुआ है सो महाव्रतकी कल्पना ही की जा सकी है। महाव्रत तो वास्तवमें प्रत्याख्यानवरण कषायके न रहनेसे ही कहलायगा। महाव्रत किस प्रकार होता है इस सम्बंधमें वर्णन है।

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवचः कायैः ।

कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥ ७२ ॥

महाव्रतका स्वरूप—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे त्याग होनेका नाम महाव्रत है। यह महान् व्रत है, इस कारण महाव्रत कहलाता है। यह महान् कार्यके लिए व्रत है, इस कारण महाव्रत है। यह महंत पुरुषोंके द्वारा ही धारण किया जा सकता है इस कारण महाव्रत है। पापका नवकोटिसे त्याग होना न मनसे करे, न मनसे कराये न मनसे अनुमोदना करे, न वचनसे पाप करे, न वचनसे कराये न वचनसे अनुमोदना करे, पापको न शरीरसे करे, न शरीरसे कराये न शरीरसे अनुमोदना करे नवकोटिसे त्याग होनेमें उसके विशुद्धि जगती है। जैसे कि साधुजनोंके उद्दिष्ट त्याग होता है। इस विषयमें लोग ऐसी शंका रखते हैं कि जो आहार बनता है तो वह साधुओंके ख्यालसे बनता है—मुझे आहार देना है, तो गृहस्थ साधुके ख्यालसे बनाये यह गृहस्थकी बात है पर

मुनिके चित्तमें यदि यह बात आये कि वहां भोजन बन रहा, ठीक बन रहा। वहां थोड़ा संकेत करें या शरीरसे कुछ चेष्टा दिखाये तो उस मुनिको उद्दिष्टका दोष है। पर उस आहारके विषयमें पता तक भी नहीं है कि कहां हो रहा, न मनसे करना कराना अनुमोदना, न वचनसे करना कराना अनुमोदना, न शरीरसे करना कराना अनुमोदना, तो ऐसी स्थितिमें नवकोटिसे विशुद्धि हुई। उसके कारण उनके उद्दिष्ट दोष नहीं कहा गया है, यह बात है मुनिकी ओरसे। अब एक साधारणतया देखें तो उद्दिष्टका प्रयोजन है कि गृहस्थको तकलीफ न हो। मूल प्रयोजन यह है कि उद्दिष्टका, तो गृहस्थ तकलीफ करके कर रहा है यह किसी तरह विदित हो तो वह आहार नहीं लिया जाता, पर गृहस्थ तो एक प्रसन्न होकर, चित्तमें उमंग लाकर करता है सो उसके अतिथिसम्बिभाग व्रत बनता, उद्दिष्ट नहीं बनता। अतिथिसम्बिभाग व्रत रखना गृहस्थका एक नियम है, अर्थात् मैं अतिथिको भोजन कराकर फिर भोजन करूंगा। रोज-रोज तो ऐसा नहीं करता था, पर आज मुनिराज पधारे हैं, अवसर मिला है तो आज उसका संकल्प बन गया कि मैं मुनिको आहार देकर आहार करूंगा। वह अतिथि सम्बिभागमें रहा। अब यह बात कि दुनियाकी खटखटबाजीसे तो बचे तो भाई भोजन तो घरमें बनता ही, भूखे तो न रह सकते थे मगर शुद्ध विधिसे बना लिया तो उसमें कमसे कम बहुत सी हिंसासे तो बचे। तो जैसे उद्दिष्ट त्यागमें मुनिजनोंको बताया है कि नवकोटि विशुद्ध आहार न हो तो मुनि मनसे, वचनसे, कायसे न करेगा, न करायेगा और न अनुमोदना करेगा। तो वह वहां दोष वाला नहीं कहलाता तो नवकोटिसे विशुद्ध होनेमें बड़ी विशुद्धि हुआ करती है। तो यह भी पंच पापोंका त्याग मुनिराजके नवकोटिसे हुआ है इस कारण वहां रंचमात्र भी पाप नहीं लगता, अब दिग्व्रतके ५ अतिचार कहे जाते हैं।

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।

विस्मरणं दिग्व्रते रत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥ ७३ ॥

दिग्व्रतके पांच अतिचार—दिग्व्रत जिस श्रावकने धारण किया है मायने दसों दिशाओंमें मर्यादा कर ली कि इससे बाहर मेरा सम्बंध नहीं है उस गृहस्थको क्या न करना चाहिए जिससे कि निर्दोष दिग्व्रत रहे इन अतिचारोंका वर्णन इस गाथामें है। जितनी दिशाओंकी मर्यादा की है उस मर्यादाके भीतर अज्ञानवश या प्रमादवश ऊपर चढ़ जाना यह ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका अतिचार है। जानकर नहीं चढ़ा किन्तु कैसे भी चढ़ जाय तो वह अतिचार है। कभी मर्यादासे बाहर बावड़ी आदिक नीचेकी जगहमें उतर जाय तो वह अधः अतिक्रम अतिचार है। ऐसे ही चारों दिशाओंमें किसी जगहमें मर्यादाके क्षेत्रसे बढ़ जाय अज्ञानवश या अंदाज न रहा तो वह है तिर्यक् व्यतिक्रम अतिचार। अथवा क्षेत्र बढ़ा लेना। जितनी मर्यादा की थी उससे आगेके क्षेत्रमें वृद्धि सोच लेना कि अब हमारी इस तरह मर्यादा चलेगी सो सोच सकते हैं आप कि क्यों अनाचार हो गया, मगर वहां इतना मनमें भाव रखे कि पूरबका तो घटा लेवे और पश्चिमका जरा बढ़ा लेवे, इस तरहका भाव रखकर अगर किया तो वह अतिचार कहलायेगा। ५वां अतिचार है कि दिग्व्रतमें जो मर्यादा की है उस मर्यादाको भूल जाय तो यह है विस्मरण नामका अतिचार। ये ५ दिग्व्रतके अतिचार हैं। इनमें मुख्य बात तो अणुव्रतकी बतायी जा

रही है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका स्थूल त्याग कर देना मायने एक देश त्याग होना यह अणुव्रत कहलाता है, पर ये अणुव्रत पक्के रहें और इन अणुव्रतोंमें वृद्धि हो इसलिए दिग्व्रत ये बताये गए हैं क्योंकि अणुव्रत कोई एक दर्जेका नहीं होता। जो ११ प्रतिमावोंमें बताया गया है वे अणुव्रतके उत्कर्षके ही तो दर्जे हैं। अर्जिका भी अणुव्रतमें है, वह महाव्रती नहीं कहलाती। उसे जो उपचारसे महाव्रती कहा है सो इसको लोग बड़ी प्रशंसाके रूपमें देखते हैं पर वह प्रशंसार्थ नहीं है, किन्तु उसकी शक्तिकी हीनताका द्योतन करने वाला है। वह इससे आगे बढ़ नहीं सकती, सो उसका महाव्रत वही समझ लीजिए। महाव्रती तो केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि कहलाता है। तो पहली प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक ऐलक और अर्जिका ये अणुव्रतके उत्कर्ष हैं और अन्तमें तो इतना उत्कर्ष हो जाता है कि जो महाव्रतकी तरह मालूम होता है। अणुव्रत हैं ये सब, किन्तु एक बात जरूर ध्यानमें रखना कि जैन धर्ममें बन्दन, नमस्कार करने योग्य तीन लिंग कहे गए हैं। (१) मुनिराज (२) ११ प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक उत्कृष्ट श्रावक और (३) अर्जिका। ये तीन लिंगके सिवाय बाकी और नीचे नीचेके जो अणुव्रत हैं वे त्रिलिंग बुद्धिसे नमस्कार किये जाने या पूजे जानेके योग्य नहीं हैं। इसलिए अधिक आदर होता ११ प्रतिमाधारी क्षुल्लक, ऐलक और अर्जिकाका व अर्जिका और मुनिको एक समान मानकर कोई पूजे तो उसमें अधिक दोष तो नहीं आया मगर एक भीतरके परिणामोंकी बात कर रहे कि वहां अणुव्रतकी मुख्यता है। महाव्रतका सद्भाव वहां नहीं बताया गया। इस प्रकार तीन गुणव्रतमें से प्रथम गुणव्रतका वर्णन समाप्त हुआ।

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।

विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥ ७४ ॥

अनर्थदण्डव्रतका स्वरूप—इससे पहले दिग्व्रतका स्वरूप कहा गया था। जीवन पर्यन्त दसों दिशाओंमें जाने-आने व्यवहार करनेकी सीमा लेकर उससे बाहर न आना, न जाना, न व्यवहार करना सो दिग्व्रत है। दिग्व्रत इसलिए किया गया था कि सारे विश्वके क्षेत्रका पाप न लगे, अब उस दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी सही प्रवृत्ति होनी चाहिए। किसी भी प्रकारका अनर्थ दण्ड न होना चाहिए जिसमें अपनी आजीविकाका प्रयोजन नहीं और भी कोई उचित व्यवहारका प्रयोजन नहीं फिर भी पापके कार्य करना यह अनर्थ दण्ड कहलाता है। ऐसी प्रवृत्ति उस दिग्व्रतकी सीमाके भीतर भी न होना चाहिए। इस ही का नाम है अनर्थ दण्ड व्रत। व्यर्थ मन चलाना, व्यर्थ वचन बोलना, व्यर्थ शरीरकी प्रवृत्ति करना यह सब अनर्थ दण्ड है, उनसे विरक्त होना, इसको अनर्थ दण्ड व्रत कहते हैं। गणधर देवने अनर्थ दण्डका यह स्वरूप कहा, वह दण्डधर नहीं है। अर्थात् मन, वचन, कायकी बुरी चेष्टाकी प्रवृत्ति वाला नहीं है, ऐसा गणधर देवने अनर्थ दण्डसे विरक्त होनेका उपदेश किया है। गृहस्थका प्रयोजन क्या है? आजीविका चलाना, धर्मका पालन करना, अधिकसे अधिक इसके साथ दो बातें और लगा लीजिए एक तो इन्द्रियके विषयका सेवन होना, चूँकि गृहस्थ इतनी कमजोर हालतमें है कि वह इन्द्रिय विषयके भोगसे अलग नहीं हो पाता। दूसरे लोकमें यश कीर्ति रहना, तो अधिकसे अधिक इन चार बातोंमें कोई सम्बंध नहीं

है जिसका, ऐसे व्यर्थके कार्योंको करना अनर्थ दण्ड है और इसमें प्रयोजन भी हो फिर भी जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा हो वह श्रावक करता ही नहीं समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है अब अनर्थ दण्डके प्रकार बतलाते हैं।

पापोपदेश हिंसादानापध्यानदुःश्रुतीपञ्च ।

प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ ७५ ॥

अनर्थदण्डके पञ्च प्रकारोंका निर्देश—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये ५ अनर्थ दण्ड हैं। इनका लक्षण आगे स्वयं आचार्यदेव छंदोंमें कह रहे फिर भी थोड़ा संकेत समझना। (१) पापोपदेश—जिस उपदेशमें पापोंकी बात आये उसका नाम है पापोपदेश। जैसे भैसे पंजाबसे खरीदे और मध्य प्रदेशमें ले जाकर अच्छी कीमतमें बेचें तो यह तो तिर्यज्ज्योंको क्लेश कराने वाली बात है। यह अनर्थ दण्ड है, अथवा कोई हिंसा करनेकी बात बोले वह पापोपदेश है। (२) हिंसादान जिन चीजोंसे हिंसा होती है उसका दान करना हिंसा दान कहलाता है। (३) अपध्यान—खोटा ध्यान, दूसरेका बुरा विचार करना यह अपध्यान है। (४) दुःश्रुत—खोटा सुनना जिसमें स्त्रीराग बढ़े या रौद्र परिणाम होवे वे सब दुःश्रुतियां हैं। (५) प्रमादचर्या—आलस्यमें प्रमादसे या कषायसे ऐसी प्रवृत्ति करना कि जिसमें जीवका बध हो ये ५ अनर्थदण्ड कहलाते हैं। अनर्थ कहते हैं निष्प्रयोजन, जिनमें धर्मका या आजीविकाका कुछ प्रयोजन ही नहीं है और उनका विचार कर रहे हैं, वचनसे यहां वहां बोल रहे हैं या शरीरकी चेष्टायें कर रहे हैं ये सब अनर्थके काम कहलाते हैं। और दण्डका अर्थ क्या है? मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना। जहां प्रतिक्रमण आदिकमें ये शब्द आते हैं कि तीन दण्डोंको छोड़ों मायने मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिको छोड़ो। इसका नाम दण्ड क्यों रख दिया? यह स्वयं दण्ड है। जिस समय कोई जीव अशुभ सोचता है, बोलता है, चेष्टा करता है, तत्काल वह दुःखी होता है। वह दुःख नहीं सहा गया कषायका इसीलिए तो अशुभ चेष्टायें करता है, फिर अशुभ चेष्टावोंके करनेसे जो पापका बंध होता है उसको आगे दण्ड भोगना पड़ता है। इस कारण अशुभ मन, वचन कायकी प्रवृत्तिका नाम दण्ड रखा गया है। इन ५ अनर्थदण्डोंसे जो विरक्त रहे, वह अनर्थ दण्ड व्रत है। अब पापोपदेश नामक अनर्थदण्डका स्वरूप कहते हैं।

तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।

प्रसवः कथाप्रसङ्गस्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ७६ ॥

पापोपदेशनामक अनर्थदण्डका स्वरूप—ऐसे पाप कार्यका उपदेश करना जिसमें तिर्यज्ज्योंको क्लेश उत्पन्न हो, वाणिज्यमें, बेचने खरीदनेमें कोई हिंसा उत्पन्न हो, अन्य भी कोई हिंसाके कार्य अथवा आरम्भके कार्य या ठगनेकी ही बातें, इनका उपदेश करनासो पापोपदेश अनर्थ दण्ड है। जैसे समझाते कि भाई इस प्रकार पशुओंको मारो, दृढ़तासे बांधो, मर्मस्थानमें पीड़ा करो, गाड़ीमें बैल जुत रहे हैं, चलते नहीं हैं तो बताना कि इस मर्मस्थानमें उंडा मारो जाय तो वह खूब चलता है आदिक स्वच्छंदताके

उपदेश करना, बहुत बोझला देनेका उपदेश करना, बैलोंको नपुंसक बनाना, जिसे कहते बधिया करना, उनकी नाक छेदकर नकेल डालना। तोता मैना, आदिक पक्षियोंको पिंजड़ेमें रोकने आदिकके उपदेश हैं, जिनमें तिर्यज्योंको क्लेश हो उसे पापोपदेश कहते हैं। सद्गृहस्थ श्रावक तोता मैना कबूतर आदिक पक्षी न पालेगा। कौन व्यर्थमें सिरदर्द मोल ले? कभी कोई खा गया, बिल्लीने पकड़ लिया और उनसे प्रयोजन क्या है? कोई आजीविका चलती है क्या? या धर्मसाधनामें मदद देते हैं क्या? ऐसे काम न करें और ऐसी बातोंका उपदेश भी न करें। यदि उपदेश करें तो वह अनर्थ दण्ड है, ऐसे वाणिज्यका उपदेश न करें जिसमें हिंसाका पाप हो, ६ कायके जीवोंकी विराधना हो वह सब हिंसा उपदेश है। यदि सद्गृहस्थ सदाचारसे रहित अभिलाषा करता है तो उसके कितने ही काम छूट जायेंगे जैसे लोहेका व्यापार या भंग तम्बाकू आदिकका व्यापार या गल्लेका भी व्यापार, ऐसे कितने ही व्यापार हैं जो हिन्दी ग्रन्थोंमें लिखे हैं, जहां कुछ चरणानुयोगका प्रकरण है वहां लिखा है कि वे सब काम छूट जायेंगे। कोई सोचे कि तब तो थोड़ेसे ही काम रह गए करनेको। निर्दोष वृत्तिसे चलानेकी बात अगर सोचें तब तो छूट ही जायेंगे, पर आज यह भावना कम रह गई। यह तो मामूली बात रह गई। अब इसमें कुछ दोषकी बात चित्तमें आती, भी नहीं है, बहुत साधारण है, लेकिन मिलेटरीमें मांस देनेका ठेका देना, ऐसे-ऐसे प्रयोग भी अब करने लगे जिसके समक्ष ये कुछ भी चीज नहीं है। तो यह भले ही कुछ समयका परिवर्तन है फिर भी एकदम स्वच्छंद तो न होना चाहिए कि जैसे मांसका शराबका जिससे सम्बंध हो, ऐसा व्यापार करना आदिक बातें तो करता भी नहीं सद्गृहस्थ, न दूसरोंको उपदेश देता है, इसके अतिरिक्त ऐसे बाग बनाओ, ऐसे खेत जोतो, इस तरह प्रक्रिया बनावो यह पापके कार्यका उपदेश यह सब पापोपदेश है, या छल कपट करनेकी नीति बताना—तुम यों कहो, तुम यों करो, इस तरहकी प्रवृत्ति करना यह सब पापोपदेश कहलाता है ऐसे अनेक प्रकारके पापरूप कथनका उपदेश करना पापोपदेश नामका अनर्थ दण्ड व्रत है। अब हिंसादान नामक अनर्थ दण्डव्रतका वर्णन करते हैं।

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गशृङ्खलादीनाम् ।

वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ७७ ॥

हिंसादान नामके अनर्थदण्डका स्वरूप—जो हथियार जीववधके कारणभूत हैं उनका देना हिंसादान कहलाता है। बरछी, तलवार, कुदाली, आग, विष आदिक जो पदार्थ दूसरेके वधके कारणभूत हैं उनका दान करना, होते होंगे कोई ऐसे अज्ञानी मूर्ख दानी जो ऐसी चीजोंका भी दान करें, कि लेते जावो हमारे पाससे जितना चाहो, यह सब अनर्थ दण्ड है। और पाप करनेकी बात जाने दीजिए। कोई अगर मांगे और यह अंदाज हो जाय कि यह किसी क्रोधमें है और असमयमें मांग रहा तो जो घर गृहस्थीके काम आते हैं चाकू, आग, खुरपा, आदिक, इनको भी नहीं देता है। जिससे हिंसा उत्पन्न हो ऐसी वस्तु अन्यको देवे तो वह हिंसा दान नामका अनर्थ दण्ड है। अब वैसे ही विचारो किसीने मांगा कि फावड़ा देना, तो सोचो तो सही कि वह उस फावड़ेसे क्या करेगा? वह गीली जमीन खोदेगा, कितने ही कौड़ोंका उसमें घात होगा। तो गृहस्थको यद्यपि अपने भाई चारामें पड़ोसमें रेमियोंसे न

निभेगा कि वह न दे, क्योंकि वह दूसरेको न देगा तो दूसरा भी कौन उसे देगा ? तो चाहे न निभे, किन्तु यह ध्यान रखना है कि जिस चाहेको न देना । काम क्या होगा उससे ? वह जानता है कि जो साधर्मि जन हैं, दयालु हैं, हिंसासे डरते हैं और मांग लिया उन्होंने तो उसे विश्वास है कि ये जीव वध न करेंगे, पर जो जीव बधसे डरते नहीं वहां तो एक ऐसी छोटी चीजको भी नहीं देता । देता है तो वह हिंसादान नामका अनर्थ दण्ड है, फिर ऐसी चीजको बेचना नहीं । देखो यदि बहुत निर्दोष व्यापारकी बात कही जाय तो कहनेको क्या रह जाएगा ? दो चार चीजें मुश्किलसे रह पायेंगी । जैसे कपड़ेकी दुकान या सर्राफा । और यदि बहुत बारीकीसे देखेंतो न नमककी दुकान कर-पायेंगे न गुड़की । कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो निर्दोष विधिसे चले तो सब व्यापार छूटता है, थोड़े रह जायेंगे, मगर जो साक्षात् बहुत बुरे हैं उनसे बचना ही चाहिए । तो ऐसी चीजोंका बेचना हिंसादान अनर्थ दण्ड है । अथवा भाड़ेपर फावड़ा, कुदाली आदिक उठाना, यह काम भी न करना । यदि करे तो वह हिंसादान अनर्थ दण्ड है । अब कोई कहे कि ये तो जो बारह व्रत पालें उनकी बात कह रहे, हां बात ठीक है मगर जैन कुलमें उत्पन्न होनेके नाते नहीं भी बारह व्रत पाल रहे याने अव्रती हैं तो भी चित्त गवाही देता हो सो तो सोचो—जिसमें हिंसा होती हो ऐसी वस्तुओंको देने, बेचने, भाड़ा देने आदिकको चित्त नहीं चाहता, तो अव्रतियोंको भी जहां तक हो बचना ही चाहिए । पर व्रती श्रावक तो इस कामको करेंगे ही नहीं । अब अपध्यान नामक अनर्थ दण्ड कहते हैं ।

बधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।

आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः ॥ ७८ ॥

अपध्यान नामके अनर्थदण्डका स्वरूप—अपध्यान बहुत बड़ा पाप है । जैन शासनके तत्त्वको जानने वाले जिन धर्मकी उपासना करने वाले श्रावक जैन अपध्यानकी बातको बसाये रहते हैं । वासना बनाये रहें यह बहुत एक सोचकी बात है । अपध्यानमें क्या चिन्तन चलता है ? दूसरेका बध होना, बंधन होना, छेदन होना, किसी पुरुषको कष्ट पहुंचे, इसका अपमान हो, ये बातें सोचना यह अपध्यान है, क्यों सोची जाती हैं ? रागसे या द्वेषसे । रागसे तो यों समझिये कि हमें किसी मित्रसे राग है और उस मित्रका किसी दूसरेसे द्वेष है तो उसके बारेमें खोटा सोचने लगना यह रागवश ही खोटा सोचा गया । जिसका खोटा सोचा गया उससे सीधा द्वेष नहीं है, पर वह मित्रका बैरी है इसलिए मित्रके रागवश बुरा विचार कर लेता, द्वेषसे बुरा विचार करता । नहीं सुहाता कोई या अपने यशका राग है तब दूसरेका द्वेष होने लगा, तो रागसे द्वेषसे किसी भी दूसरे जीवका बध बंधन सोचना, अपमान सोचना यह सब अपध्यान है । जरा अपने इस सहज स्वरूपके दर्शन करके निरखिये तो चित्तमें ऐसा कार्य करनेसे फायदा क्या मिलता है ? जो होता है सो होने दो, तुम तो सहज ज्ञानस्वरूप हो । बस देखते जानते रहो, सर्वके ज्ञाता द्रष्टा बनो, इससे गृहस्थके धर्मपालनमें और आजीविकाके कार्यमें फर्क नहीं आता, ऐसी अटपट बाहरी बातोंमें अपना दिल जोड़ना, अपध्यान करना, खोटा चिन्तन करना यह शोभाकी बात नहीं है, बड़प्पनकी भी बात नहीं है । इतना उदारचित्त होना चाहिए कि सब जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना रहे । जब

कभी धर्मका व्याख्यान करना पड़े तब बात यह ही तो सब बोलेंगे। सो करनी भी ऐसी ही करें उसी प्रकार करें जिस तरह हम मित्रोंमें या भरी सभामें बोल सकते, उस तरहका अपना व्यवहार भी बनायें।

अपध्यानसे हटकर सदध्यानमें रहनेका कर्त्तव्य—भैया, जो बुरी बात है उसे सभामें कोई बोल नहीं सकता। प्रयोग करके देखलो, हां अगर उद्दण्ड पापी गुंडोंकी ही सभा हो कोई तो वहां जैसा चाहे कोई बोल ले, मगर धर्मसभा एक अच्छी समाजकी सभा है और उसमें किसीको खड़ा किया जाय कि यह बोलेंगे तो मनमें चाहे पापकी बात हो, पर वह मुखसे बोल नहीं सकता। जो बात मुखसे नहीं बोली जा सकती वह बात क्या करने लायक है? वह इतनी गंदी बात है कि मुखसे बोले नहीं हिंसाकी, झूठकी, चोरीकी, कुशीलकी, तृष्णाकी, लोभकी, परिग्रहकी। तो ऐसी बातोंका दूसरेके लिए क्यों खोटा ध्यान करना? स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बहुत बड़ा मच्छ रहता है जो मुँह बाये पड़ा रहता है, उसके मुखमें हजारों मच्छियाँ आती-जाती रहती हैं फिर भी वह मुँह बाये पड़ा रहता है और उस ही के कानमें या आंखमें एक छोटासा तंदुल मत्स्य होता है वह उस दृश्यको देखकर अपना माथा धुनता है, करम ठोकता है, सोचता है कि यह महामच्छ तो बड़ा बेवकूफ है। यह मुँह बाये पड़ा रहता है और हजारों मछलियां इसके मुखमें आती-जाती किलोलें करती रहती हैं, यदि मैं इसकी जगह होता तो एक भी मछली बचने न देता। अब देखिये इस प्रकारका खोटा ध्यान करनेके फलमें वह तंदुल मत्स्य मरकर ७वें नरकमें जन्म लेता। तो जब धर्मके लिए हम आपका सारा प्रसंग है तो चित्तको इतना स्वच्छ और उदार क्यों नहीं बना पाते कि किसी भी मनुष्यके बंध बंधनका, बरबादीका, अपयशका, अपमानका मैं कभी भी चिन्तन न करूं। ऐसा दिल बनाना चाहिए नहीं तो यह अपध्यान नामका बहुत बड़ा अनर्थदण्ड लगता रहेगा, लाभकी बात कुछ नहीं है और मोहपापमें डूब जायगा, यह है अपध्यान।

अपध्यानके दुश्चिन्तनोंके उदाहरण—यह अपध्यानी पुरुष रागद्वेष ऐसे परिणाममें चिन्तन करता है कि इसका लड़का मर जाय, स्त्री मर जाय, इसे बड़ा बुरा दण्ड मिले, इसके नाक, कान छिद जायें, आजीविका नष्ट हो, इन्द्रियां नष्ट हों, इसका लोकमें अपमान हो आदिक। सब जीवोंमें सहज परमात्मस्वरूपकी निरख क्यों नहीं करते? यह मनुष्यभव बारबार मिलेगा क्या? और मानों जो भी काम किये जा रहे हैं उनसे आत्माको कोई लाभ पहुंचता है क्या? बड़े ठाठकी हवेली बना ली जाय तो उससे आपके आत्माको क्या लाभ मिला? उसमेंसे शान्ति निकली क्या? बहुत बड़ा परिवार गोष्ठी, पार्टी खूब बनाली जाय तो बताओ उसमें आपने हैरानी पाया या कुछ शान्ति? व्यर्थकी अटपट बातें, यहां वहांकी गप्प सप्प। बुरा सोचना, इसमें कोई लाभ पाया है क्या? देखो कोई किसी दूसरेके बारेमें बुराईकी बात कहता है तो कानमें धीरेसे कहता है, याने मुखसे जोरसे भी नहीं बोलता है। जैसे कि कुत्तेने यदि रोटी चुराया तो वह छिपकर पूँछ दबाकर आवाज न करके चुरायागा। तो चोरी-चोरी दूसरेकी बुरी बात कहनी पड़ती है, तो एक इसीसे ही अंदाज लगावो कि जो बात हम दूसरेसे ऐसा सोचकर कहें कि दूसरा कोई सुन न ले, चोरा चारी कहें तो समझ लीजिए कि बात स्वयं की भी अनर्थके लिए है। व्यर्थमें अपध्यान न करना।

अविकार चिद्ब्रह्मकी आराधनाके प्रसादसे अपध्यानसे पूर्णतया हटनेका अनुरोध—भैया,

खुले साहस यह विश्वास आप रख रहे ना कि कभी तो हम मोक्ष जायेंगे। कभी तो हम परमात्मा बनेंगे, तो वहां क्या होता है? एक शुद्ध गुण विकास। तो उसका सेम्पुल अभीसे क्यों नहीं करते? थोड़ा अपनेमें स्वच्छता लायें, गुण विकास करें, यह काम करना प्रारम्भ तो कर दें। अगर एकदम हम बुरे-बुरे ही रहे और हम सोचें कि किसी दिन हम परमात्मा बन जायेंगे तो ऐसा हो सकता क्या? नहीं हो सकता। लो अपने आपमें इतना तो निर्णय करें कि मुझको अपध्यान नहीं करना। कहा तो गया यह अनर्थ दण्ड मगर यह तो साक्षात् बहुत बड़ा पाप है। ऐसे अनर्थ दण्डोंसे विरक्त होना अनर्थ दण्डव्रत है। अब यहां देखिये—अकिञ्चितकर कहा है समयसारमें, अनर्थक्रियाकारी भी कहा है, ये दोनों शब्द रख लेना। जैसा मैं दूसरेके बारेमें सोचता हूं क्या मेरे सोचनेसे वह काम होता है? नहीं होता, मेरा सोचना प्रवृत्ति है। कुछ भी पर्याय हो वह मेरे प्रदेशमें ही होगी, मेरे प्रदेशसे बाहर नहीं हो सकती। बुरा सोचना अपध्यान करना, यह मेरेमें ही तो समायागा। सोचें कि इस पर आपत्ति आ जाय तो आपके सोचनेसे वह आपत्तिमें आ गया क्या? कदाचित आपत्तिमें भी आ जाय आपकी खोटी करनेसे तो उस करनीसे आपत्तिमें नहीं आया वह किन्तु उस काल उसके भी पापका उदय था इसलिए आपत्तिमें आ गया, पर आपके सोचनेसे आपत्तिमें नहीं आता। तो अनर्थ क्रियाकारी मायने सोचनेका जो काम है वह काम वहां नहीं हुआ और इसीलिए अकिञ्चितकर जो आपने दूसरेके बारेमें सोचा कि दुःखी करूं, यह आपत्ति डालूं तो इस सोचनेसे नहीं हुआ वहां इस कारण आपका सोचना अकिञ्चितकर है। कोई लाभ देने वाला नहीं है, फिर क्यों दूसरेके बारेमें कुछ भी विचार करें। मेरा जैसा भाव, मेरी जैसी चेष्टा वह मेरे लिए है, उसके बारेमें भी अपने मनको हैरान करूं तो यह चेष्टा मेरे लिए है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर इस अपध्यान नामके खोटे पापसे बचना ही चाहिए।

आरम्भसङ्गसाहस-मिथ्यात्वद्वेषरागयमदनैः ।

चेतः कलुषयतां श्रुति-स्वधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥

दुःश्रुतिनामक अनर्थदण्डके लक्षण—दुःश्रुति नामक अनर्थ दण्ड व्रतका इस छंदमें स्वरूप बताया गया है। दुःश्रुतका अर्थ है खोटा सुनना, दुः मायने बुरा श्रुत मायने सुनना, जो वचन चित्तको कलुषित करें, ऐसे वचनोंका सुनना दुःश्रुति नामक अनर्थ दण्ड है। जो आरम्भके वचन हों—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और जो परिग्रह सम्बंधी बातें हो या ऐसा कथनक हो जिसमें आश्चर्यकारी वीर लोगोंके कर्तव्य बताये गए अथवा मिथ्यात्वकी बातें हों, मिथ्या मतकी वार्ता हो। यज्ञ करना आदिक विरुद्ध अर्थोंका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हों, रागद्वेष बढ़ाने वाले वचन हों तो ऐसा चित्तको कलुषित करने वाले शास्त्र हों अथवा लौकिक वार्ता हो उनको सुनना दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। जिसने यह निर्णय कर लिया कि मेरेको दो बातोंसे प्रयोजन है, मुख्य तो है धर्मपालन। मैं अपने स्वभावको निरखूं और स्वभावमें यह मैं हूं, ऐसा अपने आपका अनुभव बनाऊं यह तो है मुख्य काम, दूसरा है गौण काम आजीविकाका इन दो से सम्बंध है, वे वचन तो सुनने ही पड़ेंगे, मगर जिनका इन दो से सम्बंध नहीं है और व्यर्थ है, पाप कार्योंकी जिसमें भेषणा भी है ऐसे वचनोंको सुनना दुःश्रुति है यह वह ज्ञानी स्वयं ही

जानता है। अपना ही चित्त अपनेको गवाही दे देता कि यह बात अनर्थ दण्ड है अथवा नहीं। जो मोह बढ़ायें, रागद्वेष बढ़ायें, पदार्थका विपरीत स्वरूप ग्रहण करायें ऐसे शास्त्रोंको सुनना यह दुःश्रुति नामक अनर्थ दण्ड है। लोकमें भी जो विकथा वाली बातें हैं मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदिक कामवासनाके उत्पादन करने वाले उनका सुनना भी दुःश्रुति है, जिनका वैराग्य ही प्रयोजन हो ऐसे शास्त्र तो शास्त्र हैं, पर जिनका प्रयोजन मन बहलावा या राग बढ़ाना या भगवानके नामपर ही भक्ति सी समझ लीजिए, पर हो रागकी ही बातें हों तो ऐसे सब वचन दुःश्रुतिमें आते हैं।

आत्मस्वभावके अनुभवसे रहित जीवोंके जीवनकी अन्धकारमयता—जिनको अपने आत्माके सहज स्वभावका पता नहीं वे बिल्कुल अंधेरेमें हैं। चाहे वे लौकिक हिसाबसे जैन मतके मानने वाले हों चाहे अन्य मतके मानने वाले हों, जिनको अपने सहज स्वभावका परिचय नहीं है वे अंधेरेमें हैं। उनका जो भी कर्तव्य बनेगा कर्म बनेंगे वे मोहसे मिले हुए हैं, अतएव कर्मबन्धके ही कारण बनते हैं, मुक्तिका कारण नहीं बन पाते। जीवनमें सबसे प्रधान कार्य है अपने आत्माके सहज स्वभावका अनुभव बनाना। इसके लिए चाहिए तत्त्वज्ञान, स्वाध्याय, सत्संग। अब विषयवासना अनादिसे लगी है। इनका दिल नहीं चाहता कि सत्संगमें या तत्त्वज्ञानके वातावरणमें रहें। उन्हें वही रुचता है जैसा कि संसारमें अनादि कालसे रहते आये, इसलिए इनको कठिन मालूम होता है वास्तविक धर्मका करना। बाकी आत्मपरिचयके बिना जो भी कार्य किए जा रहे हैं उनका प्रयोजन तो बस इतना है कि कुटुम्ब खुश रहे, आजीविका खूब बने। जैसे-जैसे धनकी वृद्धि होती वैसे ही वैसे प्रभुभक्तिमें भी उनका मन लगता, इस ख्यालसे कि प्रभुभक्तिकी वजहसे ही हमको यह लक्ष्मी मिल रही और मिलती रहेगी। पर जरा सोचिये तो सही कि वह प्रभुभक्ति मोक्ष मार्गमें ले जाने वाली है या बाह्य विषयोंमें ही उपयोग दृढ़ कराने वाली है। जितना करते हैं चलो वह भी ठीक है मगर मुक्तिकी अभिलाषासे जो प्रभुभक्ति है आत्मस्वभावका परिचय करके जो प्रभुभक्ति बनती है उसमें तो दोनों ही काम हो रहे हैं। सम्पन्नता भी रहेगी और मोक्षमार्ग भी चलेगा। केवल एक बाह्य सांसारिक प्रयोजन लेकर प्रभु भक्ति करें तो उसमें इसका ठेका न रहा कि सम्पन्नता रहे किन्तु पापभाव चल रहा है। कोई सोचता होगा कि वाह भगवानकी भक्ति कर रहे, उसमें कैसे पापभाव? अरे शरीरमें ही तो यह क्रिया बन रही। भीतरसे तो देखोकि संसार के भोगोपभोग साधनों के प्रति कितनी आसक्ति चल रही है और उस आसक्तिके फलमें पुण्य बंधेगा कि पाप। भले ही वह मंदिरमें बैठा है। पूजा पढ़ रहा मगर संसार बढ़ाने वाले भोगोपभोगमें आसक्त है और उसी ध्यानसे पूजन दर्शन वगैरह है तो यह बतलावो कि मंदिरमें उसे पापका बंध हो रहा या पुण्यका? पुण्य होता है तो अल्प, पाप होता है तो अधिक। कर्म यह नहीं निरखते कि यह मंदिरमें बैठा है इसलिए पाप न बंधना चाहिए। वहां तो निमित्त नैमित्तिक योग है, यह उपयोग आस्था किसमें रख रहा? वहां वास्तवमें आस्था भगवानमें नहीं है, किन्तु संसारकी भोगोपभोग सामग्री प्राप्त करनेमें है। खूब परीक्षा करके देख लीजिए। जहां आस्था होगी उसकी प्रकारका बंध चलेगा। तो जब इतनी तक बात है कि खुद अगर रागकी प्रधानता रख रहे हैं तो वहां ही अनर्थ है, फिर जो शास्त्र ऐसे हैं कि जिनमें रागकी प्रेरणा बसी हुई है, बस भगवानके गुण गाये जा रहे हैं तो यहीं तक कि मक्खन

चुराया, अनेक सखियोंको छेड़ा, महिलावोंमें रहे, इतने शिकार खेले, या अमुकका वध किया, यों ही कितनी ही बातें भगवानका नाम लेकर लोग बोलते हैं और समझते हैं कि हमने गुण गा लिया, पर वहां भगवानके गुण एक भी गाये गए क्या? भगवानका गुण तो है वीतरागता और सर्वज्ञता, इसकी अगर महिमा गाये तब तो समझिये कि भगवानके गुण गाये अन्यथा वह तो अपने पापभावोंमें ही चल रहा। यह सब ऐसी वाणी सुनना दुश्चिन्ता अनर्थदण्ड बतलाया। खोटी कथा, खोटी चेष्टाकी बात सुननेका त्याग इस व्रती श्रावकके रहता है, अब प्रमादचर्या अनर्थदण्डका स्वरूप कहते हैं।

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।

सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥ ८० ॥

प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्डके लक्षण—ऐसे काम करना जिनमें न अपनी आजीविकासे सम्बंध है, न धर्मपालन से सम्बंध है और व्यर्थका आरम्भ है, पापका जिसमें सम्बंध है, ऐसे कार्योंको करना प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है। जैसे पृथ्वी खोदनेका ही शौक चल गया बिना काम पृथ्वी खोद रहे हैं, पत्थर आदिक फोड़नेका आरम्भ कर रहे हैं, जलको फालतू बहाते, बहुत-बहुत बखेरते, घंटों साबुन लगाकर नहाते, बाल्टियों पानी बहाते, ये सब प्रमादचर्याकी बातें हैं। ऐसा क्या यह शरीर रत्न जवाहरातसा बन रहा जिसको इतना अधिक नहलवाया जा रहा है और फिर बहुत देर तक नहलवाना, नहाते हुएमें बड़ा मौज मानना ये सब प्रमादचर्याकी बातें हैं। प्रमादचर्याकी क्या थोड़ी बात है? पद पदपर प्रमादचर्या चल रही है मनुष्योंके, जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं, शौक बढ़ रहा, राग बढ़ रहा, बिना प्रयोजन अग्नि बढ़ा रहे हैं, पटाके फोड़ रहे हैं, यह सब प्रमादचर्या है। हिंसा हो रही है, क्या प्रयोजन पड़ा है? एक सीधी सी कुज्जी है कि जिससे आपको आजीविकामें मदद न मिले अथवा धर्म पालनमें मदद न मिले या कहो कि सामाजिक पारिवारिक जीवन भले प्रकार जिए उसमें मदद नहीं तो ऐसी बातें जितनी भी करें वह सब प्रमादचर्या है। वनस्पतियोंका छेदना बिना प्रयोजन चल रहा है। रास्तेमें छोटे-छोटे पेड़ लगे उनकी पत्तियां तोड़ते जाते हैं, वह आदत पड़ी है ना? अगर किसी घास पुराल पर विराजे हुए त्यागीके पास बैठ गए तो वहां भी घासके तिनके तोड़ते रहते, इस प्रकारकी एक आदत पड़ी है लोगोंको। तो यह सब प्रमादचर्या वाली बातें हैं। व्यर्थका आरम्भ, हिंसाजनक कार्य, बिना प्रयोजन अधिक गमन करना, गमन कराना, प्रयोजनवश तो कराता है श्रावक, आखिर पापसे वह कहां तक हट सकेगा? हर जगह पापकी क्रिया कुछ न कुछ करनी ही पड़ रही है, क्योंकि घरमें बस रहे, एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा टाल नहीं सकते। आजीविका किए बिना काम नहीं चलता तो पाप कार्योंमें लगना पड़ता है गृहस्थोंको तो कम से कम इतना तो करें कि जिन कामोंसे कुछ हमें प्रयोजन ही नहीं है ऐसे अनर्थके पाप न करें। ऐसा रोजिगार करना जैसे ईंटोंका भट्टा लग रहा, जो कार्य अत्यन्त निषिद्ध था वह कार्य किया जाता है और उसका खेद भी नहीं मानते। तो ये तो सब आजीविकाके कारण होनेपर भी यदि खोटे वाणिज्योंको करे, आरम्भको करे तो वह भी व्रती श्रावकके योग्य नहीं है।

घृतक्रीडामें महान् अनर्थदण्ड—भैया कितने ही ऐसे कार्य हैं कि अब्रती श्रावकके भी योग्य

नहीं हैं, उन कार्योंके करते हुए वे सम्यग्दृष्टि भी न कहला सकेंगे। तो ऐसी अनेक प्रकारकी जो अनर्थ क्रियायें हैं उनमें प्रधान है जुवा खेलना, यह बहुत बुरा व्यसन है। इसमें बुद्धि बिगड़ जाय, बड़े पाप करनेमें कारण बन जाय, धर्म कार्योंमें मन न लगे, वह अनर्थदण्ड है, प्रमादचर्या है, उससे भी अधिक अनर्थ है। हार जीतकी दृष्टि जहां रहती है वहां परिणामोंमें कितनी व्यग्रता रहेगी। हारे तो खेद मानता, जीत जाय तो अभिमान करता, और फिर चलो हार जीत थोड़ी हुए बिना खेल नहीं बनता। कबड्डीका खेल, गुल्ली डंडेका खेल या फुटबाल, बालीबाल वगैरहके खेल इनमें भी हार जीत होती। मगर इनमें धन सम्बंधी हार जीत नहीं होती, इनमें स्वास्थ्यका प्रयोजन है, तासका शतरंज वगैरहके खेलमें बतावो स्वास्थ्यका क्या सम्बंध? बल्कि इनमें तो स्वास्थ्य बिगड़ता है। पर खाली बैठे हैं, खेल रहे हैं, मन बहला रहे हैं। और जिसमें जुवाका व्यसन लग गया वह धीरे-धीरे अपना बहुत बड़ा रूपक बना लेता है। अभी तो देखनेमें ऐसा लग रहा कि क्या है, बच्चे हैं, तास खेल रहे, मन बहला रहे, पर धीरे-धीरे बढ़ बढ़कर यह ही अनर्थका कारण बन जाता है। हारे तो बुरा, जीते तो बुरा। तो जुवा समस्त व्यसनोमें प्रधान व्यसन है, समस्त पापोंका वह संकेत साधन है, जुवा खेलने वालेमें अन्तमें सब पाप आ जाते हैं। जिसमें जुवा खेलनेकी आदत है वह धन जुड़ जाने पर फिर उसे परोपकारमें नहीं लगाता, उसमें शराब खोरी, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन आदिकी अनेक बातें आ जाती हैं। क्योंकि सदाचारका एक बांध टूट गया तो कुछ भी करनेमें उसे हिचक नहीं हो पाती और कहो वह अपना घर भी दांवपर लगा दे। बाल बच्चे भी कहो दांवपर लगा दे, यों कितने ही अनर्थ वह कर लेता है, उसके परिणामोंमें बड़ी निर्दयता आ जाती है, दूसरोंको घात भी विचार कर लेता है। और जुवामें मानलो धन हार गया तो वह चोरी करेगा, वह बड़ा व्यग्र रहता है।

व्यसनोसे स्वयं बचना व अपने परिजनोंको बचाना—भाई आप सबकी जिम्मेदारी है कि आपके बाल बच्चोंको भी सत्संग बना रहे, कुसंग न बनने पाये, तो जुवा खेलना महा अनर्थ दण्ड है। ऐसा भला मनुष्य जीवन पाया और खोटी-खोटी बातोंको चित्तमें स्थान दे तो यह अपना जीवन खोना है। थोड़ा समझमें आये, थोड़ा यहां सीखें, तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करें तो थोड़े-थोड़ेके बाद बहुत ज्ञान बन जाता है। जो आज कोई विद्वान है क्या वह पैदा होते ही विद्वान बन गया था? अरे उसने बचपनसे ही कुछ अध्ययन किया। तत्त्वज्ञानकी रुचि भई, पढ़ता गया, ज्यों ज्यों समय बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका ज्ञान भी बढ़ता गया। तो बस एक ही ध्यान रखना चाहिए कि मुझे ज्ञान प्राप्त करना है। कल्याणकी भावना हो तो निर्णय बनाइये कि बाहरी बात तो पुण्य पापके अनुकूल बनेगी, जो होगा उसीमें काम बन सकता। यदि उदय ठीक है तो बिना विचारे सबकुछ प्राप्त हो जाता। उसका ज्यादा क्या सोचना? वह उद्देश्य नहीं है जीवनमें, जीवनका उद्देश्य है तत्त्वज्ञान होना, इस ओर लगिये तो आपके सब अनर्थ छूट जायेंगे। मैं किस योग्य कि जुवां खेलूं या अमुक कार्य करूं, और थोड़ा यह देख लीजिए। जैसे मानलो कोई पढ़ाता है और उसके पास आप घरसे पढ़ने आते हैं और बगलमें पुस्तक दाबे हुए आते हैं तो जहांसे आपने पुस्तक दबाया और घर से चले वहींसे आप अपनेको बालकवत् विद्यार्थी अनुभव करते हैं ना, तो इतना अनुभव आते ही आपका कितना भार दूर हो जाता है, फिर भला तत्त्वज्ञान पा

लेनेपर कितना भार कम हो जाता है इसका कुछ अंदाज तो करलो। तो बस एक जिसमें अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन बने वह काम करें, जो अन्य अनर्थके जुवा आदिक काम हैं, जिनमें असभ्यता भी है और अनेक प्रकारका दुसंग भी है वह सब त्यागने योग्य है। अब अनर्थ दण्ड व्रतके ५ अतिचार बताते हैं।

कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।

असमीक्ष्याचाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्भिरतेः ॥ ८१ ॥

अनर्थदण्डव्रतके पांच अतिचारोंमें प्रथम कन्दर्पनामक अतिचार—अनर्थदण्ड विरतिके ये ५ अतिचार हैं, दोष हैं, व्रती श्रावक इन दोषोंको नहीं करता। (१) पहला है कन्दर्प—रागभावकी अधिकतासे हास्य मिश्रित भंड वचन बोलना कन्दर्प नामक अतिचार है, जिसमें हंसी बसी हो, दुर्भाव बसा हो ऐसे भंड वचन बोलना जो भले पुरुषोंके सुनने लायक भी नहीं हैं वे सब कन्दर्प अतिचार कहलाते हैं। गालीके शब्द जो प्रसिद्ध हैं इकहरे इकहरे खैर उनका इतिहास अलग है, वे वास्तवमें गाली नहीं हैं, किन्तु प्रशंसाके शब्द हैं। अब जिसके लिए वे शब्द बोले गए वह उतना योग्य नहीं इसलिए वे शब्द गाली रूप समझ लिए गए। आजकल तो लोग गालीके बड़े-बड़े वाक्य भी बोलते हैं, जिनमें माँ, बहिन, बेटी आदिके प्रति गंदी-गंदी बातें भरी होती हैं। तो व्रती जनोंको या अब्रती श्रावकजनोंको भी ऐसे वचन न बोलना चाहिए। जैसे—मानलो एक भाईने अपने ही भाईको बहिनकी गाली दी तो उसका अर्थ क्या हुआ कि उसने अपनी ही बहिनको गाली दी, पर इसका भी उसे विवेक नहीं। पशुवोंको भी लोग गाली देते तो कभी कभी ऐसा भी बोलते कि तेरा मालिक मर जाय, अब बताओ मालिक खुद बने बैठे हैं और गाली दे रहे। पर उन्हें यह पता नहीं कि यह गाली तो हम पर लग रही। तो जब रागभाव बढ़ा, हंसीकी बात हुई तो ऐसे वचन निकलते कि वह कुछ सोचना ही नहीं कि इसका क्या अर्थ है। और जहां फिर हास्य भरे हुए वचन हों, जैसे पहले समयमें विवाह शादीके मौकेपर ऐसे ही हास्य मिश्रित वचन बोला करते थे, आज तो इतनी फुरसत नहीं है कि तीन-तीन दिनका समय विवाहमें दें, घंटा दो घंटेका विवाह रह गया, तो उसमें मौका कहां मिलता कि हास्य भरी बातें बोले। मगर जिनकी बड़ी उम्र है वे जानते हैं कि पहले जमानेमें ५-५ दिनकी बारात रहती थी, तो दिन भर वे और क्या करते रहते थे? हां थोड़ा सुबह या दोपहरके समय विधान सभाका भी काम करते थे और बाकी समय जैसा जिसे भावे वैसा हंसीकी बातें करते थे, यह सब कन्दर्प है।

अनर्थदण्डव्रत के कौत्कुच्य व मौखर्य नामके अतिचार—दूसरा अतिचार है कौत्कुच्य। तीव्र रागके उदयसे हास्यरूप वचन तो है ही पर शरीरकी भी चेष्टा करते थे हाथसे कुछ बुरा इशारा करना या आंखें मटकाना आदिक, कितनी ही कायकी चेष्टायें करें यह कौत्कुच्य नामका अतिचार है। तीसरा अतिचार है मौखर्य बिना प्रयोजन असार बकवाद करना मौखर्य है। कितने ही लोगोंकी आदत होती कि वे बुरे बोल बोलते हैं, बकवाद करते हैं, उनका तन भी खराब, मन भी खराब और वचन भी खराब होते हैं। उन्हें पीछे पछताना पड़ता है और दुनियाकी दृष्टिमें वे गिर भी जाते हैं। बुरा बोलनेकी आदत

बढ़िया नहीं होती। समझे, सुने, अर्थ लगाये, उसकी पूर्वापर बात विचारे, अगर वहां किसीका हित होता हो तो थोड़े वचन बोल देना यह तो ठीक है मगर बहुत बकवाद करना यह मौख्य है। उचित नहीं है।

अनर्थदण्ड व्रतके असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार—चौथा अतिचार है असमीक्ष्याधिकरण बिना विचार किए, विवेक किए, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना यह अनर्थदण्डका अतिचार है। कुछ प्रयोजन ही नहीं फिर भी मन, वचन, कायकी चेष्टा बढ़ा रहे, बना रहे यह अनर्थ दण्डका अतिचार है। जैसे रागद्वेष वर्द्धक कवितायें बनाना, देखा होगा कि कविसम्मेलनोंमें ऐसी-ऐसी गंदी कवितायें सुननेको मिलती जो कामवासना बढ़ाती हैं, कव्वालियां भी बहुत सी ऐसी ही होतीं। ये सब अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं, रागद्वेषवर्द्धक छंद शास्त्रका चिन्तन करना ऐसा मन खोटी प्रवृत्ति वाला कहलाता है। पापकी कथा करके दूसरे मन, वचन, कायको बिगाड़ने वाली वाणी कहना यह वचनका असमीक्ष्याधिकरण है। कुछ प्रयोजन नहीं पर गमन कर रहे, बिना प्रयोजन जहां चाहे बैठना दौड़ना, पटकना फैंकना, जो चाहे चीज जहां चाहे ढकेलना। पत्ता पुष्प आदिकका छेदन करना, किसीको विष देना, शस्त्र देना, कोई चीज छोटी भी है तो भी उसे घसीटकर ही उठाना, कोई बहुत बड़ी चीज है और मानलो नहीं है उस समय कोई दूसरा साथी सहयोगी तो कभी मानलो थोड़ा सरका लिया, देख लिया, चीटियां नहीं हैं यद्यपि वह भी दोष है मगर ऐसी आदत बन जाना कि छोटी भी चीज हो तो उसे भी सरका देना, जैसे थाली धरी है, दूर है तो उसको उठाकर धरनेकी आदत न हो तो उसे भी सरका देना, यह तो बिना प्रयोजन कायकी चेष्टा है। यह कायका असमीक्ष्याधिकरण है।

अनर्थदण्ड व्रतके अतिसंग्रहनामक अतिचार—पांचवा अतिचार है अतिप्रसाधन—जितने भोगोपभोगके साधनोंसे निर्वाह हो जाय उससे अधिक बिना प्रयोजन संग्रह करे तो वह अतिसंग्रह अतिचार है। जैसे २०-३० ताले पड़ें हैं, टूटी फूटी जो कुछ घरमें चीजें पुरानी हो गईं उनको रखते जा रहे, बाजार गए, सस्ती चीजें मिली तो उन्हें खरीदकर भर रहे, चाहे वे जिन्दगीभर काम न आयें मगर एक शौक होता है ऐसी व्यर्थकी चीजोंका संग्रह करनेका। खैर बच्चे लोग भी ऐसा खेल खेलते कि माचिसके खोलोंका संग्रह करते, उनमें कंकड़ या इमलीके बीज भरते और उनका खेल खेलते तो कमसे कम उनका यह तो प्रयोजन होता कि उनसे खेल खेलना और दिल बहलाना, पर इन बड़े लोगोंका तो कुछ प्रयोजन ही समझमें नहीं आता। व्यर्थ ही ऐसी हजारों चीजोंका संग्रह करते जो कुछ काम नहीं आती, फायदा जिनसे कुछ नहीं, बल्कि उनके खरीदनेमें हजारों रुपयेका नुकसान होता है।

विचित्र अनर्थदण्ड—गुजरातमें एक काम सुननेमें आया कि कहीं कहीं कुछ ऐसा रिवाज है कि किसी किसी अवसर पर स्त्रियोंके केश गूँथे जाते हैं, जिसे कहते हैं, जूड़ा चोटी करना, तो बताते हैं कि वे पांच-पांच सौ रुपये तकके जूड़े गूँथे जाते हैं, पता नहीं उनमें क्या खास बात है? है तो यह फिजूलका ही काम। ऐसे कामोंको तो अनर्थ दण्ड कहेंगे। अरे क्या प्रयोजन पड़ा है केवल जूड़ाचोटी करनेका ५००) खर्च करनेका? न उसका आजीविकासे सम्बंध न धर्मसाधनासे। उसके सम्बंधमें क्या अधिक विचार करना कि ऐसे केश सम्हालना, ऐसा जूड़ा चोटी करना। कपड़ोंके सम्बंधमें भी ऐसी ही बात है। क्या उसका विशेष ध्यान देना कि ऐसी डिजाइनके चाहिए, ऐसा ऐसा कलर चाहिए, ऐसा फैशन चाहिए

... अरे ये सब व्यर्थके खर्चकी बातें हैं और इनसे रागद्वेष भी बढ़ता है तो ऐसे अनर्थ दण्डोंसे यह व्रती श्रावक दूर रहता है। और देखिये जिन बच्चों का भवितव्य अच्छा है वे अधिक शौक शृंगारमें नहीं पड़ते, सीधे सादे वस्त्र पहनते, क्या रखा है फिजूलके शौक शृंगारमें? आजकल देखनेमें आता कि बहुतसे लड़का लड़की अपने अंगूठेका नाखून रखा लेता शोभाके लिए, कोई-कोई तो चार-पांच अंगुलियोंमें भी नाखून रखा लेते, यह कैसा फिजूलका काम है कि जिससे कुछ लाभ नहीं बल्कि सारी हानि ही हानि है। आखिर है तो वह नाखून मल ही। उससे क्या शोभा मानना, कहीं लिहाफ चद्दर आदिमें फंस जाय तो वह भी फट जाय या स्वयंको बड़ी पीड़ा पहुँचे। क्या लाभ उनसे? ऐसा भी तो नहीं है कि किसीसे लड़ते समय वह चाकू जैसा काम कर सके। जिनमें कुछ काम काज नहीं करना। बैठे रहते फाल्तू वे ही इस तरहका शौक करते। जो लोग अपनी पांचों अंगुलियोंके नाखून बढ़ा लेते उन्हें तो पंचानन कहना चाहिए। पंचानन कहते हैं सिंहको। जैसे सिंहके पंजे बड़े पैने होते, वे अपने पंजोंके द्वारा दूसरे जीवोंका घात कर सकते ऐसे ही ये भी दूसरोंको अपने तेज नाखूनोंसे कष्ट दे सकते और स्वयं भी कष्ट उठा सकते। तो कुछ फायदा नहीं इस प्रकारके व्यर्थके कामोंसे। ये सब धर्म विरुद्ध काम हैं, इनका तो त्याग कर ही देना चाहिए।

अक्षर्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।

अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ८२ ॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन—श्रावकके १२ व्रत यहां बताये जा रहे हैं। इनमें ५ अणुव्रतका कथन पहले हो चुका। उन अणुव्रतोंके पोषण करने वाले पूरण करने वाले तीन गुणव्रत कहे जा रहे हैं, जिनमें (१) पहला गुणव्रत है दिग्व्रत। दिग्व्रतमें दसों दिशाओंके गमनागमन व्यवहार करनेके क्षेत्रकी सीमा किया, फिर उस सीमाके अन्दर ही कोई अनर्थ दण्ड न हो, जैसे कोई सोचे कि हमने जितनी सीमा ली है उसके भीतर हम कैसा ही कुछ भी करें, तो जैन शासनका यह हुक्म नहीं है। उस सीमाके अन्दर भी अनर्थदण्ड न कर सकेगा। निष्प्रयोजन पापारम्भ न कर पायगा। अब इसी प्रकार भोगोपभोग परिमाण व्रतकी बात कही जा रही है कि उस सीमाके अन्दर उसे भोग और उपभोगका परिमाण भी रखना होगा। ५ इन्द्रियके विषयोंका जो राग है उस रागकी आसक्ति घटानके लिए भोगोपभोग परिमाण किया जाता है। संसारी जीवके इन्द्रियके विषयमें अतीव अनुराग अनादिसे चला आया है, जिस रागके कारण व्रत संयम दया क्षमा आदिक कोई गुण नहीं ठहर पाते। तो अब यह दुर्लभ मानवजन्म पाया, जैन शासनका सुयोग पाया और आत्म करुणा करके गृहस्थने अणुव्रतका धारण किया सो अब यह ५ पापोंसे उत्पन्न हुए अन्यायके विषयमें प्रीति नहीं कर रहा और फिर यह न्यायके विषयोंमें भी तीव्र राग नहीं कर रहा। ५ इन्द्रियके विषयोंको अन्यायसे भोगे हड़पे यह तो व्रती श्रावकके सम्भव ही नहीं है, पर न्याय अनुकूल जो विषय प्राप्त हुए हैं गृहस्थीकी नीति के अनुसार उनमें एक तीव्र राग नहीं रखता तो उन विषयोंका राग कम करनेके लिए जिसका प्रयोजन नहीं पड़ा सो इन्द्रिय विषयोंमें भी वह सीमामें लगता है। भोग और उपभोगमें परिमाण करता है। इन्द्रियके विषयोंमें निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करता, इस ही का

रत्नकरण्ड प्रवचन द्वितीय भाग

नाम है भोगोपभोग परिमाण ये सब व्रत आश्रवके कारण भी होते, सम्बरके कारण भी होते। जितने अंशोंमें राग है उतने अंशोंमें आश्रव चल रहा है, पर इन पापोंसे विरक्ति रूप जो परिणाम है उस परिणामसे तो सम्बर ही चलता है। अब भोग और उपभोग दोनोंका परिमाण बताया गया तो भोग मायने क्या और उपभोग मायने क्या? इस बातको स्पष्ट करते हैं।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगोभुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।

उपभोगोऽशनवसन-प्रभृतिःपञ्चेन्द्रियो विषयः ॥ ८३ ॥

भोग और उपभोगके पदार्थोंका विश्लेषण—जो एक बार भोग करके छोड़ने ही योग्य होता है उसे तो कहते हैं भोग और भोग करके फिर भी भोगने योग्य होवे उसे कहते हैं उपभोग। अर्थात् जो एक बार ही भोगनेमें आ सकें ऐसी वस्तुओंको कहते हैं भोग और जो अनेकबार भोगनेमें आये उसे कहते हैं उपभोग। जैसे भोजन एक बार खा लिया तो क्या उसे फिर खाया जा सकता? जैसे जलसे स्नान किया तो स्नान किए गए जलसे कोई नहा सकता है क्या? नहीं नहा सकता, ऐसे ही जो चीज एक बार भोग ली उसे दुबारा न भोगना यह है भोग। जैसे तेल मालिश एक बार शरीरमें किया, अधिक अगर तेल लग गया तो उस तेलसे कोई दूसरा भी मालिश कर लेगा क्या? अरे खुद भी न करेगा। अगर अधिक तेल लग गया तो इसको थोड़ा पौछ कर कटोरीमें रख लें, कल फिर इसे लगायेंगे ऐसा भी कोई करना पसंद करता क्या? कोई नहीं पसंद करता। फूलमाला किसीने एक बार पहिन लिया हो तो उसे दुबारा कोई पहनना पसंद नहीं करता। ऐसे ही उपभोग बार-बार भोगनेमें आये—जैसे वस्त्र। वही कमीज कल पहिनकर आये, वही आज पहने हैं। पहनते जावो जब तक जी चाहे, ऐसे ही चारपाई तखत, चश्मा आदिक अनेक चीजें हैं जो बारबार काममें आ रही हैं, उनका नाम है उपभोग। जो एक बार ही भोगनेमें आये फिर भोगने योग्य न रहे ऐसे तो भोग हैं जैसे भोजन, चंदनका लेप, फूलकी माला, इतर लगाना और जैसे गहने, वस्त्र, स्त्री, आसन, पलंग, घर, बगीचा, चित्राम आदिक ये बारबार भोगनेमें आते हैं। तो ये उपभोग कहलाते हैं।

भोग व उपभोगके परिमाणकी प्रक्रिया—भोग व उपभोगका परिमाण व्रती श्रावकके होता है परिमाण होनेसे राग घट जाता है, बस इतना ही तक विकल्प रहा। इसी व्रतके आधार पर हरी का त्याग किया जाता। जैसे ५० हरी रख ली जीवनभरके लिए, २५ रख ली, १० रख ली तो उससे यह होता है कि शेष जो लाखों करोड़ों जातिकी वनस्पतियां हैं उनकी हिंसाका दोष नहीं आया। बस १०-२० हरीके सिवाय बाकी सबका त्याग हो गया, पर उन सबका नाम लेकर हो तब है। कोई कहे कि जिन्दगीभर मैं १० हरी खाऊंगा और उनका नाम न लें तो उन १० में सब आ गए। तो हरीका नाम लेकर जो त्याग करनेकी पद्धति है वह भोगमें ही प्रमाण किये जा रहे हैं, ऐसे ही उपभोगका परिमाण करें, इतने वस्त्र रखेंगे, इतने बर्तन रखेंगे, उसका परिमाण होता है। यद्यपि सहज वृत्तिसे लोग ज्यादा नहीं रखते बर्तन आदिक, जितनी आवश्यकता है उतने ही रखते, आवश्यकता नहीं है सो नहीं रख रहे। प्रायः हो रहा है सब घर, पर जिसके नियम नहीं है, परिमाण नहीं है वह किसी भी वस्तुको देखकर मन

चला सकता है और ला भी सकता है, उसके चित्तमें एक नियंत्रण नहीं है कि इतनेसे ही मेरा सम्बंध रहेगा। अन्यसे मतलब नहीं। तो ये सब भोगोपभोग परिमाण व्रत हैं। इन भोगोपभोगका परिमाण रखना। अब यह बतला रहे हैं कि परिमाण करने वाला जीव अभक्ष्य चीजोंका कभी सेवन नहीं करता, उनके बारेमें यावज्जीव त्याग करता है, सो तीन श्लोकोंमें बतला रहे हैं।

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपायातैः ॥ ८४ ॥
अल्पफलबहुविधाता-न्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येव भवहेयम् ॥ ८५ ॥
यदनिष्टं तद् व्रतये-द्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥ ८६ ॥

आजीवन त्यागने योग्य अभक्ष्य पदार्थ—कौन-कौनसे पदार्थ अभक्ष्य हैं जिनका यावज्जीव त्याग करना चाहिए? उनमेंसे (१) प्रथम है त्रसघात। जिन पदार्थोंके सेवन करनेसे त्रस जीवोंका घात हो वे पदार्थ सदाके लिए त्याग करना चाहिए। जिन्होंने जिनेन्द्र भगवानके चरणोंका शरण लिया है, आत्माकी उन्नतिकी अभिलाषा है ऐसे पुरुषोंको त्रसहिंसाके त्यागके वास्ते मद्य, मांस, मधुका सर्वथा त्याग करना चाहिए। मद्यमें हिंसा है और बेहोशी भी है। जो मद्यपायी हैं उनका चित्त ठिकाने नहीं रहता। इन तीन श्लोकोंमें ४ बातें तो स्पष्ट कही गई हैं। त्रसघात, बहुघात, अनिष्ट और अनुपसेव्य। किन्तु अभक्ष्य होते हैं ५ प्रकारके, एक प्रमादकारक और है, सो जहां मद्यका वर्णन किया उस उपलक्षणसे प्रमादकारक अनेक चीजोंका ग्रहण कर लेना चाहिए। कोई अधिक बेहोशी लानेवाला पदार्थ है, कोई थोड़ा है, जैसे मद्यसे थोड़ा कम बेहोशी लाने वाले पदार्थ होंगे। भंग, गांजा, चरस, अफीम वगैरह। उनसे कम तम्बाकू होगी, उससे कम चाय वगैरहमें होगी। अब इनमें कितना कम और कितना अधिक नशा है इसका हमें सही पता नहीं आप लोग खुद समझते होंगे।

त्रसघात अभक्ष्य—मांस—इसके विषयमें सबको भली प्रकार श्रद्धा है कि यह अभक्ष्य, देखनेमें भी बुरा लगता है, छूनेमें भी डर लगता है, निरन्तर उसमें जीव पैदा होते रहते हैं। कच्चा हो मांस तो, पक्का हो तो ऐसी त्रसयात वाली चीज तो जीवनपर्यन्त त्याग ही देना चाहिए। उसमें परिमाण नहीं होता। तीसरा है मधु। मधु भी अभक्ष्य है, उसमें भी निरन्तर जीव पैदा होते रहते हैं। कोई कहे कि हम बक्समें मधु तैयार करेंगे, मक्षी पाल लेंगे, तो कुछ भी करें पर मधु स्वयं त्रस जीवोंके घातका स्थान है। आखिर कय, (उगाल) ही तो है। जैसे किसी मनुष्यको कय हो जाय तो उसमें जीवजन्तुओंकी उत्पत्ति हो जाती ऐसे ही यह मधु मक्खियोंकी कय है। इसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते, और इसके अतिरिक्त मधु छत्ताको निचोड़नेमें मधुमक्खीके बच्चे ही कितने मर जाते हैं। यह भी सर्वथा त्यागने योग्य है, ये तो कहलाये त्रस घात। ये सबसे कठिन अभक्ष्य हैं, इनका प्रयोग करने वाले तो जैन नहीं कहला सकते।

बहुघात अभक्ष्य—दूसरा अभक्ष्य है बहुघात यानि जिन फलोंमें अनन्त निगोद जीव बस रहे हैं,

एक फलके खानेसे अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंका घात होवे, वह बहुघात अभक्ष्य कहलाता। जैसे कंदमूल, अदरक, शृंगबेल, मक्खन, फूल, केतकी, केवड़ा आदिक, ये सब बहुघातमें शामिल हैं। इनके सेवनका फल तो थोड़ा है, जरा देरका स्वाद ले लिया कुछ मौज माना, पर क्या है—घाटी नीचे माटी। कौर पेटमें चला जानेके बाद फिर उसका स्वाद रखा है क्या? तो जितनी देर जीभपर वस्तु है उतनी देरको स्वाद आया, इतना तो फल है जैसा कि लौकिकजन मानते हैं। और विघात कितना है? बालका जो अग्रभाग है याने सूईकी नोक बराबर जगहमें अनन्त निगोद जीव बसे हैं उन फलोंमें बहुघात वाले फल हैं। तो घात कितना एकेन्द्रियका हुआ? यद्यपि वहां मांसका दोष तो नहीं आया, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंमें मांस नहीं होता। पर अनन्त एकेन्द्रियका तो घात हुआ। तो जीवोंकी उत्पत्ति योनि स्थान आदिका ज्ञान रखने वाला श्रावक है। वह ऐसी वस्तुओंका भक्षण न करेगा जिसमें बहुतसे एकेन्द्रियका भी घात हो।

अनिष्ट अभक्ष्य—चौथा अभक्ष्य है अनिष्ट। जो पदार्थ है तो भक्ष्य, बल्कि अठपहरे घी का बनाया हो, मर्यादाका हो, ऐसे कोई भी पकवान या मावाके पेड़े आदिक हैं तो शुद्ध मगर किसीको तेज बुखार हो तो वे-उसके लिए अभक्ष्य हैं, याने उन्हें न खाना चाहिए। उस कालमें ऐसे पदार्थ भी अभक्ष्य कहलाते हैं, और क्यों अभक्ष्य हैं कोई पूछे तो उसका उत्तर है कि रोग बढ़ेगा। तो बढ़ेगा रोग पर उससे पदार्थ अभक्ष्य कैसे हो गया? तो पदार्थ अभक्ष्य यों हो गया कि ऐसा रोग बढ़ेमें इस तरहकी चीज न खाना चाहिए। वैद्य लोग मना करते हैं और फिर भी यह खाता है तो आसक्ति अधिक कहलायी, इतनी बात तो माननी ही पड़ेगी। और जहां आसक्ति अधिक है, राग अधिक है वहां पापका बंध है इस कारण अनिष्ट वस्तु भक्ष्य नहीं होती। कितने ही लोग जैसे बुखारमें पड़े हैं और लोग मना करते हैं कि भाई उड़दकी दालके बड़े या मंगौड़ी पकौड़ी न खाना चाहिए और रोगीकी खाट जहां बिछी है मानलो वहां हो पासमें ही रसोईघर और वहां वे सब चीजें धरी हों तो वह रोगी सबसे आंख बचाकर चोरीसे उठाकर खाता है, क्योंकि वह अनिष्ट चीज है। उसे सबके सामने खानेमें कुछ चिन्त नहीं चाहता कि लोग क्या कहेंगे। यह बड़ा हठी है, ऐसी अनिष्ट चीज खाता है, तो चोरीसे खा लेता है। तो इन सब बातोंसे आप जानें कि भले ही वे भक्ष्य पदार्थ हैं शुद्ध ही मगर जिसको वे अनिष्ट हैं उसके लिए अभक्ष्य है।

अनुपसेव्य अभक्ष्य—५वां अभक्ष्य है अनुपसेव्य। जो चीज भले ही ठीक हो, हिंसा भी न हो मगर भले पुरुषके द्वारा सेवन करने योग्य न हो तो उसे खाये तो वह अनुपसेव्यका भक्षण कहलाया। जैसे मूत्र, लार। जैसे मुखसे लार निकली और जरा सी नीचे आयी और उसीको पोंछकर चाट ली। चाटता नहीं है कोई, कोई कहे कि लारमें क्या दोष है? न त्रस जीवोंकी हिंसा है न बहुतसे एकेन्द्रियकी हिंसा है। भले ही देर तक तत्काल गिरी उसमें क्या दोष है? अरे भाई अनुपसेव्य है। यों तो गधीका दूध भी है, उसके पी लेनेमें क्या दोष है? इसमें कौनसा दोष लग गया? त्रस जीवोंका घात हुआ कि एकेन्द्रियका घात हुआ? मगर अनुपसेव्य है। हाथीके दांतसे छुई हुई चीज। शंखसे, बालसे छुई हुई चीज भोजनके लिए छूने योग्य नहीं है, ऐसे ही मूत्र, मल, कफ उच्छिष्ट भोजन ये सेवने योग्य नहीं हैं। अब जूठा भोजन किसे कहेंगे? जो दूसरा न खा सके। एक थालीमें अब तो सब लोग खाने लगे और उसीमें हर एक चीज उठा उठाकर खाते हैं कई कई लोग, फिर भी वहां इतना विवेक करना चाहिए कि

जो चीज ऐसी है कि जिसको खाया जाय और मुखमें अंगुली पहुंचे और उसका कुछ हिस्सा उठानेसे भोजनमें लग जाय वह तो नियमसे अन्यके खाने योग्य नहीं है। भले ही कुछ चीजें साफ सुथरी अलग-अलग धरी हैं उनमेंसे उठाकर खा लिया, थाल एक है तो नहीं है उच्छिष्ट मगर जिसमें मुखसे, लारसे, किसी चीजका जरा भी सम्बंध हो जाय वह चीज न खाना चाहिए, और चम्मचसे खानेकी पद्धति जो आजकल चली वह तो बिल्कुल ठीक नहीं। चम्मचसे खानेमें एक तो चम्मच मुखके अन्दर गया, उसका सम्बंध लारसे हुआ, व चम्मचमें भी कुछ अंश जूठका चिपका रहा, सों खिचड़ी या चावल दाल जो भी खा रहे उसके अन्दर वह चम्मच गई तो वह तो बिल्कुल अशुद्ध हो गया, फिर भी लोग एक थालीमें बैठकर चम्मचोंसे खाते रहते, पता नहीं उन्हें खाते हुएमें ग्लानि क्यों नहीं आती। अच्छा आप अगर कहें कि अंगुलीमें भी ऐसा ही होता है तो अंगुलियोंसे जो उच्छिष्ट होता है वह एक अपना अंग है हाथ का अवयव है। और अशक्य है हाथका अलग करना। यह भी तो विचारा जाता है कि शक्यानुष्ठान और अशक्यानुष्ठान। वे तो विरुद्ध चीजे हैं। उसे तो बचाया जा सकता है, पर यह हाथका अंग है, इसे नहीं बचाया जा सकता फिर भी जैसा जो करता हो ठीक है पर है वह उच्छिष्ट। और ऐसा उच्छिष्ट स्वयंका स्वयंके लिए तो वर्जनीय नहीं हो पाता है, मगर दूसरोंके लिए वह त्याज्य है यह बात मुख्य लेना है।

किसीके छूनेसे भी अनुपसेव्य हो जाता है आपके टिफिन बाक्ससे या भोजनसे कोई अस्पृश्यका, चाण्डालका हाथ लग गया, अब आप यह बतलावो कि उसमें त्रसघात हो गया क्या, या एकेन्द्रियका घात हो गया क्या? यहां घातकी बात नहीं है। पर वह अनुपसेव्य हो गया। भले पुरुषके सेवने योग्य नहीं रहा। इसी अनुपसेव्यके आधारपर यह छुवाछूत बढ़ी, उस भोजनमें। अब आप देखिये—यदि महिलाका कोई धोतीका छोर किवाड़से लग गया तो झट भोजन त्याग देते, ऐसे भी कोई तेज व्रती पड़ें हैं। भला बताओ उसमें अभक्ष्यकी कौनसी बात आयी? अभक्ष्य तो ५ तरहके हैं, उन्हें ५ में की बात बोलना चाहिए तब तो कहा जा सकता कि हां भक्षण करने योग्य वह भोजन नहीं, मगर वह अनुपसेव्य कैसे? तो ऐसा अनुपसेव्य माना जाता कि कोई ऐसा आदमी छू ले या किसी बाहरी वस्तुका संयोग हो जाय तो वह अनुपसेव्य होता है। कोई बहुत बढ़-बढ़कर अनुपसेव्यकी संज्ञा दे देना यह बात न निभेगी। जो उचित है वह निभना चाहिए, एक होता है अनुपसेव्य। जैसे कुत्ता बिल्ली आदिकसे छू गया या किसी मांसभक्षीने बनाया, शराब पीने वालेने बनाया, ऐसा भोजन यह लोकनिन्द्य है और यह अनुपसेव्य कहलाता है। तो ये ५ प्रकारके अभक्ष्य हैं जिनका सेवन न करना चाहिए और इसके पालनके लिए कुछ और भी विवेक करना होगा।

अभक्ष्यसे बचनेके लिए कुछ विवेकपूर्ण कार्य—अन्न आदिक घरमें थोड़े रखना। बहुत अगर रखा कि भाई साल भरको इकट्ठे रख लिए जायें और उसकी सावधानी न रख सके, उसमें घुन लग जाय तो फिर उसे आप क्या करेंगे? दूसरोंको दे देंगे या कहीं फेंक देंगे। सो थोड़ेसे ले आये, जब निपट गए तो दुबारा ले आये, माह दो माहका रख लिया, फिर ले आये। इस प्रकारसे तो उसका चल जायगा, और अगर विवेकपूर्वक कोई सालभर भी रखे तो उसमें नीचकी पत्तियां डालकर या कोई पाउडर

डालकर या पारा मिली मिट्टी डालकर इस तरहसे भी कोई सालभर गेहूं रख सकता, फिर भी कमसे कम रखे तो वह अभक्ष्य त्यागका पालन कर सकता है। भोजनकी जो मर्यादा बतायी गई है उस मर्यादामें उसे खा लेना चाहिए, उससे बाहर न खाना चाहिए। जैसे रोटी दाल, साग खिचड़ी वगैरहकी जो म्याद बतायी गई उससे बाहर न खाना चाहिए। बासी खाना खानेका निषेध है। बासी खानेमें स्वादका भी अन्तर पड़ जाता है। अभक्ष्यकी निशानी यह है कि जो असली स्वाद होना चाहिए वह बिगड़ जाता है। ऐसा रस चलित पदार्थ न खाना चाहिए। जैसे सबकी म्याद बतायी गई है, रोटी, पूड़ी, परामठा इनकी म्याद एक दिनकी है। कड़ाहीमें पकी हुई चीज जैसे बूंदी वगैरह जिनमें पानी तो नहीं रहता मगर पानी पड़ा था बनते समय वह चीज तो दूसरे दिन भी खायी जा सकती है और जिसमें पानी बनाते समय भी नहीं डाला जाता बेसनके लड्डू वगैरह वे उतने दिन खाये जा सकते जितनी कि बेसनकी म्याद है ऐसी अनेक म्याद हैं जिन्हें आप सब लोग करीब-करीब जानते ही हैं। म्यादके अन्दर भोजन करना, उससे बाहर न लेना। अगर उससे बाहर लेवे तो कई चीजें तो अनुपसेव्य हो जाती हैं और कई चीजोंमें तो त्रसघातका भी दोष होता है, ऐसे ही भोगोपभोगका परिमाण करना ये सब भोगोपभोग परिमाण व्रत हैं।

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।

नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥

भोगोपभोगपरिमाणकी कालापेक्षया दो पद्धतियां—इस छंदमें भोगोपभोग परिमाण व्रतका दो पद्धतियोंमें पालन बताया गया है। (१) नियमरूप पद्धति, (२) यमरूप पद्धति। और जीवन पर्यन्त भोगोपभोगका परिमाण करना यह यमरूप पद्धति है। भोग वह कहलाता है जो एक बार भोगनेमें आये, जैसे आहार आदिक और उपभोग कहलाता है वह जो बारबार भोगनेमें आये, जैसे वस्त्र आभूषण आदिक। उनका परिमाण सदगृहस्थ दो प्रकार से करते हैं। जैसे किसी चीजकी म्याद लेकर उसका त्याग कर दिया कि मैंने इतने घंटेके लिए या इतने दिनोंके लिए अमुक चीजका त्याग कर दिया यह तो है नियमरूप पद्धति और किसी चीजका यावज्जीव त्याग करना यह है यमरूप पद्धति। यहां और भी विशेषता जानें कि व्रती श्रावकजनोंको तो यमरूप त्याग करना ही होगा, चाहे वे परिमाण अधिक रखलें पर उसके भीतर कुछ कालके लिए भोगोपभोगका परिमाण घटा लेना, जैसे कि दिग्व्रतमें जन्म पर्यन्तके लिए मर्यादा थी। पर उस मर्यादाके भीतर कुछ समयकी मर्यादा लेकर थोड़ा क्षेत्र और कम कर लिया कि मैं इतनेसे अधिक जगहमें व्यवहार न करूंगा, और उनके दिग्व्रतको अलग नहीं कहा समन्तभद्राचार्यने। गुणव्रतके तीन भेद किए (१) गुणव्रत (२) अनर्थदण्डव्रत और (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत। तो जैसे दिग्व्रतमें यावज्जीव मर्यादा है गमनागमनकी उसके भीतर कालकी अवधिसे और भी कम म्याद रखी है, ऐसे भोगोपभोग परिमाणमें मर्यादाकी हुई है। जैसे ४० हरी रखूंगा, ४ धोती रखूंगा, इतने बाह्य रखूंगा आदि यों सभी चीजोंकी मर्यादाकी, पर उसके भीतर सोच लिया कि दस दिन दस लक्षण पर्वमें मैं इतने कपड़ोंसे अधिक न रखूंगा, पर उससे भी कम मर्यादा कर लेना ये दो भोगोपभोग

परिमाण व्रत होते हैं। भोगोपभोग परिमाण करनेसे इन्द्रियां चरा हुई इच्छाये घट गई, कर्माका आश्रव मंद हो गया, व्यवहार शुद्ध होता, इससे वर्तमानमें भी उज्ज्वलता रही और भविष्य कालके लिए भी उसका उज्ज्वल मार्ग रहा। सो विरुद्ध भोग तो कभी करना ही नहीं पर जो योग्य भोग है, उपभोग है उसमें भी नियम करना। ऐसे एक परिणामोंकी विशुद्धि और रागभावके घटनेके कारण इस व्रतमें कर्मोंकी निर्जरा होती है।

भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्ग-रागकुसुमेषु ।

ताम्बूलवसनभूषण-मन्मथसङ्गीत-गीतेषु ॥ ८८ ॥

भोगोपभोग परिमाण नामक व्रतमें रोज ही नियम किया जाता है—यम रूप तो है ही पर नियम भी किया जाता है तो वे किन विषयोंके नियम होते हैं उनको उदाहरण रूपमें बतलाते हैं। (१) भोजन आज इतनी बार करूंगा, इतने अन्न, इतने रस लूंगा। इतनी चीजें खाऊंगा, इस प्रकार भोजनकी सीमामें नियम होता है। (२) वाहन मैं आज इतनी सवारियोंका उपयोग करूंगा। हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैलगाड़ी, नाव, जहाज आदिक जिनमें बैठकर गमन हो वे सब वाहन हैं कोई पालकीमें चले वह भी एक वाहन है। इन वाहनोंका नियम करना कि आज मैं इतने वाहनोंका उपयोग करूंगा और उससे अधिकका उपयोग न करूंगा। यों कालकी मर्यादा लेकर ऐसा वाहनका नियम किया जाता है। (३) तीसरा है शयन नियम। पलंग, खाट आदि शैयाका नियम करना। आज मैं पलंगपर शयन करूंगा, या तखत पर शयन करूंगा या भूमिपर शयन करूंगा, ऐसे नियमको शयनका नियम कहते हैं। (४) स्नान—आज मैं एक बार स्नान करूंगा या स्नान न करूंगा, जिस दिन उपवास किया उस दिन स्नान नहीं किया जाता, या अन्य किसी स्थितिमें स्नानके बारका नियम रखना यह स्नानका नियम है। (५) पांचवा है पवित्राङ्गराग याने अंगमें चंदन, कपूर आदिकका लेप करना मैं एकबार लेप करूंगा, इससे आगे न करूंगा आदि प्रकारसे नियम लेना पवित्राङ्गराग नियम है। (६) एक है कुसुमका नियम—माला पहिनना या अन्य आभरण आदिक धारण करना यह कुसुम सम्बन्धित नियम हैं। (७) एक नियम है ताम्बूल—इसमें पान खानेका नियम लिया जाता है कि आज मैं इतनी बार पान खाऊंगा। यहां यह बात जानना कि व्रती श्रावक पानका नियमले ले तो इसके मायने हैं कि पान स्वरूपसे अभक्ष्य नहीं है। अरे पान तो स्वरूपसे ही अभक्ष्य है। इसके अतिरिक्त इलायची लौंग आदिक जो खानेकी चीजें नहीं हैं, केवल एक मुख सुधारनेकी, स्वाद लेनेकी हैं उन सबका इसमें नियम होता है। (८) एक होता है वसन अर्थात् वस्त्रका नियम, मैं इससे अधिक वस्त्र न पहनूंगा, ऐसा दिनका नियम लेकर करता है। (९) एक होता है आभूषणका नियम—मैं आज इतनेसे अधिक आभूषण न पहनूंगा, इस प्रकारके नियम कर लेना आभूषण नियम है। (१०) एक होता है मन्मथ नियम—याने आज मैं काम सेवन नहीं करूंगा इस प्रकार का नियम लेना मन्मथ नियम है। (११) एक होता है संगीत नियम—आज मैं न हो संगीत सुनाऊंगा और न खुद सुनूंगा या एक बार सुनूंगा आदि प्रकारसे नियम लेना संगीत नियम है। (१२) एक

होता है गीतनियम—आज मैं इतनी देर गीत सुनूँगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकारका नियम लेना गीत नियम है।

अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।

इति कालपरिच्छत्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ८९ ॥

नियमरूप प्रत्याख्यानका लक्षण—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि नियमकी पद्धतिसे और यमकी पद्धतिसे भोगोपभोगका परिमाण होता है। तो नियमका अर्थ क्या है वह इस छंदमें आचार्यने बताया है। आज दिन रात पक्ष माह दो माह, ऋतु अयन (छहमाह) आदिककाल परिमाण करके वस्तुका त्याग करना सो नियम कहलाता है। सल्लेखना मरण भी दो पद्धतियोंसे किया जाता—(१) नियम वाला, और (२) यम वाला। यममें तो यावज्जीव त्याग होता। जिसका भी त्याग किया और नियममें कोई सीमा लेकर त्याग किया जाता। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता कि तबियत बहुत अधिक बिगड़ी सी मालूम होती है और जान लेता है कि अब तो मेरा मरण समय है तो वह हमेशाके लिए अन्न जल औषधि वगैरह सबका त्याग कर देता है। और त्याग कर देनेसे अगर तबियत ठीक भी हो जाती तो भी समाधिमरण करनेपर संक्लेश बनेगा ऐसी स्थिति आ सकती। इसलिए सल्लेखना बतायी गई है कि वह नियम रखकर समाधि मरण करे अगर वह कुछ सीमा रखकर त्याग करता है तो उसे सल्लेखना नहीं है। ऐसे ही भोगोपभोग परिमाणमें नियमसे त्याग किया है कि मैं अमुक पदार्थका त्याग करता हूँ। तो उसे कहते हैं नियम भोगोपभोग परिमाणव्रत। अब भोगोपभोग परिमाणव्रतके ५ अतिचार कहते हैं।

विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवो ।

भोगोपभोगपरिमाण-व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ९० ॥

निरतिचार व्रतोंके पालनका ध्येय स्वानुभवकी पात्रता बनाये रहना—जो पुरुष सहज परमात्म स्वरूपका अनुभव कर चुका और जिसकी धुन बन गई कि मुझको ऐसा सबका अनुभव जगता रहे, स्वानुभवकी धुनमें ही रहता है, पर शारीरिक शक्ति या परिस्थिति इतनी सुल्झी हुई नहीं है कि वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर केवल स्वानुभवके कार्यमें लगा रहे। उसे अनेक काम हैं, सहन नहीं हो सकती हैं भूख प्यास या अन्य वेदनायें तो वह घरमें रहता है। अब घरमें रहता हुआ वह ज्ञानी पुरुष इस विधिसे रहे कि वह स्वानुभव करनेका पात्र बना रहे तो उसके लिए बारह व्रत वाला वर्णन है कि इस विधिसे चर्या करे तो उसका मन वशमें रहेगा और उसे बहुत मौके मिलेंगे कि वह सहज परमात्मस्वरूपका अनुभव कर सकेगा। तो उस ही धारामें भोगोपभोग परिमाण व्रतका पालन करने वाला श्रावक कैसे दोषोंको न करे, इसका वर्णन इस छंदमें किया जा रहा है।

भोगोपभोग परिमाणव्रतके पांच अतिचार—पहला दोष है विषयविषतोऽनुप्रेक्षा विषयरूपी विषमें रागका न घटना। परिमाण भी रख रहा है पर मन चल रहा है। परिमाण रखकर भी इच्छा चल

रही है, उस विषय विषसे विमुक्त नहीं हो पाया है ऐसी अगर अन्तः स्थिति चलती है तो चूँकि उसने परिमाणका उल्लंघन तो नहीं किया, अधिक कुछ अपराध तो नहीं, जिसका परिमाणसे बाहर नाम है मगर कुछ मन चला तो यहां हुआ भोगोपभोग परिमाणका प्रथम अतिचार। यद्यपि समझनेमें यह भी आयगा कि जब मन चलता तब सब बिगड़ गया। व्रतके प्रति कुछ तो लगाव हो किसी ढंगसे, चाहे उसमें कितना ही भंग चल रहा हो मगर कुछ न कुछ उपयोग लगावमें रहेगा तो उसे अतिचार कहते हैं। जब व्रत सम्बंधी इच्छा न रही, एकदम स्वच्छंद हो गए तो वह अनाचार कहलाता है। दूसरा है अनुस्मृति पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंकी चाह करना अनुस्मृति नामका दोष है। जैसे कोई अपनी महिमा बतानेके लिए पहली बातोंको बहुत बताता है कि मैं ऐसे मौजमें रहता था, मैं दूध घी आदिक बहुत-बहुत लेता था, आदिक बहुत बातें बताना यह भी एक अतिचार है फिर उसके बारेमें स्मरण करना यह और भी बड़ा अतिचार है। भोगोपभोग परिमाणव्रतका तीसरा अतिचार है। अतिलौल्य—परिमाण तो कर लिया और जैसे मानो ५ हरी रखा तो छठी हरी तो नहीं खा रहा और उसी नामकी हरी ले रहा तो वह अतिलौल्य अतिचार है। क्योंकि भोगोपभोग परिमाणका उद्देश्य था कि आसक्ति न रहे। मगर वह आसक्ति कर रहा, पर परिमाणसे बाहर नहीं ले रहा, इतना उसमें लगाव है इसलिए वह अतिचारमें गिना गया है। चौथा अतिचार है अतितृषा—अनुपसेव्यमें यह था कि जिस समय भोग रहा है उस समय उसमें आसक्ति चलती रहती है, पर अतितृषामें आगामीकालमें मैं भोगूं, उसके प्रति भी तृष्णा लगी रहना यह अतितृषा नामका अतिचार है। पांचवा अतिचार है अनुभव। विषयोंको नहीं भोग रहा तिस कालमें भी वह ऐसा अभिप्राय बना रहा, संकल्प बना रहा कि मानो वह भोग ही रहा हो।

निरतिचार भोगोपभोग परिमाण व्रतके पालनहारके जीवनकी समीचीनता—देखिये किस-किस तरहके कर्मविपाक होते हैं? ज्ञानदृष्टिके बलसे अनुभवादिका अतिचार भी न लगे याने भोगे हुए भोगोंका ख्याल न बने ऐसा जीवनमें नियम संयमका रहता है तो बहुतसे दोष अपने आप दूर हो जाते हैं। जो मनकृत दोष है उनको दूर करनेका उपाय आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग करना है। यद्यपि जो भी विकार जगते हैं उनका निमित्त कारण कर्मका ही उदय है। पर जो बुद्धिपूर्वक विकार बनते हैं, जिसे अनुभवता है। अपनी बुद्धिमें समझता है ऐसा विकार आश्रयभूत परपदार्थका कारण लिए बिना नहीं बनता, तो चरणानुयोगकी पद्धति इसी पर आधारित है कि वह आश्रयभूत कारणका त्याग करे ताकि उसका विकार हटनेका वह अवसर मिले। यह उसमें भावना रहती है। तो पहली प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक और मुनिव्रतमें जो भी व्रतका आचरण है। बाह्य पदार्थोंका परित्याग है उसका यह ही उद्देश्य है जैसे कि लोग कहते हैं कि न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, ऐसे ही न रहेगा परिग्रह और न मनमें कोई कल्पना आयगी। तो ऐसे भोगका उपभोग का और ऐसे अन्य पदार्थोंका परिमाण कर लेना यह भोगोपभोग परिमाण है। यहां तक तीन गुणव्रतका वर्णन किया और ८ व्रतके वर्णन सम्पूर्ण हुए। अब शिक्षाव्रतके ४ व्रत आयेंगे। शिक्षाव्रतका मतलब है कि ऐसी क्रिया चेष्टा विचार जिससे मुनिव्रत पालन करनेकी शिक्षा मिले उन नियमोंको कहते हैं शिक्षाव्रत। वे शिक्षाव्रत चार हैं जिनके नाम अगले छंदमें कह रहे हैं।

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा । वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ ९१ ॥

चार शिक्षाव्रतोंका निर्देश—शिक्षाव्रत चार कहे गए हैं। (१) देशावकाशिक, (२) सामायिक, (३) प्रोषधोपवास और (४) वैय्यावृत्य। अन्य ग्रन्थोंमें और प्रकारसे नाम दिए हैं। यहां और तरह नाम दिए हैं। पर उससे फर्क कुछ नहीं आता। देशावकाशिक व्रतके दोषकी बात कही गई है। कालकी अवधि लेकर क्षेत्रमें और कम कर लेना जिससे बाहरी गमनागमन न हो। सामायिक है—तीन काल सामायिक करना। प्रोषधोपवास—प्रोषधोपवास है प्रोषध पूर्वक उपवास करना और वैय्या वृत्यमें अतिथि सम्बिभाग व्रत आया और अन्य प्रकारसे भी वैय्यावृत्य आती है इन सबसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है। जितना अधिक कम क्षेत्र करें व्यवहारका उससे बाहरका विकल्प न रहा तो उस विधिसे मुनिव्रत आगे भली प्रकार पले उसका अभ्यास बनता है। तीन काल सामायिक करता, मायने राग द्वेषको दूर करता और यह ही करता है रातदिन मुनि, तो जो रातदिन मुनिकी आन्तरिक चर्या है उसका अभ्यास सामायिकसे बनता है। प्रोषधोपवासमें सप्तमी, अष्टमी नवमी इसीप्रकार त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमाको जल भी न लेना यह खास नियम है। चाहे शक्ति न हो तो तो अष्टमी चतुर्दशीको कुछ आहार ले लिया, वह जघन्य प्रोषधोपवास बन गया, पर तीन दिन शामको जल तक न लेना, और मुनिजन तो शामको जल लेते नहीं, तो उसका अभ्यास तो नहीं बनता। अतिथि सम्बिभाग करता है तो जो मुनिको आहारदान कराता उसको भले प्रकार दिख जाता कि इस तरह आहार लेना चाहिए मुनि अवस्थामें। तो इन चारोंसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती इस कारण इसे शिक्षाव्रत कहा गया।

देशावकाशिकं स्यात् कालापरिच्छेदनेन देशस्य । प्रत्यहमणुव्रतानां, प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ ९२ ॥

देशावकाशिक नामके शिक्षाव्रतका स्वरूप—शिक्षाव्रतके चार भेदोंमें यह पहला भेद देशावकाशिक नामका है जिसका दूसरा नाम है देशव्रत। अणुव्रतके धारी पुरुष अणुव्रतके बढ़ानेके लिए उनका निर्दोष पालन बने इसके लिए शिक्षाव्रत ग्रहण करते हैं। जिन वृत्तियोंसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिले वे वृत्तियां उच्च ही तो हैं, जिनके कारण अणुव्रतका सही पद्धतिसे पालन और परिवर्द्धन होता है। देशव्रत कहते हैं दिग्व्रतमें ली हुई मर्यादाके भीतर और क्षेत्र घटाकर कालकी मर्यादासे परिमाण कर लेना, उसके बाहर न आना-जाना, इसे कहते हैं देशव्रत। पहले तो दिग्व्रतमें यावज्जीव मर्यादा की थी। अब उसमें भी बहुत कम मर्यादा करना याने क्षेत्र घटा लेना यह तो और विशेषताकी ही बात है। सो रोजकी मर्यादा या दिन माह आदिक कालकी मर्यादाका परिमाण कर लेना कि हमारा आज दसमी तक इस क्षेत्रका परिमाण है या आजकल इसी मोहल्लेका परिमाण है, या इन दो घंटोंमें हमारा मंदिर जी का ही परिमाण है। ऐसा परिमाण रखकर उसके बाहर न आना जाना, व्यवहार न करना सो देशव्रत कहलाता है।

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।

देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीमां तपोवृद्धाः ॥ ९३ ॥

देशावकाशिक व्रतमें क्षेत्रकी मर्यादा रखनेकी पद्धति—अब देशव्रतमें क्षेत्रकी मर्यादा किस ढंगसे की जाती है इसका वर्णन इस छंदमें किया गया है । तपमें बढ़े हुए जोगणधर देव हैं वे बतलाते हैं कि देशावकाशिक व्रतमें इस तरहकी मर्यादा की जाती है गृहकी मर्यादा करना—आजके दिन मैं घरसे बाहर न जाऊंगा । कोई मोहल्लेकी मर्यादा करली, ग्रामकी मर्यादा करली, क्षेत्रकी मर्यादा कर ली कि मैं इतने क्षेत्रसे बाहर न जाऊंगा इतने समय तक अथवा नदी बनका नाम लेकर मर्यादा करना यह देशावकाशिक व्रतमें मर्यादाकी पद्धति है । इस मर्यादाका उल्लंघन करनेका अर्थ इतना भर है । ऐसा संकल्प करके करना गृहकी मर्यादा है । देखिये देशव्रतमें, क्षेत्रकी मर्यादा तो करली कि इतनेसे बाहर मेरा सम्बंध न होगा, पर उसको निर्दोष निभाना । उससे बाहर किसीको भेजना भी नहीं, बाहरसे बुलाना भी नहीं, कोई चीज बाहरसे मंगाना भी नहीं । एक बहुत नियंत्रणका काम है और इसीलिए यह शिक्षाव्रतमें लिया गया है ।

सम्बत्सरमृतुरयनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।

देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥ ९४ ॥

देशावकाशिक शिक्षाव्रतमें कालकी मर्यादा रखनेकी पद्धति—ऊपरके छन्दमें तो क्षेत्रकी मर्यादा बताया था कि क्षेत्रमें रहने वाले नदी आदिकका नाम लेकर मर्यादा करना अथवा कोश योजनका परिमाण रखकर मर्यादा बनाना यों क्षेत्रकी मर्यादा कहा था, अब इस क्षेत्रमें कालकी मर्यादा कह रहे हैं । जो अभीष्ट पुरुष हैं, प्राग हैं, ज्ञानी संत हैं वे कालकी मर्यादा इस प्रकार बतलाते हैं देशव्रतमें । एक वर्षकी मर्यादा ले लिया, मैं एक वर्ष तक इतनेसे बाहर सम्बंध न रखूंगा अथवा ६ महीनेकी, चार महीनेकी एक पक्षकी अथवा एक नक्षत्रकी इस प्रकारकी मर्यादा लेकर मर्यादा बनाना कालकी मर्यादा है, आजकल जैसे दिनोंमें बात चलती है कि आज इतवार है, सोमवार, मंगलवार है ऐसे ही पहले नक्षत्रकी बात बहुत बोली जाती थी, मैं अमुक नक्षत्रसे अमुक नक्षत्र तक इस क्षेत्रसे बाहर न जाऊंगा । इस प्रकार कालकी अवधि लेकर क्षेत्रका परिमाण करना यह देशावकाशिक देशव्रतमें कालकी मर्यादा बतायी गई है । देखिये—जिसको आत्मस्वभावका परिचय है और आत्मस्वभावमें मग्न होनेकी धुन है, दूसरा कुछ चित्तमें है ही नहीं उनके ये सब व्रत, शील आदि बन जाना सुगम है । और जिन्हें आत्मस्वभावका परिचय नहीं है वे बनावट करके जबरदस्ती त्याग करें तो उनकी बात कैसे निभेगी ? बाहरसे द्रव्यत्यागकी बात चाहे निभ भी जाय किन्तु मनसे नहीं निभ सकती । तो इन सब व्रतोंका पालन करनेका अधिकारी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हुआ करता है ।

देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ।

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसन्त्यागात् ॥ ९५ ॥

देशावकाशिक व्रतसे सीमाके बाह्यक्षेत्रमें महाव्रतकल्पता—इस देशावकाशिक व्रतके समय क्षेत्रकी जो मर्यादा रखी है और उस क्षेत्रसे बाहर आने-जाने व्यवहार आदिकका परित्याग किया है सो इस व्रतके प्रसादसे उस क्षेत्रके बाहर उन सूक्ष्म स्थूल पापोंका पूर्णतया त्याग हो गया है। जैसे मानो मुनिके पापका स्थूल और सूक्ष्म रीतिसे सर्व त्याग रहता है तो ऐसे ही उस मर्यादाके बाहरमें तो पूर्णतया त्याग है और इसही कारण इस देशावकाशिक व्रतके द्वारा महाव्रत सिद्ध होता है और इसी कारण यह शिक्षाव्रत कहा गया है, क्योंकि अहिंसाका पालन विशेष है। हिंसाका परिहार तो ऐसी ही वृत्तिमें उनका महाव्रत जैसा ही पालन हुआ। प्रयोजन यह है कि वह उपाय करना जिस उपायसे बाह्य पदार्थोंके विकल्प हटें और अपने आपके स्वरूपमें मग्नताका अवसर आये। धन्य है वह जीव धन्य हैं उसके क्षण कि जो सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वकी अनुभूति खूब रख रहा है। उसके लिए बस महत्त्व है धर्मका, अन्य बातोंका महत्त्व उसके चित्तमें है ही नहीं। चाहे करोड़पति हो, बड़ा राजपाट हो, चाहे दुनियामें बड़ा यश चल रहा हो मगर उस संतकी दृष्टिमें अन्य किसीका कुछ महत्त्व नहीं। महत्त्व है सिर्फ स्वानुभवका। तब आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी अनुभूति बराबर हो, वही दृष्टिमें रहे तो तत्त्वका महत्त्व है ज्ञानीकी दृष्टिमें।

प्रेषण-शब्दा-नयने, रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ ।

देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यनोऽत्ययाऽपञ्च ॥ ९६ ॥

देशावकाशिक व्रतके पञ्च अतिचारोंकी हेयता—इस छंदमें देशावकाशिक व्रतके अतिचार बताये गए हैं। जो देशव्रतकी मर्यादाकी उसके बाहर तो समग्र ५ पापोंका त्याग होनेसे वहां वह महाव्रतके समान हुआ, पर देशावकाशिक व्रत लेकर कौनसे कार्य न करना चाहिए उनका वर्णन यहां चल रहा है। निरतिचार देशावकाशिक व्रत हो तो महाव्रतके तुल्य है। (१) पहला अतिचार है प्रेषण। जितने क्षेत्रमें मर्यादाकी हो उससे बाहर किसी प्रयोजनसे अपने सेवकको मित्र पुत्र आदिकको कहना कि तुम वहां चले जाओ कोई काम करानेके लिए कहना यह है प्रेषण अतिचार। कालकी मर्यादा और कम रख ले जिसमें अतिचार न लग सके, मगर जितनी मर्यादा रखकर देशावकाशिकव्रत लिया है वहां तो निर्दोष इस व्रतका पालन होना चाहिए। (२) दूसरा अतिचार है शब्द। मर्यादासे बाहर क्षेत्रमें ठहरे हुए लोगोंसे वचनालाप करना तथा अन्य शब्दकी समस्या करके समझ लेना यह शब्द नामका अतिचार है। जा तो नहीं रहे हैं बाहर मगर शब्द बोल रहे हैं या कोई संकेत कर रहे हैं तो यह दोष है। (३) तीसरा दोष है आनयन। मर्यादासे बाहर क्षेत्रमें ही रहनेका नियम ले लिया, अब कुछ जरूरत समझा तो कह दिया—जरा पतला चदर ले आना। मोटा चदर पहिनकर पूजा करनेमें कुछ परेशानी सी चल रही थी सो किसीसे हल्की चदर मंगा लेना, मगर मंगाना म्याद रखे हुए क्षेत्रसे बाहरसे तो वह देशावकाशिक व्रतका अतिचार है। जिस कालमें मर्यादा रखी हो उसके बाहरके क्षेत्रके प्रति विकल्प ही न चलेगा। (४) चौथा अतिचार है रूपाभिव्यक्ति। जितनी मर्यादा रखली उससे बाहर तो नहीं जा रहा मगर उससे बाहरमें ठहरने वाले खड़े हुए लोगोंसे अपने रूपका प्रदर्शन करना, किसी काम करानेके वास्ते या उसका

ध्यान न जाये उस ओर तो ताली बजाकर या खकार कर उसका लक्ष्य अपनी ओर कराना और फिर संकेतसे समझाना, यह काम कर आवो, यह दोष है क्योंकि उसने क्षेत्रकी मर्यादा रख लिया था, कि इससे बाहर मेरा विकल्प न होगा। मर्यादा तो रखा था कि स्वानुभवके लिए मैं अधिक समय लगाऊंगा पर वह विकल्प करता है तो वह अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है पुद्गलक्षेप—कोई मर्यादासे बाहर खड़ा है, उसका मुख दूसरी ओरको है, अब उससे कुछ काम है बोलनेका, काम है बतानेका तो उसको थोड़ासा कंकड़ मार दिया ताकि मुँह घुमाकर देखने लगेगा कि किसने मारा, बस उसे संकेतसे बुला लेना, फिर चाहे अपने ही क्षेत्रमें जो मर्यादा किया हो उसके अन्दर बात करे तो वह भी अतिचार है। इस प्रकार देशावकाशिक व्रतके ५ अतिचार हैं। अब शिक्षाव्रतके द्वितीय भेदका स्वरूप कहते हैं।

आसमयमुक्ति मुक्तिं, पञ्चाद्यानामशेष-भावेन।

सर्वत्र च सामयिकाः, सामयिकं नामशंसन्ति ॥ ९७ ॥

सामायिकनामक द्वितीय शिक्षाव्रतका स्वरूप—सामायिक नाम है समता परिणाम रखनेका। फिर जो अपने उन दो चार-छह घड़ीके अन्दर सामायिकके लिए नियत समय है उसमें भले ही वह जाप करे, भावना बोले या स्तवन करे। करे तो वह दोषके लिए नहीं है क्योंकि प्रयोजन तो यह है कि किसी प्रकार रागद्वेषकी वृत्ति मेरेमें न जगे, मगर इसका उत्कृष्ट रूप है समता परिणाम रहना। तो जिसके समतापरिणाम है ऐसे गणधर देवने सामायिक नाम द्वारा इस व्रतकी बड़ी प्रशंसा की है। सामायिक करनेमें उसने अपने शरीर प्रमाणके क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रका विकल्प ही छोड़ दिया है, जितना सामायिकका समय है, आसन लगाकर ध्यान किया जा रहा है तो अधिकसे अधिक वहां क्षेत्र उतना होता जितना कि शरीरका विस्तार है। मानो सामायिक ही कर रहा, खड़े कर रहा, किसीने धक्का दे दिया या बेहोश होकर पड़ गया तो आखिर शरीर प्रमाण क्षेत्रसे अधिक तो नहीं घेरा और फिर ऐसा अवसर कब होता? बहुत कम उस समय तो वह अपना शरीर जितने क्षेत्रको घेरे हुए बैठा है उतने ही क्षेत्रमें हैं उसकी सबकुछ मर्यादा और निश्चयतः शरीर प्रमाण जो आत्मप्रदेश हैं उस क्षेत्रमें उसकी मर्यादा है, तो उससे बाहर क्षेत्रमें मन वचन कायसे, कृत कारित अनुमोदनासे सामायिकके काल तक समग्र पापोंका त्याग करना सामायिक है। अब सामायिकमें किस प्रकार वह ५ पापोंका त्याग करके ठहरता है। उसका वर्णन करते हैं।

मूर्धरुहमुष्टि-वासो-बन्धं, पर्यङ्क-बन्धनं चापि।

स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ ९८ ॥

जो परमागमको जानने वाला है वह (१) मूर्धरुह याने केशका बंधन रखता है। सामायिकके समय चोटी वगैरह यदि बिखरी रहे और उसका कोई बाल कानमें आये तो विक्षेप हो गया इसलिए सामायिकमें बैठनेसे पहले अपनी चोटीका बन्धन लगा लेगा। आजकल तो ऐसी फैशन चल गई कि चोटी रखानेकी कुछ जरूरत ही नहीं रही। चोटी ही बिल्कुल साफ कर दिया। शायद वे लोग इस सामायिककी इज्जत

रख रहे हैं (हंसी) अरे उनका सामायिक पर ध्यान कहां ? सामायिक करनेसे पहले अपनी पूरी तैयारी बना लेना चाहिए। चोटीमें गांठ लगाना, और (२) मुष्टिबंधन, चाहे पूरी मुट्ठी न बांधे पर सहज जो बैठे हुएमें या खड़े हुएमें रहते हैं, उसमें बिल्कुल खुले हुए हाथ नहीं रहते हैं। कुछ मुड़े हुए कुछ मुट्ठी जैसी बंधी रहती है। कसकर मुट्ठी न बांधे मगर रूपक हो जाता है मुट्ठी जैसा। तो मुष्टि बंधन यह एक प्रक्रिया है सामायिकसे पहलेकी जाने वाली। (३) वस्त्र बंधन—जिस वस्त्रको पहने या ओढ़े वह फैला छितरा हुआ न हो उसको बंधनमें कर लिया। नहीं तो उसमें विक्षेप सम्भव है। सामायिकमें चित्तको विक्षेप न हो सके इसके लिए यह तैयारी है—वस्त्रका बंधन बनाये। (४) पर्यङ्क बन्धन, पद्यासनसे या जिस आसनसे बैठे तो वहां एक बंधन रूप हुआ। पैर बंध गए या कायोत्सर्गसे खड़े हुए तो वह भी आसन है। इस तरहसे प्रक्रियामें रहकर सामायिक व्रतका पालन करें और वहां रागद्वेषादिक रहित जो शुद्ध आत्मा है उसका मनन करें।

सामायिकमें आत्माका सत्य आराम विश्राम—सामायिक मायने सच्चा आराम करना। जैसे कोई मजदूर बहुत-बहुत परिश्रम करके थक जाता है तो थकनेके बाद वह घंटा दो घंटा आराम करता है और अगर अधिक थक गया तो उसके आरामकी पद्धति क्याहोती है कि लेट गए ढीला ढाला शरीर करके, कड़ा शरीर करके लेटनेमें ठीक विश्राम नहीं होता, न थकान मिटती, वह शरीरको बिल्कुल ढीला करके लेट गया। क्या करे, बड़ा परिश्रम करके वह अत्यन्त थक गया था सो वह विश्राम कर रहा है। विश्राम करनेके भी कुछ आसन होते हैं। जैसे ८४ आसनोंमें एक आसन योगका ऐसा होता कि जिसकी वजहसे पैरोंकी सारी थकान मिट जाती है। उसमें पहले पैर पर थोड़ा जोर पड़ता है और फिर उस आसन लेनेके बाद थकानका पता नहीं पड़ता। जैसे थक कर लोग दूसरोंसे हाथ पैर दबवाते हैं उस तरहसे दबवानेकी जरूरत नहीं पड़ती उस आसनसे। तो यह ज्ञानी पुरुष विकल्प करके बहुत थक गया, दूकानमें था वहां विकल्प, रास्तेमें आ रहा वहां विकल्प, कहीं जा रहा वहां विकल्प, गोष्ठीमें बैठा वहां विकल्प। विकल्प करके आत्मा थक गया, आत्माका थकान विकल्पके कारण होता है, तो अब वह सामायिकमें बैठा मानो अपनी पूरी थकान खतम कर रहा और अपने विश्राममें आया तो यह विश्राम तब मिलेगा जब कि किसी प्रकारके विकल्प न चलें। उसकी यह प्रक्रिया है, और उसका सीधा साक्षात् उपाय शुद्ध आत्मस्वरूपका मनन है। सारी थकान खतम हो जाय, इष्ट अनिष्टकी आशंका रखकर, मेरे तेरेकी भावना रखकर, राग विरोधकी वासना रखकर ही तो भगवान आत्माको थकाया जाता है, ऐसा कोई थक गया तो वह थकान मिटे कैसे ? उसका उपाय है सामायिक। पर अनेक लोग तो सामायिकमें थकान और घबड़ाहट महसूस करते हैं, मन नहीं लगता। ध्यान इधर-उधर जाता, बार-बार घड़ी देखते अब कितने बज गए। और थकान मिटनेकी बात तो दूर जाने दो, सामायिकमें विकल्प और थकान बढ़ा लेते हैं, लोग कहते भी तो हैं कि जब हम सामायिकमें बैठते तो न जाने कितने कितने विकल्प मनमें उठा करते हैं, तो वहां सामायिक उन्होंने किया कहां, अपनी थकान मिटानेका उद्देश्य बनाया ही कहां ? जिसका उद्देश्य थकान मिटानेका बना उसकी वृत्ति लगी शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानमें। कभी कार्य परमात्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करें तो फिर कारण परमात्मस्वरूपकी शुद्धताका ध्यान करें।

कारण समयसारकी शुद्धस्वरूपताका दिग्दर्शन—कैसी शुद्धता है इस कारण समयसारकी, यों मानो कि जब मैं हूँ, मेरी सत्ता है तो अपने आप ही सत्ता है या किसी दूसरेकी दयापर उसकी सत्ता है? किसी दूसरेकी दयापर किसी अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं हुआ करती। जो सत् है वह स्वयं है, स्वतः सिद्ध है, अपने आप सत् है। तो जो मैं आप सत् हूँ सो स्वयं अपने आपके सत्त्वसे क्या मेरा स्वरूप है उसको निरखें तो कारण समयसारके स्वरूपका अनुभव बनता है। जो परपदार्थके सम्बंधसे बात बने परके सम्बंधसे जो बात घटित हो उसे न निरखना। किन्तु मात्र अपने सत्त्वसे जो अपने आपमें सहजस्वरूप है उसके दर्शन करना है। देखिये—इस अलौकिक अपने अन्दरकी दुनियासे बाहर सर्वकुछ मेरे लिए बेकार है, अनर्थ है, असार है, सही बात यह है, सभीके लिए है यह बात। कुछ वहां ऐसा नहीं है कि इस धर्म वालेके लिए यह बात है, इस सम्प्रदाय वालेके लिए यह बात है। और जितने भी जीव हैं सब आत्मा हैं। जितने मनुष्य हैं उन सबका आत्मा एक स्वरूपका है, वहां भेद नहीं है स्वरूपमें। और जब स्वरूप सबका एक ही स्वरूप है, वही धर्म है और उस ही धर्मकी कोई दृष्टि कर सके वही धर्मपालत है। तो-इस प्रकार अनादि अनन्त अहेतुक इस सामान्य कारण समयसारकी दृष्टि पहुंचनेका इस जीवन्तमें प्रयत्न करना, बाकी सब बातें बेकार और अनर्थ हैं। बाह्य लगावमें अपनेको वर्तमानमें भी व्याकुल करना है और पापका बंध करना है जिससे आगामी कालमें भी इसको बेचैनी ही मिलेगी।

व्यावहारोचित धर्म कर्तव्योंके करते हुए भी ज्ञानीके लक्ष्यका अनवरत परिपोषण—भैया, काम तो करिये शक्ति प्रमाण, बनेगा भी वही, मगर लक्ष्यकी श्रद्धा रखे पूर्णतया जिससे कि भीतरमें धुन बने। धर्म कार्य भी कर रहे, जैसे बहुतसे कार्य हैं—पूजा किया, विधान किया, सभी मंदिरोंके दर्शनको जा रहे, या अनेक कार्य हैं धर्मसम्बंधी पर वहां भी यह ध्यान रखें कि जो हम अनेक कार्य कर रहे हैं धर्मके लिए, यह मेरा उद्देश्य नहीं है, यह मेरा लक्ष्य नहीं है, मेरा लक्ष्य तो है एक कारण समयसारकी दृष्टि। वहां ही मग्न होनेका लक्ष्य है। ज्ञानीके लक्ष्य ५० न होंगे, लक्ष्य उसका धर्ममें एक है, और उस ही लक्ष्यके पानके लिए ये उपलक्ष्य अनेक हो रहे हैं। सोचते तो हैं कि आज मैं अमुक जगह दर्शन करने जाऊंगा, अब प्रवचनमें जाऊंगा, अब पूजा करूंगा, यों प्रोग्राम बनाये तो जाते हैं, चित्तमें तो रहता है, पर प्रोग्राम बनाकर भी ज्ञानीकी प्रतीतिमें यह बसा हुआ है कि ये सारेके सारे काम मेरे लक्ष्य नहीं हैं, ऐसा करनेके लिए ही मैं यह नहीं कर रहा हूँ, किन्तु मेरा लक्ष्य है सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि। उसकी ओर ही अभिमुख रहना और इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए हम ये ये प्रोग्राम करते हैं। तो जिस ज्ञानी संतको अविकार सहज परमात्मस्वरूपका ज्ञान द्वारा दर्शन हुआ है सामायिक उसके पलती है, और वहां ये बाह्य विकल्प हटते हैं, रागद्वेष रहित होकर समता परिणाम रखना यह उसका मतलब है। देखिये जैन शासन पाया तो इतना तो भीतर लक्ष्य बनाने। (१) चूँकि बाहर सर्वत्र आग ही आग है। जितने जीव हैं सबके अपनी-अपनी कषाय है। यदि मैं यह चाहूँ कि बाहरमें मेरी मनचाही बात बने, यह तो हो न पायगा इसलिए इसकी आशा ही छोड़ दें और अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेका एक प्रोग्राम रखें और इसके लिए अगर बाहरमें अपमान है तो कुछ नहीं, बाहरमें कुछ उल्टी चाल है किसीकी तो

कुछ नहीं। उस सबको दृष्टिसे ओझल करना चाहिए, ऐसा भीतरमें साहस बने तो वह समता परिणाम पानेका अधिकारी है।

एकान्ते सामायिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९९ ॥

सामायिक करनेके योग्य स्थानोंका दिग्दर्शन—इस छंदमें सामायिक करने योग्य स्थानका वर्णन किया है। जिस स्थानमें चित्तको क्षोभ करनेके कारण न हों ऐसे एकान्त स्थानमें सामायिक करना चाहिए। जहां असंयमी जीवोंका आना जाना न हो, लोग जहां वाद-विवाद न करें, कोलाहल जहां न हो, स्त्रियोंका, नपुंसकोंका जहां आवागमन न चल रहा हो। नजदीकमें गायन नृत्य बाजा आदिका प्रचार प्रसार न हो रहा हो, तिर्यज्च पशु पक्षी आदिक भी जहां न चल रहे हों, ऐसे स्थानमें प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करना चाहिए। जैसे लौकिकजनोंका खाने पीनेका प्रोग्राम प्रधान है। उसके लिए ही सारा प्रयत्न है, कमायी है। तो ज्ञानी पुरुषके लिए सामायिक कल्याणकारी है, सर्वत्र है, जो विपत्तियोंसे घबड़ाया है, विकल्प आपत्तियां जिसपर पड़ती रहती है उनसब विपत्तियोंसे बचने और एक अलौकिक आनन्द लेनेके लिए सामायिकमें बैठता है। सो आत्मीय स्वानुभवका अलौकिक आनन्द आये यह ही तो प्रयोजन सामायिकका है। तब ऐसे स्थानपर सामायिक करना चाहिए कि जहां क्षोभके कोई कारण न बनते हों। जिस भूमिपर डोंस मच्छर कीड़ा कीड़ी आदिक अनेक प्रकारके इन जीवोंकी बाधा न होती हो, ऐसा विक्षेप रहित एकान्त स्थान होना चाहिए, वह चाहे जंगल हो या बाग बगीचेका जीर्ण-शीर्ण मकान हो अथवा घर हो या चैत्यालय हो, स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ चित्तको क्षोभ न आये। तो ऐसे स्थानपर प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करनेमें अपना सर्वस्व शरण भगवान् आत्मासे मिलने जा रहा हो, मैं अपने अंतः प्रकाशमान सहज तत्त्वका अनुभव करूंगा, ऐसी उमंगके साथ सामायिक करना चाहिए। इस सामायिककी और भी सामग्री बताते हैं।

व्यापार-वैमनस्या-द्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामायिकं बध्नीया-दुपवासे चैकभुक्ते वा ॥ १०० ॥
सामायिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरण कारणमवधान युक्तेन ॥ १०१ ॥

आरम्भविरत होकर सामायिकमें एकाग्रचित्तसे अविकार आत्मस्वरूपके ध्यानका कर्तव्य—व्यापारसे विरक्त होनेके कारण आरम्भ आदिकसे छूटकर यह ज्ञानी श्रावक सामायिकको धारण करे, तो ऐसी विकल्प रहित स्थितिमें सामायिक करना योग्य होता है। सो खासकर एकाशनका दिन हो, उपवासका दिन हो, उन दिनों सामायिकमें एक विशेष प्रगतिका उपाय करना चाहिए। प्रतिदिन तो सामायिक करना इसके लिए है ही श्रावक मगर उपवासके दिन तो सामायिकमें विशेष समय देना चाहिए और सारा समय स्वाध्याय ज्ञान चर्चा आदिकमें व्यतीत हो तो सामायिक भी ~~भली~~ प्रकार होती

है। यह सामायिक अहिंसा आदिक ५ व्रतोंकी परिपूर्णताका कारण है। अविकार अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि जहां करनेका प्रयास चल रहा है उस पौरुषमें कहां पाप चल रहा है? अहिंसा व्रतकी पूर्णता बनी रहती है। जितने व्रत आदिक हैं उन सबसे हटकर आत्मस्वरूपमें मग्न होना चाहिए। यह व्रती श्रावक सामायिक करनेके उद्यममें समस्त आरम्भ आदिक क्रियावोंको त्याग देता है। यह कोई सामायिक नहीं है। सामायिक भी कर रहे हैं, बच्चा भी पासमें बैठा है वह कभी इधर उधर जाता तो उसे भी पकड़ना, पास बैठाना, फिर सामायिक करने लगना यह तो एक खानापूति है, सामायिक नहीं है। वास्तवमें सामायिक तो है भले प्रकार एकान्तमें अच्छे आसनमें बैठकर आरम्भ आदिकों परित्याग करके समता परिणाम रखें। उस समय केवल शुद्ध आत्मास्वरूप मननमें रहे, सामायिकका पूर्ण लाभ उसे मिलता है, फिर अष्टमी चतुर्दशी या अन्य पर्वोंका अवसर मिला तो वहां सामायिक देनेमें अनेकबार बैठकर रागद्वेषका परित्याग करता हुआ रहे, ऐसा व्रती श्रावकका कर्तव्य होता है।

सामायिकका समय—सामायिकका समय, दो घड़ी, चार घड़ी, ६ घड़ी यों तीन प्रकारका बताया दो घड़ीसे अधिक जितना चाहे बढ़े, ६ घड़ी तक सामायिकका समय है। तो ठीक समय तो बताया गया है कि सूर्योदयसे कुछ पहले कुछ बाद जैसे ६ घड़ी करना है तो तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बाद, सूर्यास्तके समय करना तो ३ घड़ी पहले और ३ घड़ी बाद, दोपहरको १२ से ३ घड़ी पहिले व ३ घड़ी बाद। पर यहां यह समझना कि सारा समय ६ घड़ीका है। देखिये कहीं घड़ी नहीं सामने रखी होती, घड़ी रखनेका नया रिवाज जो अब चल गया। पहले तो एक अंदाज चलता था। तो जो ६ घड़ीका समय है सूर्यादयके समय, दोपहरमें और सूर्यास्तके समय तीनों बार तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बाद यों छः घड़ीका जो सामायिक करे वह उत्कृष्ट सामायिक है। सामायिककी तीन समयकी स्थितियां बतायी—उत्कृष्टसे उत्कृष्ट छः घड़ी, मध्यम चार घड़ी जघन्य २ घड़ी। जघन्यमें उन छः घड़ीमें से कभी दो घड़ी सामायिक की जा सकती है। सामायिकके इस प्रकारके नियत समयका अर्थ है कि श्रावकके परिणामोंमें विशुद्धिकी संतति बराबर बनी रहे उस योग्य समय इतना हो पाता है। तो दृढ़ आसन करके सामायिकमें बैठें उसमें दायें बायेंका देखना न रहेगा कि कभी यहां देखा, कभी अगल बगल देखा। अरे किसको देखना, क्या देखना। अपनेको देखनेके लिए सामायिकमें बैठे हैं फिर क्यों पर पदार्थोंमें देखना चाहते हो, वार्ता करना तो दूर रहा, वार्ता तो करेगा ही नहीं। समस्त पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे वह अलग है उसने मनका नियंत्रण किया। चेतन अचेतन किसी द्रव्यमें वह रागद्वेष नहीं कर रहा है सामायिकमें श्रावककी ऐसी ही भावना है और इसी प्रकारका शेष समय प्रयोग चले ऐसा उसका प्रयत्न है।

सामायिक करने वाले व्रती श्रावककी सर्वजीवोंके प्रति मित्रताकी भावना—जगतके सर्व जीवोंमें मेरा मित्रताका भाव हो। मित्रता कहते हैं उस परिणामको जिसमें यह भावना रहती है कि किसी भी जीवको दुःख न हो। देखिये ऐसी पवित्रता अपने चित्तमें अवश्य लाइये। अंतरंगमें अपना पक्का विचार बनाइये कि किसी भी जीवको मेरे द्वारा दुःख न हो, फिर अपने द्वारा किसीको दुःख पहुंचे यह तो खोटी बात है। मेरे द्वारा या किसीके द्वारा किसी भी प्रकार किसी जीवको दुःख न हो और वे जीव अपने आपके स्वरूपको जानें जिसके बलपर वे दुःख न पायें ऐसी स्थिति बने, यह भावना मैत्री भावना कहलाती

है। अपने बारेमें वह सोचता है कि सब जीवोंसे मैं क्षमा चाहता हूँ। सर्व जीवोंमें क्षमा धारण करता हूँ। कोई जीव मेरा बैरी नहीं है ऐसा वह अंतरंगसे निरख रहा है क्योंकि जीव-जीव सब अमूर्त हैं ज्ञानमात्र हैं। उनमें कौनसी विधि ऐसी आयी या मुझमें जिसके कारण कोई मेरा शत्रु कहलाये? कोई भी मेरा शत्रु नहीं, प्रयोगमें भी जिसकी आज अनबन है और कोई मानलो रिस्तेदार ही बनने लगे या कुछ भी हो या वातावरण ही दूसरा बने तो वही तो प्यारा मित्र बन जाता है। शत्रु है कौन दुनियामें? ठीक इस तरहकी भावना रहे तो मेरे आत्माको ही लाभ है ऐसा जानें। कोई जीव मेरा बैरी नहीं, मेरे द्वारा उपार्जित किए हुए कर्म वे मेरे बैरी हैं। दूसरा कोई मेरा बैरी नहीं। कदाचित् किसीके द्वारा मेरेको कोई बाधा पहुंचाये तो मेरे ही कर्म ऐसे बंधे थे, मेरा ही वैसा उदय है तब बाधा आयी है। मेरे पापका उदय न आये और मुझको कोई दूसरा बाधाका कारण बने ऐसा नहीं होता। बैरी है तो मेरे पूर्व उपार्जित कर्म बैरी हैं।

सामायिकमें अपने किये गये अपराधका चिन्तन व क्षमाभाव—मैं दूसरेको बैरी समझ लेता हूँ तो अज्ञानभावसे ही समझता हूँ क्रोधभावमें या घमंड जब आता तब या जब लोभ हो। जिसको देखते हैं कि यह मेरी कषायके अनुकूल प्रवृत्ति नहीं कर रहा उसको अपना बैरी मान लेते, मेरा बैरी जगतमें कोई जीव हो ही नहीं सकता। मैं आत्मा अज्ञानसे कल्पनायें करके दूसरोंको बैरी मानता रहता हूँ। किसीने अगर मेरे कर्तव्यकी प्रशंसा न की तो समझ लेते कि यह मेरा बैरी है, कोई मेरा आदर सत्कार विशेष न करे तो उसे अपना बैरी मान लेते। मेरेमें कोई दोष हो और उसे कोई कह बैठे तो हम उसे अपना बैरी मान लेते। जो हम चाहते हैं भोजन वस्त्रादिक उसे कोई नहीं देता तो हम उसे बैरी मान लेते। भला कोई किसीके अधीन तो नहीं है, सबका अपना अपना परिणाम है और अपने ही भावोंसे सब अपनी-अपनी चेष्टायें करते हैं किसी पर अधिकार तो नहीं पर कभी सोचे कोई कि ऐसा क्यों नहीं किया गया, मेरी बात इसने नहीं मानी तो वह उसकी अज्ञान चेष्टा है। मेरे ही कषायभावसे जो दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है उससे मैं दूसरे जीवोंके प्रति बैरीकी बुद्धि कर लेता हूँ। तो मैं अब इस दुर्बुद्धिको त्यागकर समस्त जीवोंसे क्षमा चाहता हूँ। व्रती श्रावक सामायिकमें रहता हुआ किस तरहका चिन्तन करता है यह बात यहां कही जा रही है। किसी जीवको मेरे अज्ञान भावसे कुछ चेष्टा बनी हो, दुःख पहुंचा हो, सर्वजीव मुझे क्षमा करें। यह श्रावक कोई कष्ट नहीं रखता। व्रती श्रावक सरलभावसे भीतरके उमंगसे, सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनाकी उमंगसे हृदयसे क्षमा कर रहा और क्षमा चाह रहा।

सामायिकमें श्रावककी निःसंगता—जितने समय यह श्रावक सामायिकमें है, उसने संकल्प किया कि मैं दो घड़ी तीन घड़ी सामायिकके समयमें मन, वचन, कायसे किसी भी प्रकारका इन्द्रियके विषयोंका लगाव न रखूंगा, इसने समस्त आरम्भ परिग्रहको त्याग दिया उतने समयके लिए। ऐसा त्यागनेमें तब व्रती श्रावकके किसी भी वस्तुका लगाव नहीं रहता और एक अपने आपमें एकाकी ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखता रहता उस समय तो वह मुनिवत् है। मुनिने सदाके लिए त्याग किया है जीवनमें, इसने सामायिकके उतने समयके लिए सर्वका बिल्कुल त्याग किया है मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे। पर समयकी अवधि लेकर किया है। मेरा कर्तव्य है कि मैं अपने अविचार ज्ञानस्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वमें मग्न रहूँ, पर कर्मोदयवश मैं यहां मग्न नहीं हो पाता हूँ। तो जो मग्न

होना चाहते हैं और इस स्वरूपमें मग्न हुए हैं, परमात्मा हुए हैं उनका मैं स्मरण करता हूँ। यहां भी तो देखते कि कोई बच्चा जिस कामको नहीं कर सकता उसको करनेके लिए मां बापकी तरफ देखकर रो देता, तो उसके मां बाप उस कामको करा देते हैं। मानलो कहीं चढ़ रहा है वह बच्चा पर चढ़ नहीं पा रहा तो वह रोने लगता है। रोकर मां बापकी मदद लेता है, मां बाप उसे उस जगह चढ़ाकर उसका मन बहला देते हैं। तो ऐसे ही सामायिकमें रहने वाला श्रावक अपने स्वरूपमें मग्न होना चाहता है तो वह अरहंत सिद्ध प्रभुकी दृष्टि करता है, जो समर्थ हैं, जिन्होंने उस कामको कर लिया है उनके गुणोंका स्मरण करता है और गुण स्मरणके प्रतापसे अपने आपमें बल प्रकट करता है आनन्दमग्न होनेकी कोशिश करता है। इसी स्वरूपमग्नताके प्रयोजनसे पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण जिनेन्द्र देवके प्रतिबिम्बका चिन्तन करता रहता है, उसकी धुन केवल एक ही है कि अपने आत्माका जो ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव है जो रागद्वेषादिक विकारसे पृथक् है उसको अनुभव करता हुआ ही ठहरूं, इस प्रयोजनसे अनेक पाठ करता है। चत्वारिदण्डक पाठका मनमें स्मरण करता है। वह अरहंत सिद्ध साधु और धर्मको ही शरण मानता, उसकी ओर यह आकर्षित होता। २४ तीर्थंकरोंका नाम लेकर गुणानुवाद करे, स्तवन करे जो स्तवन करे उसके अर्थमें एकाग्रचित्त होकर उसका ध्यान करे ऐसा यह व्रती श्रावक सामायिकके समय शुभ और शुद्ध उपयोगका प्रयास कर रहा है।

यह श्रावक सामायिकमें अपने गुणदोषका चिन्तन भी करता है। कोई व्यापारी भी तो चाहे वह छोटासा ही व्यापारी हो, आखिर वह भी तो दिनभरमें जरूर ख्याल करता है कि आज मेरा हानि लाभका ऐसा हिसाब रहा। तो यह व्रती श्रावक सुबह शाम सामायिकमें प्रतिक्रमणके अवसर पर अपने गुणदोषका चिन्तन करता है। रात्रिमें जो दोष किया उसका सुबह चिन्तन करे, मुझे से क्या दोष हुए, मेरे द्वारा किसको बाधा रही, उन सब दोषोंका चिन्तन करता। दिनमें किए हुए दोषोंका शामको सामायिकमें चिन्तन करता है, क्या अनर्थ किया अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग देते रहे यह अनर्थ भी बड़ा अनर्थ समझता है। वह ध्यान करता है कि मैंने कितना समय बाहरी पदार्थोंमें उपयोग देकर अपने आपको खराब किया। यह व्रती श्रावक सामायिकमें अपनी सभी दुर्लभ सामग्रीका भी विचार करता है। जगतमें कैसे-कैसे जीव पड़े हुए हैं, कैसे दुःखकी स्थितिमें हैं, उनसे हम आप कितनी ऊंची स्थितिमें हैं, मनुष्य हुए, जैन शासन मिला, धर्मोपदेश सुनने बांचनेका बहुत प्रसंग मिलता रहता है, श्रेष्ठ जाति मिली, श्रेष्ठ कुल मिला तो क्या मैं अपने उस चैतन्य स्वभावमें मग्न होने रूप धर्मको न पा लूंगा। क्या इसकी धुन न करूंगा? क्या इसमें कुछ प्रयोग न रखूंगा। यदि ऐसा न किया तो मेरा जीवन बेकार है। क्या मैं इस लिए यहां मनुष्य बनकर आया कि रातदिन अपना पेट भरूं या विषयभोगोंमें रहूं और फिजूलकी बातोंमें रहूं? अरे इसके लिए मुझे यह मानवजीवन नहीं मिला। हां मुझे जीना पड़ता है, खाना पड़ता है, लेकिन खा खाकर ही मेरा पूरा न पड़ेगा। जी जी करके भी मेरा पार न पड़ेगा। मुझे चाहिए उत्कृष्ट जीवन जहां भव धारण ही न करना पड़े और यह आत्मा जो अपने स्वरूपसे एकाकी है, जैसे यह एकत्वमत है बस वैसा ही मैं व्यक्त हो जाऊं, सारे झूठे झगड़े ये सब समाप्त हो जायें।

अपने जीवनके सर्वसमयके सदुपयोगकी भावना—इस जीवनकी एक भी घड़ी धर्म बिना

व्यतीत न हो, ऐसा वह विचार करता है सामायिकमें, एक क्षण भी मेरा अधर्ममें मत जाय। दुर्विचार होता है तो तत्काल कर्मबन्ध होता है और उन कर्मों की स्थितिमें कोड़ा कोड़ी सागरों तक दुःख भोगना पड़ता है। अब उस दुःखको दूसरा कौन भोगने आयगा? कोई दूसरा मेरा सहाय न होगा, मुझे ही अकेले भोगना होगा, सो मेरे जीवनके एक भी क्षणमें मेरा खोटा भाव न बने। ऐसा व्रती श्रावक आत्मकरुणा करके अपना समीचीन चिन्तन कर रहा है। आजके दिन पूजनमें, जापमें, अमुकमें मेरा कितना समय व्यतीत हुआ, आजकी रात्रि जिनेन्द्र भक्ति, स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा आदिमें मेरा कितना समय व्यतीत हुआ अब वह ध्यान करता है कि मेरा उपयोग अच्छे कामोंमें लगे। कितना समय मैंने बेकार खोया। पंच परमेष्ठीके जाप ध्यानमें, पात्रदानमें मैंने कितना काल व्यतीत किया, पापारम्भमें, इन्द्रियके विषयोंमें व्यवहार आदिक विकथावोंमें, निद्रा कामसेवन आदिमें मेरा कितना समय गुजरा और धर्मके कार्योंमें मेरा कितना समय गुजरा, बस यह ही तो जमाखर्च है, और उससे वह अंदाज करता है कि मैं कितना तो नफेमें रहा और कितना टोटेमें। सामायिकमें बैठा हुआ यह व्रती श्रावक अपने खोटे कर्मोंकी निन्दा कर रहा है किसी व्यवहार करतेमें मायाचारी की हो। मिथ्यात्ववश होकर किसीको बहकाया हो या क्रोधवश होकर दुःख उत्पन्न करने वाले वचन बोला हो तो वह मेरे लिए धिक्कार है। क्यों ऐसा खोटा व्यवहार मेरेसे हुआ ऐसा यह व्रती श्रावक सामायिकमें चिन्तन करता है जो कुछ अशुभ व्यवहार हुआ उसका फल मैं ही भोगूंगा। क्यों ऐसा खोटा काम करूं कि जिसके उदयमें मेरा भविष्य बिगड़े? आज पुण्यकर्मका उदय है, कुछ प्रभाव है, धन है या अन्य प्रकारके बल हैं। यदि इनका मैं दुरुपयोग करूं तो उसके फलमें मेरा भविष्य बड़ी दुर्दशामें जायगा। जो समागम मुझे प्राप्त है, जो बल प्राप्त है उसका सदुपयोग करूं तो मेरा भविष्य उज्ज्वल रहे। मेरी करनीका सबकुछ फल मेरे ही साथ है। तो जगतमें मेरा कोई शरण नहीं हो पाता, सामायिकमें ठहरा हुआ यह व्रती श्रावक अन्य सम्बंधित धार्मिक चिन्तन करता, पर उसकी धुन यह रहती कि मैं इन विकल्पोंसे भी हटकर निर्विकल्प ज्ञान ज्योति मात्र सरल सा। चैतन्य स्वभाव वह ही मेरे उपयोगमें रहे और ज्ञान और ज्ञेय एक हों, वही जाना जा रहा है, वही जानने वाला है, ऐसी स्थिति पाकर अलौकिक सहज आनन्दका अनुभव करूं, बस मूल ध्यान तो ज्ञानी पुरुषका यह है, और इसीकी पूर्तिके लिए बाकी सब कार्य करता है।

अनेक व्यावहारिक धर्मकर्तव्योंके बीच बीच आत्मदृष्टिका प्रयोग—जैसे किसीका विवाह हुए अभी साल छह माह ही हुए तो उसकी ससुरालसे कोई दूसरी बिरादरीके लोग भी आये हों तो वह उन्हें अपने घरमें बड़ी अच्छी तरहसे ठहराता है, उनकी बड़ी खातिर करता है, खिलाता पिलाता है। बीच-बीच वह पूछ भी लेता कि कहो सासजीके क्या हाल हैं, स्वसुरजी ठीक हैं, फलाने ठीक हैं ना? कोई भी बात करे बीच-बीच वह अनेक बातें पूछ लेता है। देखिये काम तो वह व्यवहारमें अनेक करता पर जिस बातकी उसे धुन है उसकी बात बीच-बीचमें वह कस्ता जाता, तो ऐसे ही इस ज्ञानीव्रती श्रावककी धुनकी बात तो सहज परमात्मतत्त्व है। सो यह कुछ भी करता है पंच परमेष्ठीका जाप अथवा अन्य धार्मिक चिन्तन अथवा कुछ भी कर रहा हो, पर इसकी धुन जो है सो उन सब कार्योंमें लगता रहता है, झट फिर अपने आपके स्वरूपकी ओर ही आता है और अपने आपमें ही मान लेना चाहता

है। सो यह व्रती श्रावक सामायिकमें अपनेको स्वरूपमग्न करनेका एक परम परिश्रम करना चाहता है सामायिकमें ऐसा चिन्तन चलता है कि जिससे ऐसे अयोग्य कार्योंमें हमारी वृत्ति न बने। और मुख्य बात है वचनकी। मनुष्यके पास धन क्या है? वचन। चाहो इन्हीं वचनोंसे सुख उपजा लो, इन्हीं वचनोंसे दुःखी कर डाले। एक वचन धन है मनुष्य है, तब वचनयोग सदैव हमारा इतना सुहावना होना चाहिए कि जो विरोधी भी है, प्रतिकूल चेष्टा करने वाले भी हैं उनके भी मनको शान्ति प्राप्त हो। अशान्ति न जगे ऐसे वचनोंका प्रयोग होना चाहिए। जिसने अपने वचनोंकी सम्हाल की उसने समझो अपनी सब लौकिक सम्हाल कर लिया और उस सम्हालके कारण धर्ममें भी उसका मन लगेगा और वास्तविक धर्मके पालनमें उत्साह भी जगेगा। कोई विघ्न न आ सके, हम छोटे वचन बोलकर ही अपनेको झंझटमें डालते हैं थोड़ी देरको छोटे वचन बोलकर फिर रात दिन झंझटमें रहें, तो ऐसे वचन मैं क्यों बोलूँ? मौन रहें, और जब बोलें तो ऐसे सद्वचन बोलें कि जिससे दूसरोंको सुख शान्ति हो। यह सब चिन्तन सामायिकमें व्रतीश्रावक करता है।

सामायिके सारम्भा, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।

चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्॥ १०२ ॥

सामायिकमें आरम्भ परिग्रहका परिहार होनेसे श्रावककी चेलोपसृष्ट मुनिकी तरह यतिभावापन्नता—यह व्रती श्रावक जब सामायिकमें, आरम्भ और परिग्रहमें अवधि तक त्यागी हुआ है उस समय सामायिक करता हुआ वह गृहस्थ उस मुनिकी तरह है जैसे किसी मुनिराजपर किसीने वस्त्र डालकर उपसर्ग किया हो। जैसे मुनिराज पर किसीने वस्त्र डाल दिया तो मुनि तो परिग्रहके त्यागी हैं, उनका उसमें किसी प्रकारका लगाव नहीं है, पर किसीने वस्त्र डाल दिया तो उस वस्त्रसे विरक्त ही हैं, ऐसे ही वह गृहस्थ वस्त्र पहने हुए तो है जो सामायिकमें बैठा है मगर वह वस्त्र उसके लगावसे परे हैं उस तकमें भी उसका किसी प्रकारका लगाव नहीं है। सामायिकमें संकल्प किया, प्रतिज्ञा की कि मेरा इतने समय तक समस्त आरम्भ और परिग्रहका त्याग है, सो उस वक्तमें उसका चिन्तन अविकार आत्मस्वरूपका चल रहा है। प्रभुकी उस वीतरागतामें चिन्तन चल रहा है। सो भीतर तो परिणाम उसके मुनियोंकी तरह मननके हैं, पर वस्त्रसहित बैठा है इतना ही अन्तर है इस कारण उसे मुनि नहीं कहा जाता, और यह भी बात है कि गृहस्थ भले ही सामायिकमें बैठा है, पर उसके अभी प्रत्याख्यान अबुद्धिपूर्वक चल रहा है उदय और प्रवर्तन, इतनी बातको छोड़कर देखा जाय और बाहरमें वस्त्रसहितपनेको छोड़ा जाय तो वह मुनितुल्य ही है। ऐसा उत्कृष्ट परिणाम इस श्रावकके सामायिकके समय होता है।

शीतोष्णादंशमशक-परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।

सामायिकं प्रतिपन्ना, अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥ १०३ ॥

सामायिकमें श्रावकी मौनधरता अचलयोग्यता व परीषहोपसर्गविजयिता—सामायिकको धारण करने वाला गृहस्थ मौनको धारण किए हुए है। और मन वचन कायको चलायमान नहीं कर

रहा है, उस समय ठंड गर्मी दंशमशक आदिक कोई परीषह आये चेतन अचेतनकृत उन सब उपसर्गोंको समतासे सहता है। देहसे भी निराला अमूर्त ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपका जिसने अनुभव किया है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक जिस काल अपने इस अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन कर रहा है उस समय उसके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समा रहा है। वहां विकल्पका काम नहीं रहा, रागद्वेषकी प्रवृत्ति नहीं रही, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाला गृहस्थ उस समय कोई भी परीषह आये या दूसरोंके द्वारा उपसर्ग किया हुआ हो तो बड़ा धैर्य धारण करके साम्यभावसे वह सहन करता है, समतासे चलित नहीं होता। जैसे अत्यन्त भिन्न बाह्य पदार्थोंके प्रति कोई यह दृष्टि रखे कि ये अत्यन्त भिन्न हैं, उनकी परिणति उनके साथ है, उनसे मेरेमें क्या आता है। ऐसा मनन करने वाले बाह्य परिग्रहोंमें कुछ भी गड़बड़ हो, कुछ भी हलचल परिवर्तन हो तो भी वह उससे अपनेमें व्याकुलता नहीं होने देता, इस प्रकार और विशिष्ट भेद विज्ञानके प्रयोगमें जब यह जान लिया कि देह अत्यन्त भिन्न है, अचेतन है, पौद्गलिक है, भिन्न सत् है, मैं आत्मा भिन्न सत् हूँ तो वह बाहर कोई उपद्रव उपसर्ग आता है, शीतोष्ण आदिककी वेदनायें होती हैं उनको वह समतासे सहन कर लेता है। मैं हूँ यह ज्ञानानन्दस्वरूप। ज्ञान व आनन्दको भोगता रहता हूँ, यह ही मेरा अन्दरमें व्यवसाय है, यह प्रक्रिया चल रही है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थसे मेरा सम्बंध नहीं ऐसा स्पष्ट भेदविज्ञान जिसके जगा है वह सद्गृहस्थ सामायिकके समय तो विशेषतया इन समस्त उपद्रव उपसर्गोंको समतासे सहन कर लेता है।

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।

मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति, ध्यायन्तुसामायिके ॥ १०४ ॥

सामायिकमें भवभ्रमणकी अशरणता व मोक्षकी शरणरूपताका ध्यान—सामायिक करता हुआ यह श्रावक संसारके स्वरूपका और मोक्षके स्वरूपका किस तरह ध्यान करता है, इसका दिग्दर्शन इस छंदमें किया गया है। यह संसार अशरण है, यहां इस जीवका बाहरमें कोई शरण नहीं, दूसरा पुरुष कितना ही प्रेमी हो वह अपनेमें प्रेम विकार कर पाता है? वह मुझमें क्या कर सकता है? ध्यान कर रहा है सामायिकमें श्रावक। मेरा शरण मेरा भाव है। मैं अपनेको ज्ञानभावमें रखूँ तब तो मेरेको सब शरण है, यह ही खुद और मैं अपने ज्ञानभावसे चिगकर किसी बाह्य पदार्थकी कल्पनामें लगूँ तो मैं खुद अशरण बन रहा हूँ। मेरा दूसरा कौन सहायक है? यह जगत अशरण है, बाह्य दृष्टिसे भी देखें—जब यह जीव मरता है, छोटी उम्रमें ही मरता है तो घरके लोग सब उसको चाहते हैं कि सह न मरे, पर किसीका कुछ वश चलता क्या? लाखों करोड़ों रुपया भी कोई खर्च करे तो क्या उसे कोई बचा सकता? जब जिसपर जो बीतती है उसे यह ही तो सहन करता है। कोई दूसरा मदद करने न आयगा। तो यह गृहस्थ चिन्तन कर रहा कि यह जगत अशरण है। किन्तु यह मोक्षपद शरण है। यहां आकुलताका नाम नहीं, जो मेरा सत्त्व है, एकत्वमें गत है, अपने आप जो कुछ हूँ वह ही तो मोक्षमें प्रकट व्यक्त है, केवल आत्मा ही आत्मा है। उसके साथ कोई उपाधि नहीं है। ऐसा निरुपाधि वह सहज आत्मा यह ही तो मोक्षका साधन है वह शरण है। क्योंकि इस जीवको फिर अनन्तकाल तक भी आकुलता नहीं है।

सामायिकमें भवधारणकी अशुभता व मोक्षकी परमशुभरूपताका ध्यान—यह संसार अशुभ है, अशुभ कर्मका बंध कराने वाला है। अशुभ देहरूपी पिंजड़ेमें फंसा है, अशुभ कषायोंमें, अशुभ भावोंमें लीन है, निरन्तर अशुभ ही अशुभका प्रभाव पा रहा है। यह संसार किस तरह शुभ कहा जा सकता? यदि यहां सुख मिले तो वहां तो आकुलता प्रकट ही है। अपने आपके स्वरूपका परिचय न पानेसे यह उपयोग किस ठिकाने ठीक बैठेगा? तो इसको पाये बिना ही तो संसारी जीव संसारमें रुल रहे हैं और जो कुछ संसारचक्र है मायाजाल है वह सब अशुभ है, किन्तु यह मोक्षसाधन आत्माका यह स्वचतुष्टयका शुद्ध स्वरूप जहां अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है ऐसा वह निराकुलपद यह शुभ है, ठीक है, कल्याणकारी है, इसके अतिरिक्त जगतमें जो कुछ भी है, कोई भी पदार्थ वह कैसे शुभ हो सकता, जो पापकर्मका बंध करानेका कारणभूत हो, जिसका आश्रय करके जीव कर्म बंधनसे युक्त हो जाय वह सबकुछ कैसे शुभ कहा जा सकता है? लोग द्वेषभरी बातोंको अशुभ कहते हैं और रागभरी, मौजभरी बातोंको शुभ कहते हैं। द्वेषभरी बातोंमें जितना कर्मबन्धन होता है मौज भरे लगाव लपेटमें उससे कम नहीं होते, अधिक ही सम्भव है, तो यह जगत कैसे शुभ कहा जा सकता है? यह चिन्तवन सदगृहस्थ सामायिकमें कर रहा है।

सामायिकमें संसार समागमकी अनित्यता व मोक्षकी ध्रुवताका चिन्तन—यह जगत अनित्य है, जो कुछ यहां मिला है वह सब अनित्य है। आज जो समागम प्राप्त है, अनन्तानन्त काल संसारमें परिभ्रमण कर करके बड़ी मुश्किलसे प्राप्त हुआ है, अच्छे क्षेत्रमें निवास जहां मद्यमांसकी प्रवृत्ति नहीं, जहां धर्मके वातावरणमें बात चलती है ऐसे उत्तम क्षेत्रमें आज हम आप उत्पन्न हुए हैं, और इसमें भी उत्तम कुल प्राप्त हुआ है जिस कुलमें उत्पन्न हुए पुराने धर्मात्मा रहे और बड़े प्राचीन पुरुष तपश्चरण करके मोक्षको प्राप्त हुए, उस परम्परामें हम आप आज हैं। उत्तम कुल मिला है और फिर कुल भी मिले पर इन्द्रियां परिपूर्ण न मिलें तो क्या कर लेंगे? वहां भी दुःखी संक्लिष्ट रहेंगे। सो इन्द्रियां भी हम आपको परिपूर्ण मिली हैं, साथ ही कुछ बुद्धि भी मिली है, इज्जत भी मिली है, योग्य साधर्मीजन, मित्रजनका समागम मिला है। कुटुम्ब भी योग्य है, सब चीजें योग्य प्राप्त हुई हैं मगर ये सब अनित्य हैं तब इस योग्य समागम का कुछ लाभ उठायें। वह लाभ मिलेगा धर्मपालनमें। धर्म है अपने आत्मामें। आत्मस्वरूपका ज्ञानकरके आत्मस्वरूपका मनन करके अपने आपमें अपने आपको निरखा करें तो इन समागमोंका पाना सार्थक है अन्यथा ये मिले हैं, मिटेंगे तो अवश्य ही। तब फिर जो मिटने वाले हैं उनसे अगर न मिटने वाले मोक्षपदका उपाय बनालें तो यह तो कितनी अच्छी बात है और फिर जब अनित्य है यह सारा समागम तो फिर रागमोह करने लायक यहां कुछ नहीं है। अपने आप आत्माकी पर्यायमें प्राप्त भी चीज अनित्य है। देहादिक भी अनित्य हैं, किन्तु मोक्ष जो हुआ वह नित्य है, सदा रहेगा यह मोक्ष। उस मोक्षमें शुद्ध परिणमन है, समान परिणमन है, विसमता नहीं है, ऐसी यह शुद्ध अवस्था मोक्ष यह नित्य है और यह संसार समागम जिसके बीच हम आप पड़े हैं यह सब अनित्य है, ऐसा संसारका स्वरूप और मोक्षका स्वरूप सामायिकमें बैठा हुआ सदगृहस्थ चिन्तन कर रहा है।

सामायिकमें संसारकी दुःखरूपता व मोक्षकी परमानन्दमयताका ध्यान—यह संसार

दुःखरूप है। कहीं भी देखो किसी भी जगह हो, किसी भी भूमिकामें जीव हो संसारमें तो सर्वत्र कष्ट ही कष्ट है। लोग सब मुखसे बोल भी देते हैं—क्या रखा है गृहस्थीमें, क्या रखा है संसारमें? सारे कष्ट ही कष्ट हैं, मगर ऐसा चिन्तन करना वैराग्यके लिए नहीं बनता, किन्तु दुःख बढ़ानेके लिए बनता है, बस यह ही कमी है। अन्यथा संसारको दुःखरूप चिन्तन करना यह वैराग्य वर्द्धक हो तो यह चीज लाभदायक है। यहां जो कुछ समागम प्राप्त हुए हैं कर्मविपाकवश उनमें यह जीव किसीको इष्ट मानता किसीको अनिष्ट मानता। जिसे इष्ट मानता है उसका वियोग होनेपर यह कष्ट मानता है, जिसे अनिष्ट मानता है उसका संयोग होनेपर यह जीव कष्ट मानता है। यह ही दुःख चल रहा है। और है दुःख सब व्यर्थका। जिस किसीको मावा कि यह मेरा है बस यह उसके विचारमें अपने ज्ञानस्वरूपसे चिगकर बाहर बाहर डोलता है। उसका फल क्या होता है? कष्ट, शरीरका दुःख, मानसिक दुःख, किसीने कुछ वचन बोल दिया तो उसके प्रति यह चिन्तन नहीं चलता कि ये वचन भाषावर्गणाके परिणमन हैं, और यह आत्मा स्वरूपमें तो परमात्मा है पर कर्मोदय ऐसा है कि कषायभाव चल रहा है और उसकी प्रेरणामें निमित्त नैमित्तिक योगवश भाषा वर्गणाके परमाणु परिणम रहे हैं, यह ध्यानमें कहां रहेगा? और बाहरकी वाणी सुनकर यह अपनेमें घटाता कि भैरेको कहा। अरे मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, इसको तो दुनिया जानती नहीं। इस मुझको कोई कह क्या सकेगा? जिस मूर्तिको देखकर दुनिया कुछ कहती है यह मैं नहीं हूं, यह तो पौद्गलिक आकार है। देखो—यह जीव पद-पदपर अपने अज्ञान भावसे कष्टको सहता है। कुछ धन कम हो गया अथवा कोई ऐसी विडम्बना चल रही, कुटुम्बीजन कोई नाराज हो रहे, सर्वत्र कष्ट ही कष्ट मानते हैं किन्तु मोक्ष कष्टसे रहित है, क्योंकि वहां कष्टके कारणभूत बाह्यपदार्थ रंच भी साथ नहीं है। केवल आत्मा ही आत्मा है। तो बुद्धिमान् इसमें है, बड़प्पन इसीमें है कि मोक्षकी तैयारी बनायें, इस शरीरसे मोह हटायें, यह ही एक अपने आत्माको कल्याणका मार्ग है। यह सब चिन्तन सद्गृहस्थ सामायिकमें कर रहा है।

सामायिकमें स्वातिरिक्त समस्त पदार्थोंकी अनात्मताका चिन्तन—यह सारा संसार अनात्मा है, इसमें मेरा कुछ सम्बंध नहीं, कोई अधिकार नहीं, अत्यन्त भिन्न तत्त्व हैं। जगतमें अनन्त पदार्थ हैं जो कि ६ प्रकारके हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। जीव अनन्तानन्त हैं। कितना अनन्तानन्त हैं कि अनादिकालसे अब तक उतने सिद्ध हुए हैं जिनकी गणना अनन्त है और निगोद जीवको छोड़कर जितने संसारमें जीव हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, सब नारकी, देव, मनुष्य, पशुपक्षी आदिक इन सबकी जितनी गणना है उससे अनन्तगुनी गणना है सिद्ध भगवानकी। इतने सिद्ध हुए हैं और उन सिद्धोंसे अनन्त गुणे हैं निगोदिया जीव। कितने हैं निगोदिया जीव? निगोद जीवका जो एक शरीर है, जिसके अनन्त निगोदिया जीव मालिक होते हैं वह शरीर बहुत सूक्ष्म होता है। यों समझिये कि जैसे सूई की नोक बराबर जगह है तो उसमें उतने निगोदिया जीव हैं कि सिद्धसे अनन्त गुने हैं। फिर कितने शरीर हैं, कितनी जीव संख्या है। तो जीवोंकी संख्या अनन्त है। पुद्गलकी संख्या जीवोंसे भी अनन्तगुनी है। एक इस जीवके साथ जो शरीर लगा है उस ही में अनन्त **परमाणु** हैं, तो

शरीरके साथ शरीरके उम्मीदवारमें भी अनन्तगुणे परमाणु हैं। उससे अनन्तगुने तैजस शरीरके परमाणु हैं, उससे अनन्तगुणे कर्मके परमाणु हैं और उससे भी अनन्तगुणे कर्मके उम्मीदवार परमाणु हैं, ऐसे तो प्रत्येक संसारी जीवके साथ लगे हैं, फिर उनमें तीन इन्द्रिय आदिक हुए तो भाषावर्गणाके परमाणु भी अनन्त प्रदेशी हैं और उनमें कोई सैनी जीव है तो उसके साथ मनोवर्गणाके भी अनन्त परमाणु साथ हैं, इतने तो एक जीवके शरीरके साथ लग रहे हैं पर उससे बाकी और भी तो पुद्गल बचे हैं जिनको अभी ग्रहण नहीं किया, जिनको ग्रहण करके छोड़ दिया। ये जगतमें जितने पदार्थ दिख रहे हैं तखत, दरी आदिक ये सब जीवके द्वारा छोड़े गए स्कंध हैं, फिर अग्राह्य भी हैं। मतलब यह है कि जीवोंकी संख्यासे अनन्त गुने अधिक पुद्गल है। एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। इन अनन्त पदार्थोंमें से मैं केवल एक स्व हूँ। इसके अतिरिक्त समस्त अनन्ते जीव सब पर हैं और पुद्गल आदिक तो पर हैं ही। ऐसे ये जगतमें जितने भी समागम हैं वे सब पर हैं, अनात्मा हैं किन्तु मोक्षमें केवल यह ही यही है। सर्वस्व आत्म स्वरूप ही है, ऐसा सामायिकमें श्रावक ध्यान कर रहा है। यह श्रावक अपने आपके बारेमें चिन्तन कर रहा है कि ऐसे संसारमें मैं क्यों दुःख भोगूँ।

दुःखरूप संसारसे छूटकर परमानन्दमय मोक्षके मार्गमें लगनेकी भव्यजीवकी उमंग— देखिये, संसारी प्राणीकी कितनी विडम्बना चल रही है। अभी जी रहे हैं, कुछ वर्ष बाद गुजरेंगे, मरण हो जायगा, मरणके बाद फिर कोई दूसरा जीवन चलेगा। तो जैसे इस भवमें इस शरीरके योगमें बहुत बहुत मोह रागद्वेष करके दुःख बनाये जा रहे हैं ऐसे ही आगे भी उस जीवनमें बहुत बहुत कष्ट करके मोह रागद्वेष बनाये जायेंगे। और यह परम्परा जैसी चली आ रही है वैसी ही आगे चलती जायगी, यदि अपने आपकी सुध न ली। अब सोचिये कि सारा जगजाल इस आत्माके लिए व्यर्थ है। धर्मधारण करनेके लिए महाभव्य जीवके उमंग तो चल रही है, पर इस जीवको रास्ता ऐसा नहीं मिल रहा है कि जिस रास्तेसे एकदम इस धर्मसागरमें स्नान करके संसारके संताप समाप्त कर दें। यह उपाय कहीं बाहर नहीं है। हम अपने आपमें ही और इसके लिए दृढ़ता कर लें तो यह प्राप्त अभी भी कर सकते हैं। स्थिरता न रहेगी, आगे स्थिरता हो जायगी, मगर सच्चा निर्णय तो कर लें। सच्चा ज्ञान, सच्चा विश्वास यह हम आपको शरण बनेगा। जगतका कोई पदार्थ अपनेको शरण न बनेगा। मानों कितना ही वैभव हो जाय, कितना ही परिकर जुड़ जाय, राजा हो गए, लोग जयजयकार कर रहे, बहुत-बहुत सत्कार कर रहे, यह सब क्या है? विडम्बना है, मायामय है उसमें कुछ मिला है क्या आत्माको। अरे सर्व विकारोंसे परे इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका विचार तो करो। सामायिकमें सदगृहस्थ ऐसे ही अंतस्तत्त्वका चिन्तन कर रहा है।

ज्ञानीका अपनेमें अपने वैभवका दर्शन—यह श्रावक अपनेको देख रहा कि मेरेमें क्या-क्या रचना भरी हुई है। ज्ञानस्वरूप ऐसा महत्त्वशाली गुण है कि जिसके कारण यह आत्मा सर्वद्रव्योंमें प्रधान माना गया है, मानो कोई जानने वाला पुरुष न हो तो इन पौद्गलिक ढेरोंकी भी सत्ता कौन जाने? फिर तो सब असत् जैसे हैं। होते हुए भी क्या हैं। देखिये इन सबको भी प्रकाशमें लाता है कोई तो यह आत्मा। इन सबकी महत्ता महिमा बतायी है तो इस जीवने। यह जीव सर्व द्रव्योंमें प्रधान है। और वही केवल अकेला रह जाय, अपनी शुद्ध अवस्थाको पावे तो इसके ज्ञानमें तीन लोक तीन कालके

सर्व पदार्थ युगपत् झलक जाते हैं। ऐसा ज्ञान वैभववान यह आत्मा है। इस ज्ञानमें समस्त लोक ऐसा गड़ जाता है, जुड़ जाता है, चित्रित हो जाता है कि मानों परिपूर्ण ज्ञानके कारण इस आत्मा का सारा महत्त्व बढ़ गया है। तो देखिये आत्मा अखण्ड है, वहां कोई भेद नहीं है, वह तो अपनी सत्तामें जो कुछ है सो वही है एक सत्। जो भी पर्याय बनती है, परिणमन होता है वह एक होता है। प्रति समय एक-एक परिणमन होता और वह किस प्रकारका परिणमन होता उसको समझानेके लिए आचार्योंने दया करके गुणभेद किया और उस गुणभेदके आधारपर पर्याय भेदको समझाया। पर्याय भेदके माध्यमसे गुणोंको समझाया, पर वहां जितने भी समझाये गए गुण हैं वे क्या अलग-अलग हैं? अरे एक गुणमें दूसरेका प्रकाश है, एकमें दूसरेका अन्तर्भाव है। सर्वकुछ ज्ञानमात्र है ऐसा अपना अन्तः स्वरूप यह सदगृहस्थ सामायिकमें निरख रहा है सहजज्ञान शक्तिरूप स्वभावमात्र।

ज्ञानी द्वारा शुद्धशक्तिरूपमें अपनी परख—भैया शुद्ध आत्मध्यानी पर्यायको भी नहीं निरख रहा अभेद ध्यानमें किन्तु शक्तिरूप यह ज्ञानी तक रहा है। वह शुद्ध पर्याय अभी है कहां, पर ज्ञान द्वारा वह अपनी शुद्ध शक्तिको निरख रहा है। मैं हूं सहज ज्ञानस्वरूप, सहज दर्शन, सहज आनन्द, सहज शक्तिमय, जिसका शुद्ध परिणमन हो तो अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द होता है। ऐसा अनन्त वैभववान यह मैं आत्मा अपने स्वरूपमें अपनेको देखूँ। तो वहां व्यग्रताका क्या काम रहता है? ऐसा सहज अनन्त चतुष्टयमय यह आत्मा कभी तो दृष्टिमें आये, इसीलिए तो सामायिक बतायी गई है। प्रत्येक गृहस्थको सामायिक करना ही चाहिए। मुनिराजके तो हर समय सामायिक है, वह चारित्र ही बन गया उनका, फिर भी चूँकि प्रमाद रहता है सो वे भी सामायिक करते हैं मगर मुख्य कर्तव्य है इस श्रावकका कि वह नियमसे सामायिक करे और सामायिकमें इस अविकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करे। सर्वकुछ भूलकर परम विश्रामके साथ इस उपयोगको लें जिसमें अपने आप सहज जो कुछ झलके सो झलके। बाह्य पदार्थ तो सहज झलकेंगे नहीं। बाह्य पदार्थ तो उपयोगसे बनाकर झलका करते हैं, मगर आत्माका जो सहज शुद्ध स्वरूप है वह सहज झलका करता है। उसमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है उसका अनुभव कर चुकने वाला गृहस्थ प्रतिदिन सामायिकमें परम विश्राम लेता हुआ अलौकिक आनन्द पाता है।

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।

सामायिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १०५ ॥

सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार—श्रावकके बारह व्रतोंके प्रकरणमें अब तक १० व्रतोंका वर्णन हुआ है, जिनमें यह सामायिक नामका चौथा व्रत चल रहा है। यहां उस सामायिक व्रतके अतिचार कहे जा रहे हैं। ऐसे कौनसे दोष हैं जो सामायिकको भंग तो नहीं करते किन्तु उसमें दोष लगाते हैं। वे दोष इस छंदमें बताये गए हैं। (१) पहला अतिचार है दुःप्रणिधान। सामायिक करनेमें, पूजनमें संसार सम्बन्धी प्रवृत्ति करना यह वचन दुःप्रणिधान है। जैसे कोई बात किसीको बोल दिया, सामायिक कर रहे हैं उस समय कोई लड़का ऊधम कर रहा, उसे मना कर रहे हैं या कोई प्रयोजन है, कोई कुछ बात करने

आया है तो उसको भी कुछ कह दिया यह है वचनदुःप्रणिधान । (२) सामायिकमें शरीरको चलायमान करना, संयमरहित ढंगसे शरीरको प्रवर्तना यह कायदुःप्रणिधान है । जैसे थक गए तो एक पैर पसारकर बैठ गए सामायिकमें ऐसी शरीरकी संयमरहित चेष्टा होना यह कायदुःप्रणिधान है । (३) तीसरा है मनोदुःप्रणिधान । मनमें आर्त रौद्रध्यान वाली बात चिन्तनमें आना । सामायिकमें शरीरको चलायमान नहीं किया जा रहा है फिर भी मनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानका विचार कर रहे हैं । (४) चौथा अतिचार है अनादर । सामायिकका आदर देते हुए सामायिक न करना यह अनादर अतिचार है । (५) पांचवा अतिचार है स्मरण । सामायिक करते समय सामायिककी क्रियाको भूल जाना । कोई बात भूल गए मानलो कायोत्सर्ग करना भूल गए तो यह है स्मरण नामका अतिचार । ऐसे सामायिक व्रतमें ५ अतिचार होते हैं । अब प्रोषधोपवास नामका व्रत बतला रहे हैं ।

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।

चतुरम्यवहार्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥ १०६ ॥

प्रोषधोपवासके मुख्य कालभूत । अष्टमी चतुर्दशीपर्वकी अनादिपरम्परा—धर्मभावनापूर्वक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन सर्वप्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है । प्रत्येक माहमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी होती हैं । इन पर्वोंमें प्रोषधोपवास करके धर्मध्यानमें समय व्यतीत करना यह अनादिकालसे ही व्रतमें बताया जाता है । देखिये—दस लक्षण हुए या व्रत हुएये पर्व तो कभीसे बने कोई कारणसे चले हैं मगर अष्टमी और चतुर्दशीका पर्व धर्मध्यानमें व्रती श्रावकके लिए अनादिसे चल रहे । जब बीचमें भोगभूमि आयी तब नहीं रही धर्मप्रवृत्ति किन्तु उससे पहले जब धर्मप्रवृत्ति थी तो वहां तो ये सब चलते थे । इन पर्वोंका मनाना, धर्मध्यानमें समय बिताना यह अनादिकालसे चला आया । इन अष्टमी और चतुर्दशीके पर्वोंमें गृहस्थ व्रती संयम पूर्वक रहता है । जो व्रती श्रावक नहीं है, साधारण हैं, अव्रती हैं वे भी कमसे कम इतना ध्यान रखते हैं कि अष्टमी चतुर्दशीके दिन हरी नहीं खाते, क्योंकि वे ऐकेन्द्रिय जीव हैं और शक्ति अनुष्ठान है उसका बचाना तो इतना ख्याल तो सभी रखते हैं, पर जो व्रती श्रावक हैं वे विशेषतया ध्यान रखते हैं । इन पर्वोंमें धर्मध्यान विशेषतया करना, उपवास तो धारण करते ही हैं, पर दुकानमें दस दिन न जाना, घरका सम्बंध न रखना, घरमें भी रहे तो एक धर्मध्यान वाला जो कमरा हो उसमें रहना, या मंदिरमें बैठना । स्वाध्याय करना आदिक धर्मध्यानमें समय व्यतीत करनेकी मुख्यता है प्रोषधोपवासमें ।

प्रोषधोपवास करनेकी विधि—इन व्रतोंके करनेका विधान यह है कि जिसे अष्टमीका प्रोषधोपवास करना है तो सप्तमीके दिन पूजा पाठसे निवृत्त होकर समयपर दोपहरमें भोजन किया, उसके बाद नवमीके दोपहर तक याने भोजनकी पारणाके समय तक चारों प्रकारके आहारका त्याग रहता है । यह कही जा रही है उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी विधि । अब इसके बीच जितना समय है, सप्तमीका आधा दिन, सप्तमीकी रात्रि, अष्टमीका पूरा दिन, अष्टमीकी रात्रि और सप्तमीका पहला प्रहर, इतना समय धर्मध्यानमें जाता है । उसे शिक्षा व्रत यों कहा कि एक सप्ताहमें कुछ धर्मध्यानमें समय अधिक

लगे, शामको जल ग्रहण नहीं किया तो उससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है। मध्यम प्रोषधोपवासमें और विधि तो उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी तरह है, पर इस मध्यममें अष्टमी और चतुर्दशीको एक बार जल ग्रहण कर लेता है। पर धर्म ध्यानकी बात तो इतनी ही चल रही है। जघन्य प्रोषधोपवासमें धर्मध्यान आदिककी बात उत्कृष्टकी तरह चल रही है पर वह अष्टमी चतुर्दशीको एक बार आहार ग्रहण कर लेता है यह है जघन्य प्रोषधोपवास। सो व्रत प्रतिमामें निरतिचार प्रोषधोपवास नहीं पलता, निरतिचार तो अणुव्रत ही पलता है। ये ७ शील हैं इनमें कहीं कोई अतिचार सम्भव हो जाता है फिर भी वह अपनी शक्ति प्रमाण दोष नहीं आने देता, ऐसा श्रावकका संकल्प रहता है। अब उपवासके समयमें और क्या करना चाहिए उसका विधान बतलाते हैं।

पञ्चानां पापाना-मलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।

स्नानाञ्जननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १०७ ॥

उपवासके दिन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका त्याग करना। यह तो मुख्य बात है ही, साथ ही आभरण वेषभूषा सजावटका त्याग करना। गृहके कार्योंका आरम्भ या आजीविकाके आरम्भको छोड़ देना क्योंकि इन कार्योंमें यदि वृत्ति लगी रही तो निर्वाध धर्मध्यान बन ही नहीं सकता। इन सबसे निवृत्त होकर ताकि हिंसासे भी बचें, और धर्मध्यानमें भी अधिक लगें इसके लिए इनका त्याग उपवासमें बताया गया है। सुगन्धित केसर, कपूर इत्र आदिकका त्याग करना याने घाणेन्द्रियके विषयको रोकना, पुष्पोंका त्याग करना, फूल सूंघ रहे, फूल माला पहिन रहे, फूल सामने धरे उन्हें उठा रहे, सूंघ रहे, यह व्रतमें नहीं किया जाता। स्नानका त्याग करना, उपवासमें स्नान भी नहीं करते, पर यह व्रती श्रावक भगवानकी पूजाके लिए थोड़ा अल्पस्नान रोज जैसा करता था वैसा करेगा केवल शरीर शुद्धिके ध्यानसे अल्पस्नान करता। उस दिन बहुत-बहुत जल बिखेरनेकी बात नहीं होगी। जितना उपयोगी है उतने ही जलसे शुद्ध होकर पूजा करे, बाकी स्नानकी जरूरत ही क्या है। और जो ऐसे ऊंचे श्रावक हैं, जो आरम्भका त्याग किए हुए हैं वे नवमीप्रतिमा, १०वीं प्रतिमा, शुल्लक ऐलक ये भी तो श्रावक हैं। ये स्नान तो उपवासके दिन करेंगे ही नहीं। उपवासके दिन अंजन या अन्य अनेक चीजें जो सूंघने की वस्तुये हैं उनका भी परिहार रहता है। यह तो एक उपलक्षण रूपमें कहा गया है, पर दिल ही बता देगा कि उपवासके दिन क्या क्या न करना चाहिए। जैसे नाच देखना, गाना बजाना, संगीत सुनना इनका भी त्याग उपवासमें होता है। हां जो धार्मिक भजन हों जिनमें आत्माका और परमात्माका स्वरूप ध्यानमें आये तो उसकी बात अलग है।

उपवास करनेके प्रयोजन व परिणाम—उपवास करनेका प्रयोजन क्या है? इन्द्रियोंका मद मारनेके लिए इन्द्रियमें प्रवृत्ति न बने, प्रमाद आलस्य आदिक भी न आये, आरम्भ आदिकसे विरक्त हों, इन सब प्रयोजनोंसे उपवास किया जाता है। उपवास करनेके लाभ अनेक हैं। जैसे कभी किसी समय मनके अनुकूल काम नहीं होता तो कोई उसके खिलाफ एक जिद्द सी बना लेते, ऐसालोकमें देखा जाता, तो यहां तो ज्ञानपूर्वक यह व्रती यह सोच रहा कि इन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति बहुत चलती है, मन भी

बहुत इन्द्रिय विषयोंमें जाता है तो इन सबको दण्ड देना, इन सब पर विजय प्राप्त करना है, ऐसे भावोंसे भी उपवास किया जाता है। उसका सम्बंध धर्मसे ही रहा। कोई अधर्म वृत्तिमें सम्बंध नहीं है, हां अपनी प्रशंसाके लिए उपवास न करना। मात्र विषयोंका अनुराग घटानेके लिए और आत्माकी भीतरी शक्ति बढ़ानेके लिए उपवास किया जाता है, उसके रस आदिककी लम्पटता समाप्त हो जाती है, निद्रापर विजय होती है और उपवासका सबसे बड़ा प्रभाव यह है कि बाहरी विकल्पोंसे हटकर यह अपने निकट बसता है। इसका नाम उपवास रखा गया है। उप मायने समीपमें वास मायने रहना। आत्मा अपने स्वरूपके समीप रहे याने आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनी रहा करे इसे कहते हैं उपवास। अब बतलाते हैं कि उपवासका दिन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए।

**धर्माभृतं सतृष्णः, श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसनतन्द्रालुः ॥ १०८ ॥**

उपवासमें ज्ञान ध्यान धर्मश्रवणकी मुख्यता—उपवास करने वाला गृहस्थ आलस्यरहित होता हुआ ज्ञानके अभ्यासमें धर्मध्यानमें तत्पर रहता है और धर्माभृतके पानके लिए उसकी तृष्णा बढ़ जाती है। तो मैं धर्माभृतका पान अधिक करूं, अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव करूं, इसके लिए उसकी बड़ी तैयारी रहती है और धर्माभृतका स्वयं भी पान करता है, सुनता है, पढ़ता है और दूसरोंको भी धर्माभृतका पान कराता है। उपवासके दिन धर्मकथा श्रवण करना चाहिए, तत्त्वकी बात, आत्माकी चर्चा करना चाहिए जिससे आत्माके सहज स्वरूपमें अपनी दृष्टि जाय आरम्भ आदिकमें या विकथाओंमें छोटे कथनोंमें समय बरबाद न करना। उपवासका सही फल तब प्राप्त होता है कि जब धर्म कथाओंमें धर्मध्यानमें अपना चित्त अधिक लग रहा हो। अब उपवासका लक्षणभेद अर्थ बतलाते हैं।

**चतुराहारविसर्जन-मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भभाचरति ॥ १०९ ॥**

उपवास व प्रोषधका तात्पर्य—उपवासका अर्थ तो है चारों प्रकारके आहारका त्याग करना। चार प्रकारके आहार ये हैं—(१) अशन, (२) पान (३) खाद्य और (४) स्वाद्य। रोटी दाल, चावल आदिक जिनसे उदरपूर्ति होती है वे अशन कहलाते हैं और जो पीनेकी वस्तु है दूध पानी आदिक वे पान कहलाते हैं, और जो खानेकी चीजें हैं याने पेट भरनेसे जिनका सम्बंध नहीं, केवल जीभ के स्वाद के लिए जो ग्रहण की जाती है जैसे पान, इलाइची, सौंफ आदिक ये खाद्य कहलाते हैं, लड्डू पेड़ा बर्फी आदि ये स्वाद्य कहलाते हैं। इससे यह जाहिर होता कि खूब मिठाइयां पकवान खा खाकर ही कोई अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। वह एक खाद्य है, असन नहीं है। स्वाद वह कहलाता है जो स्वादवाली चीज है जैसे लौंग इलायची चटनी वगैरह। इन चार प्रकारकी चीजोंका त्याग होना इसका नाम उपवास है औ धारणाके दिनमें एक बार भोजन करना प्रोषध है। उपवाससे पहले दिनका नाम धारणा कहलाता है, और उपवासके बादका या उपवासके खुलनेका दिन पारणा कहलाता है। तो

यों धारणा पारणाके मध्य प्रवेश होता है वह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहलाता है। इसमें १६ प्रहर व्यतीत हो जाते हैं। एक प्रहर ३ घंटेका। सप्तमीके दो प्रहर, रात्रिके ४ प्रहर, अष्टमीके दिनके चार प्रहर अष्टमीके रात्रिके चार प्रहर और नवमीके दो प्रहर इस प्रकार १६ प्रहर तक यह श्रावक धर्मध्यानमें अपना समय बिताता है। १६ प्रहरके आरम्भ छोड़कर रहता है, पश्चात् भोजन करता है, इसीका नाम तो प्रोषधोपवास है। अब प्रोषधापवासके अतिचार कहते हैं।

ग्रहणविसर्गास्तरणा-न्यहृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।

यत्प्रोषधोपवास-व्यतिङ्मनपञ्चकं तदिदम् ॥ ११० ॥

प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार—प्रोषधोपवास व्रतके ८ प्रथम अतिचार है बिना देखे, बिना शोधे उपकरणोंका ग्रहण करना, स्वाध्यायके उपकरण शास्त्रादिक, पूजाके उपकरण बर्तन आदिक इनको बिना देखे उठाना धरना, बिना शोधे धरना उठाना यह प्रथम अतिचार है। प्रोषधोपवासमें जीवदयाका विशेष पालन करता ही रहता है। जीवदया तो प्रतिदिन करना ही चाहिए, पर यहां आरम्भ आदिक कुछ नहीं कर रहे। केवल धर्मध्यान विषयक ही कुछ क्रिया चल रही है, सो उस क्रियामें उपवासकी आसक्ति आदिकके कारण यदि बिना देखे शोधे चीजोंको उठाये धरे तो वह अतिचार है। (२) दूसरा अतिचार है बिना देखे शोधे इन उपकरणोंका धरना या हाथ पैर आदिक पसारना। अगर हाथ पैर आदिक पसारनेकी जरूरत पड़े तो पहले देख भाल लिया कि नीचे कहीं कोई कीड़ी या अन्य जीवजन्तु तो नहीं है। बिना देखे शोधे हाथ पैर पसारना यह भी अतिचार है। (३) तीसरा अतिचार है बिना देखे शोधे वस्त्रादिकका, चटाई आदिकका धरना, उठाना बिछाना। जीव जंतुको न देखे या न शोधे, निर्जन्तु जमीन है ऐसा चित्तमें न जान पाया और बिस्तर बिछा दिया तो यह प्रोषधोपवासका तीसरा अतिचार है। (४) चौथा अतिचार है अनादर। उपवासमें आदर न करना यह अनादर नामका अतिचार है। एक उपवास कर भर लिया किसी प्रसंगसे दुनियाको दिखानेको अथवा किसी भी भावसे कर तो लिया उपवास, पर कुछ खा नहीं सकते अब। ऐसा विकल्प आना या उपवासमें जो क्रिया की जानी चाहिए धर्म वह न कर सके, ऐसे अनादरकी बात चित्तमें आये तो वह अनाचार नामका अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है विस्मरण। उपवासके दिन पाठ करने आदिकी कोई क्रिया भूल जाना या और और बातें भूल जाना यह है विस्मरण नामका अतिचार। ऐसे ये ५ प्रोषधोपवासके अतिचार हैं। यहां पर शिक्षाव्रतमें देशावकाशिक, सामायिक और प्रोषधोपवास इन तीन व्रतोंका वर्णन हुआ।

दानं वैयावृत्यं, धर्मायतपोधनाय गुणनिधये ।

अनेपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ १११ ॥

वैयावृत्यनामक चतुर्थ शिक्षाव्रतका निरूपण—इस छंदमें वैयावृत्य नामका चौथा शिक्षाव्रत बताया गया है। इसका दूसरा नाम है अतिथि सन्धिभाग व्रत। अतिथि अर्थात् मुनिजन, उनको विभवेन यथाशक्ति आहार औषधि आदिकका दान देना अतिथि सन्धिभाग कहलाता है। जो लोग एकान्ततः

समझ बैठे हैं कि मुनिके ख्यालसे आहार बनाना, चौका लगाना यह उत्कृष्ट दोष है, सो यह उनकी एक भूल है, यह कहलाता है अतिथि सम्बिभाग व्रत । यदि केवल मुनिके लिए ही चौका लगे तब तो उद्दिष्ट है, पर यह भाव हो कि आज मुनिको आहार दूंगा, उस भावसे वह सम्पूर्ण चौका शुद्ध करता है फिर वह उस चौकेमें खायगा । खाना तो उसे था ही, बनाना तो उसे था ही । आज वह अशुद्धिसे नहीं बना रहा, हिंसासे नहीं बना रहा तो यह उसके लिए गुण हुआ या दोष ? गुण हुआ । उद्दिष्ट दोष उसे कहते हैं कि जो केवल मुनिके लिए आहार लगाये, और अपने लिए जैसा रोज-रोज बनता था वैसा अलग बनाये वहां उद्दिष्ट दोष होता है । उद्दिष्ट दोषका प्रयोजन यह है कि गृहस्थको कष्ट न हो । कष्ट मानकर भोजन बनाया तो उसे तो कोई रिस्तेदार भी न खाना चाहेगा, फिर मुनिकी बात तो दूर जाने दो । तो जो श्रावक विभाग करता हुआ कि मैं मुनिको आहार दूंगा और खुद भी खाना तो है ही सो खायेगा वह अतिथि सम्बिभाग है । इसका दूसरा नाम वैयावृत्य है ।

वैयावृत्यमें दानकी मुख्यता—वैयावृत्यका अर्थ और और भी है । जैसे मालिस कर देना या पग दबा देना मगर वास्तवमें दानको ही वैयावृत्य कहा गया है । मानो कोई किसी मुनिके हाथ पैर तो खूब दबाये और उनके आहार भोजनकी कुछ खबर ही न करे, उसका भाव ही न बनाये और ऐसे हो जायें नगरमें सभी भक्त तो क्या उनकी वह वैयावृत्ति ठीक कहलायगी ? तो वैयावृत्यमें मुख्य है दान । सो जिनकी तपस्या ही धन है, जो गुणोंके निधान हैं ऐसे साधुजनोंको धर्म बुद्धिसे दान करना वैयावृत्य कहलाता है । जो पात्र तपश्चरणको ही वास्तविक धन जानता है, आत्माका कर्मकलंक मलरहित जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह अविनाशी धन देख तो लिया पर प्राप्त नहीं कर पाया और रागादिक कषाय भक्तोंको जतानेके लिए तपश्चरण रूपी धनको अंगीकार करता है, जिन्होंने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया, परम वीतराग दिगम्बर निरन्तर आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें ही जिनकी धुन रहा करती है उन तपस्वीजनोंको भक्तिपूर्वक आहार, औषधि आदिक दान करना । जैसे उनका भय मिटे, जैसे उनका धर्ममें मन लगे उस प्रकार उनकी वैयावृत्ति करना यह चौथा शिक्षाव्रत है । जो कि श्रावकका परम कर्तव्य है । देखिये बारह व्रत बताये गए हैं श्रावकके जिनमें पहला व्रत है अतिथिसम्बिभाग । बीचमें और भी १० व्रत हैं मगर जो अत्यन्त मुख्य व्रत हैं वह पहले नम्बरपर है और अंतिम नम्बरपर है । जैसे कि कोई लिष्ट बनायी जाय पुरुषोंकी तो जो सबसे प्रधान है । मुख्य है उसका नाम या तो पहले नम्बरपर सबसे ऊपर आता है या फिर सबसे नीचे बादमें । व्रतोंमें ये दो व्रत बड़े प्रधान हैं । यदि अहिंसा व्रत नहीं है तो फिर धर्म ही क्या रहा ? यदि अतिथि सम्बिभाग व्रत नहीं है तो फिर धर्मप्रवृत्तिका क्या अवकाश ? तो परम दिगम्बर व्रती यतीको अपने धर्मके प्रवृत्तिके लिए, मुनिजनोंके धर्मकी प्रवृत्तिके लिए और समाज भी उस धर्मपद्धतिमें लगे वर्तमानमें और भविष्यमें भी ऐसे धर्मकी प्रवृत्तिके लिए सेवा करना वैयावृत्य है ।

साधुजनोंकी धर्मधनता—धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यका । याने अपने आत्माका विश्वास हो कि मैं कोई परम पदार्थ हूं, ज्ञानानन्द मैं हूं, सर्वस्व मेरा मुझमें है । अपनी दृष्टिसे अपनेमें खोजते हैं मुनिराज । इससे अपने आप ऋद्धि विभूति मिलती है । कोई इसे भूलकर कोई बाहरी पदार्थोंमें सुखशान्ति खोजे तो उसको निरन्तर अशान्ति ही होगी । जितनी भी शिक्षा है उस शिक्षाका

प्रयोजन यह ही है कि मैं अपनेमें बसे हुए परमात्मस्वरूपको जान लूँ और सदाके लिए संकटोंसे रहित हो जाऊँ। सुख देने वाला शान्तिका घर अपने आपके आत्मामें है, अन्यत्र न मिलेगा। तो ऐसे अपने आत्माका विश्वास करना यह है सम्यग्दर्शन। और जैसे आत्माका विश्वास हो उस ही स्वरूपकी जानकारी बनाये रहना यह है सम्यग्ज्ञान। और बाहरसे हटकर अपने ही ज्ञानमें मग्न हो जाना यह है सम्यक्चारित्र। यह धर्मधन किसको प्राप्त होता है? जो पुरुष क्षमाशील हैं, गम्भीर हैं। उनको ऐसे अंतस्तत्त्वका दर्शन होता है।

क्षमा गुणके प्रभाव—क्षमा एक ऐसा महान्गुण है कि जिसके प्रतापसे सर्वगुण अपने आप विराजमान हो जाते हैं। पहली क्षमा तो यह है कि अपने आपको क्षमा कर दें याने वे दोष न होने दें जिन दोषोंके कारण खोटी प्रवृत्तियां होने लगती हैं। वह क्या दोष हैं? दूसरेसे ईर्ष्या करना, विरोध रखना, किसीके काममें विघ्न डालना, और असत्य वचन व्यवहार रखना। ये सारे वे दोष हैं जिनसे अपना भगवान् आत्मा इतना महान् विभूति धारक होकर भी संसारमें जन्म मरण करता रहता है। जिसने अपने आपको क्षमा कर दिया है अर्थात् अपनेमें दोष नहीं आने देता उसका व्यवहार ऐसा मनोज्ञ होगा कि जिससे सभी जीवोंको सुख शान्ति पहुंचेगी। सबसे बड़ा तपश्चरण है यह कि अपने आत्माको निर्दोष रखना। जिन जीवोंकी आदत ऐसी रहती है कि दूसरेके दोष ही दोष निरखते हैं और उन दोषोंकी आलोचनामें ही चित्त लगाये रहते हैं उनका ज्ञान भी नष्ट होता है, समय भी बरबाद होता है, किन्तु जो जीव अपने अन्तर्गत दोषोंसे देखते हैं कि मुझमें अभी इतनी कमी है। यह दोष है, यह दोष दूर करना चाहिए वह तो ज्ञानसे, ज्ञानप्रयोगसे दोषको दूर कर लेगा। किन्तु जो दूसरेके दोषको निरखनेमें ही अपना कल्याण होना कठिन। जो पुरुष परम वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुजन हैं उनको डबल एक ही काम पड़ा है कि अपनेमें बसे हुए भगवान् आत्माकी ही दृष्टि बनाये रहना, उसकी ही उपासना करना, उनके कोई दोष सम्भव नहीं है। पर गृहस्थ जनोंके अनेक दोष सम्भव हैं। सो जो विवेकी गृहस्थ हैं वे दूसरोंके दोष निरखकर अपना डबल दोष नहीं बनाते। एक तो खुदमें दोष भरे हैं, दूसरे दूसरोंके दोषोंको देखकर दोषोंका ही तो ज्ञेयाकार बनेगा सो दूसरेके दोषोंका बोझा अपने पर और भी ऊपरसे लाद लो। इतना डबल दोष करना अच्छी बात नहीं है। दूसरेके गुण निहारो, प्रत्येकमें गुण भी मिलते हैं, दोष भी मिलते हैं मगर गुणकी दृष्टि रखने वाले पुरुष अपना कल्याण कर लेते हैं और गुणीजनोंमें दोष कम हुआ करते हैं अथवा नहीं भी हुआ करते हैं। तो जिनको गुणोंकी पहिचान नहीं है वे वहां दोष बनाया करते हैं तो यह तो उनका बहुत ही बड़ा अपराध है। तो यों दोषोंकी निगरानी रखने वाले पुरुष अपना कल्याण नहीं कर पाते, इसलिए एक आदत यह दूर हो तो क्षमाभाव आयगा। दूसरेके दोष न निरखना, गुणोंपर ही दृष्टि देना और अन्य काम क्या पड़ा है? अपना कल्याण करना है तो अपनी साधना बनाना चाहिए।

क्रोध न करके क्षमालानेके प्रयास—सर्वप्रथम बात यह है कि हम सबको क्षमाशील होना चाहिए। क्रोध किया, गड़बड़ बोल गए तो उससे फायदा क्या हुआ कुछ विचारो तो सही। जो क्रोध करता है वह तत्काल अपनेमें घुन जाता है, पहली हानि तो यह है, दूसरी हानि यह है कि क्रोधमें जो

वचन निकल जाते हैं वे असंतुलित वचन होते हैं। उनका असर पता नहीं दूसरोंपर क्या पड़े? आखिर पीछे पछताना पड़ता है कि मुझे क्रोध क्यों आ गया? क्यों मेरे वचन खोटे निकल गए। तो दूसरी हानि यह है। तीसरी हानि यह है कि जिसपर क्रोध किया वह बलवान है तो उसी समय आपको पीट सकेगा, दण्ड दे सकेगा। चौथी हानि यह है कि कर्मबन्ध होता है जिसके फलमें आगामी कालमें भी दुःख भोगना पड़ता है। तो बताओ गुस्सा करनेमें कोई अपना लाभ हुआ क्या? तो अपने जीवनमें एक ऐसी साधना बनायें। ऐसा भीतरी ज्ञानप्रकाश बनायें कि प्रतिकूल बात सुननेपर भी किसीके द्वारा गालीके वचन सुनने पर भी अपनेमें क्रोध न आ सके। अगर किसीने यह साधना बना ली तो वह घरमें रहकर भी तपस्वीकी तरह है। यह साधना कैसे बनती है इसके लिए चिन्तन करें? जो यह बाहर खड़ा हुआ पुरुष है सो इसके आत्माका क्या स्वरूप है और मैं जो आत्मा हूं जीव हूं सो मेरा क्या स्वरूप है इन दो बातोंपर ध्यानदो बात कठिन नहीं है। जिसको यह नुक्ता समझमें आ गया वह चाहे छोटी उम्रका ही क्यों न हो, उसका बेड़ा पार है। और जिसको यह बात नहीं समझना है, जिसकी धुन विषय कषायोंकी बनी हुई है उसका तो जीवन बेकार है। जरा अपने चित्तको समाधान रूप करके विचार करें तो अपनी चीज और अपनेको समझमें न आये यह तो गजबकी बात कहलायगी। जैसे पानीमें रहने वाली मछली प्यासी रहे तो इसपर लोग आश्चर्य करते हैं ना इसीप्रकार ज्ञानानन्द स्वरूपमें बसे हुए हम ज्ञानानन्द न पायें तो यह भी बड़े गजबकी बात है। अवश्य पा सकते हैं, पर विषय कषायसे उपयोग हटाना पड़ता है।

क्षमापोषिका दृष्टि—यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है, अमूर्त है, आकाशकी तरह है। जिसमें मैं हूं, मैं हूं ऐसा ज्ञान होता रहता है सो वह अमूर्त आत्मा उसके मुख भी नहीं, जीभ भी नहीं, कान भी नहीं, ओंठ नहीं, शरीर नहीं। यह शरीर तो बाहरकी चीज है, सो यह आत्मा तो बोल नहीं रहा है और आत्माके स्वभावको देखो तो वह तो अविकार है, निरञ्जन है, उसमें बोलनेकी बात नहीं होती, पर कर्मउपाधि साथ लगी है सो यह कर्म उपाधि बुला रही है, इसका कुछ कसूर नहीं। एक बार दतियां स्टेटके राजा अपने हाथीपर सवार होकर कहीं जा रहे थे तो रास्तेमें कोई शराबी पुरुष मिला। वह था शराबके नशेमें, सो उसने राजाको देखकर कहा—ओ बे रजुवा अपना हाथी बेचेगा? तो उसकी बात सुनकर राजाको उसपर बड़ा क्रोध आया और कुछ कहना चाहा कि इतनेमें मंत्री बोला—राजन् इसे आप अभी कुछ न कहें, इसको राजदरबारमें बुलाकर फैसला किया जायेगा। और देखिये राजन्, इस समय यह पुरुष नहीं बोल रहा है, इस पर आप नाराज न हों, इसका फैसला दरबारमें हो जायगा। राजाने उसको दरबारमें बुलवाया, तब तक उस पुरुषका नशा उतर चुका था। जब राजदरबारमें वह पुरुष आया तो बहुत घबड़ा रहा था, कांप रहा था, उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि मेरेसे क्या कसूर बन गया। वहां राजा बोला—ओबे कोरी, क्या तू मेरा हाथी खरीदेगा? तो वह पुरुष बोला—राजन् यह आप क्या पागलों जैसी बात कर रहे? कहां आप राजा और मैं आपकी प्रजा, वह भी महा गरीब, मेरेमें कहां हिम्मत जो आपका हाथी खरीदूं। राजा उसकी बात सुनकर बड़े आश्चर्यमें पड़ा कि अब यह क्या कह रहा? वहां मंत्रियोंने राजाको समझाया कि राजन् वहां यह पुरुष नहीं बोल रहा था कि ओ बे रजुवा

क्या अपना हाथी बेचेगा? वहां तो इसकी शराबका नशा बोल रहा था। राजाको सही बात समझमें आ गई और उसे माफ कर दिया। तो ऐसे ही समझिये कि यहां जितने लोग गाली देने वाले हैं, विरुद्ध वचन बोलने वाले हैं उनका आत्मा तो भगवान परमात्माकी ही तरह है। मेरे स्वरूप की ही तरह है, वह खोटी प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु साथमें जो कर्म-लगे हैं उन कर्मोंका जो अक्स पड़ रहा बस वह बोल रहा है, यह नहीं बोल रहा है। यदि ऐसी बात समझमें आ गई तो वहां गालीका असर अधिक न होगा।

क्षमाप्राप्तिके योग्य चिन्तन—दूसरी बात यह सोचें कि अपने स्वरूप पर भी विचार करें कि जो मैं हूं वास्तवमें ये नाक, आंख, कान तो मैं नहीं हूं। यदि मैं नाक, आंख, कान होता तो या तो मैं मरता नहीं क्योंकि नाक, आंख कान तो रहते ही हैं या ये साथ जाते पर ऐसा तो नहीं होता। मरनेपर शरीर यहीं पड़ा रहता है, आत्मा निकलकर जहां जाना है जाता है। मैं वह हूं जो इस शरीरसे जुदा हूं। क्या यह गाली देने वाला पुरुष मेरे आत्माको जान रहा है? अगर जान रहा है तो वह गाली न दे सकता था। जब नहीं जान रहा तो वह तो इस नाक, आंख, कानको ही जान रहा सो गाली इनको ही पड़ रही, मेरेको नहीं पड़ रही। दूसरा चिन्तन यह करें। और तीसरा चिन्तन यह करें कि ये जो गालीके शब्द हैं ये निकले और बिखर गए, ये मुझमें धर नहीं करते हैं। इनका क्या मेरेपर असर होगा? ऐसा चिन्तन करके गाली सुन मन खेद न आवे। कुछ भी वचन सुनें, प्रतिकूल भी बात सुनें तो भी इतनी हिम्मत बनाना चाहिए कि अपनेमें क्रोध भाव न आ सके। यह सबसे महानगुण है, और साधुसंत पुरुषोंमें सबसे महानगुण यह क्षमा पाया जाता है। जो क्षमा यह साबित करती है कि इसमें अनेक गुण बिराजे हैं। तो अपने गुण विकासके लिए यह आवश्यक है कि क्रोधभावका परिहार करें, क्षमाशील बनें।

क्षमासे सर्वत्र आनन्द—आप यह शंका रख सकते हैं कि इस दुनियामें आजके समय यदि क्षमाशील रहा जाय तो जो चाहे सताता रहेगा, पर ऐसी बात नहीं है। कोई नहीं सता सकता। जो वास्तवमें क्षमाशील रहेगा वह गुणवान भी है, उसके वचन कायदेसे निकलेंगे। परिमित निकलेंगे और उसकी प्रतिभा भी बढ़ेगी। जो व्यवहार उससे होगा उस व्यवहारमें उसको कभी अशान्ति नहीं हो सकती। दूसरा भी उसे नहीं सता सकता है, बल्कि दूसरे लोग क्रोधियोंको सताया करते हैं, परस्परमें एक दूसरेसे बैर हो जानेसे परस्पर विवाद उन्हींमें होता है। तो क्षमा जीवनमें एक महान् गुण है। उस क्षमाको जिस प्रकार बने, विकसित करते रहना चाहिए। क्षमामें यह भी नहीं है कि जो कमजोर है उसे तो क्षमा न करें और जो बलवान हैं उसको क्षमा कर दें। बलवानको जो क्षमा करता है वह क्षमा नहीं है किन्तु वह तो विवश होकर क्षमा करता, उसके तो भीतर ही भीतर गुड़गुड़ाहट चलती रहती है, जिसमें संक्लेश बढ़ता जाता है। जो अपनेको क्षमा नहीं कर सकता वह क्षमाशील नहीं कहलाता। हां जो अपनेको एक तरहसे क्षमा कर सके समझना चाहिए कि वह बड़े पुरुषोंको भी क्षमा कर सकता है। क्षमा तो वीर पुरुषोंका भूषण है। कायरोंसे क्षमा नहीं बन सकती है।

क्षमा लाभके साधनीभूत अन्तस्तत्त्वके दर्शनके लिए धर्मशिक्षणकी आवश्यकता—आत्माके जो गुण हैं उन गुणोंको पानेके लिए जिसे क्षमा चाहिए तो यह आवश्यक है कि हम अपने आत्माके सही स्वरूपको जाने तब वास्तवमें क्षमा हो पायगी। जैसे कोई बच्चा किसी सभामें रोता है

तो उसकी मां उस बच्चेका मुख दाबकर उसका रोना बंद करती है, उसके ओंठ दाबती है पर उसके ओंठ दाबनेसे कहीं उसका रोना बंद नहीं हो जाता, बल्कि उसका रोना और भी बढ़ जाता है ऐसे ही जबरदस्ती अपनेमें गुण बनानेसे क्या गुण आ जायेंगे? अरे गुण जब आयेंगे तो सहज ही आयेंगे। और उसका आधार है आत्माकी सच्ची समझ बनाना कि मैं क्या हूं। और यह समझ धार्मिक ज्ञान बिना नहीं बन सकती। इसलिए धर्मशिक्षणसे अपने आपको कुशल बनायें, सम्यज्ञानी बनायें। तो जो ऐब हैं व्यसन न करना, दूसरोंको न सताना आदिक जो भी गुण हैं वे सब गुण उसमें सहज आ सकते हैं। इसके लिए मुख्यतया चाहिए कि हम अपने आत्माका ज्ञान करें और उसके लिए चाहिए कि हम ऐसी शिक्षा पायें। धार्मिक शिक्षण लें ताकि हम अपने आपको समझ तो सकें सही कि मैं क्या हूं? अगर आत्माको सही समझ लें तो सर्वगुण यहां प्रकट होंगे और निकट कालमें निर्वाणको भी पायेंगे जो सदाके लिए ये जन्ममरण, ये सारे संकट छूट जायेंगे और सिद्ध भगवान हो जायेंगे जिनको आप णमोकार मंत्रमें रोज-रोज नमस्कार करते हैं—णमो सिद्धाणं। जिसको नमस्कार करते वह बड़ा ही तो होगा। बताओ ऐसा बड़ा हम आपको भी होना चाहिए या नहीं? यदि सदाके लिए इन संसारके संकटोंसे छूटना है तो आत्माका ज्ञान कीजिए। धर्म शिक्षण प्राप्त कीजिए जिससे अपने स्वरूपमें संतोष पानेका मौका मिल सके, फिर क्षमा आदिक गुण सहज ही प्रकट हो जायेंगे।

मोक्षमार्गी ऋषि संतोंका वैयावृत्य करनेमें श्रावकका प्रमोद—जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चास्त्रिके धारक हैं, अपने आत्माके सहज स्वभावको निरखते रहनेकी जिनकी धुन है, जिन्हें अंतस्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ सुहाता नहीं है, ऐसे परम पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर, जिनके न कोई रहनेका ठौर है, न मठ है, न आश्रम है, एकाकी अथवा गुरुजनोंके चरणोंके साथ रह रहे हैं जिस किसी भी स्थानमें, बनमें, गुफावोंमें, नदीके तटपर, या ऐसे स्थान पर जहां असंयमी लोगोंका आना जाना विशेष न हो, और थोड़ा ठहर कर विहार भी किया करते हैं, जो असंयमीजनोंका संग नहीं रखते हैं ऐसे परम पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर जब कभी घरके सामनेसे आयें आहारचर्याके लिए तो यह श्रावक अपनेको अहोभाग्य समझता है। जीवनकी सफलता समझता है, भक्तिपूर्वक पड़गाह कर उन्हें आहारदान करता है, साधुजन अलौकिक पुरुष कहलाते हैं। लौकिक पुरुषोंकी जो रीति नीति है उससे अलग रीति है साधु पुरुषोंकी। लौकिकजन स्नान करते हैं, इनके स्नानका त्याग है। दुनियावी लोग खाट पलंगपर, बड़े-बड़े सेजों पर सोते हैं और ये मुनिजन चाहे पहले राजा थे, सुकुमाल थे फिर भी भूमिपर, काठपर सोते हैं। दुनियाके लोग आरामसे बैठकर मौजसे भोजन करते हैं, इन मुनिजनोंको अपनी धुनके कारण इतना भी समय नहीं है कि वे मौजमें बैठकर खा सकें। वे खड़े ही खड़े भोजन करके चल देते हैं।

साधु संतोंका ध्येय वीतरागताकी सिद्धि—लोग वस्त्राभूषणसे अपने अंगोंकी सजावट करते हैं, केशोंकी सजावट करते हैं और ये मुनिजन वस्त्राभूषणकी सजावटके तो अत्यन्त ही त्यागी है, पर केशोंकी भी सजावट नहीं करते, केशलुञ्च करते हैं, जिससे उनका सिर अटपट सा हो जाता है। ये सारी बातें क्यों करते हैं? ब्रह्मचर्यकी सिद्धिके लिए और अपने आत्मामें रमणकर संतुष्ट होनेके लिए। मुनिजनोंका ध्येय परम वीतरागताकी सिद्धि करना है। लौकिकजन या देवगण पूजा करें प्रशंसा आदिक

करें पर उनके चित्तमें इसकी रंच भी चाह नहीं है। धुन है केवल यह कि मैं आत्माके सहज स्वरूपको जानूँ और उसमें ही रमण करूँ। उनकी वाञ्छा यह भी नहीं रहती कि परलोकमें मैं इन्द्र बनूँ, बड़ा धनिक राजा बनूँ, ऐसी चाह होना तो दूर ही रहा। इसमें वे रागरूप अंगारे कर तप्त तृष्णाको बढ़ाने वाली विभूति समझते हैं। कोई मुनिराजका देहान्त हुआ तो उसके बाद वह देव होगा, देवियां मिलेंगी, कुछ वहां राग होगा, नटखट होगा, यह बात ध्यानमें आनेसे भी खेद मानते हैं कि मेरा यह पवित्र जीवन, परम ब्रह्मचर्यका जीवन और यदि मुझे स्वर्गमें उत्पन्न होना पड़ेगा तो देवदेवियोंका वह बोलचाल राग सब बढ़ताजायगम। अभी तक इतना पढ़ सके, अब फिरसे वही पाटी पढ़नी पड़ेगी जो रागमें की जाती है। वे स्वर्गमें उत्पन्न होनेको क्या तरसेंगे? जो उस स्वर्गकी बात सोचकर खेद करते हैं कि ऐसे अलौकिक पवित्र जीवनके बाद ऐसा भोगना पड़ेगा, तो ऐसे परमविरक्त साधुजनोंका वैयावृत्य करनेका लाभ अनन्तकालमें भी दुर्लभ है।

आहार करनेमें साधुसंतोंका प्रयोजन—साधुजन देहसे इतना विरक्त हैं कि उनके उमंग नहीं चलती कि मैं आहारको जाऊँ, पर यह जानते हैं कि आहार आदिक किए बिना जीवन नहीं चलता और यों अगर कुसमयमें मरण हो जायगा। हम अपनी साधनामें पूर्ण न हो सके और यों ही मरण बन गया तो आगे असंयमी जीवन व्यतीत करना पड़ेगा, और और भी छोटे परिणामोंका जीवन बन जायगा। इसलिए थोड़ा जिन्दा रहें और रहे सहे जीवनमें आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपका ध्यान धरकर मग्न होनेकी धुन रखकर अपनेको कृतार्थ करलें। इस भावनासे उन्हें आहारके लिए उठना पड़ता है, सो रत्नत्रयका सहकारी जानकर आहार लेते हैं। आहार नहीं है रत्नत्रयका सहकारी, बाह्य सहकारी है, यह शरीर जिसमें मिल रहा है। यह रहेगा तो हम अन्तः धर्मसाधना करते रहेंगे। जिसकी रत्नत्रयकी धुन है उसकी बात कही जा रही है। कहीं सभीके लिए धर्मका सहकारी न बन जायगा जीवन जो अपने जीवनको जैसा ढालना चाहता है वह ढालता है। सो मुनिजन आहारको जाते हैं, सरस मिले, नीरस मिले, ठंडा मिले, गरम मिले, कड़ा मिले, नरम मिले, शुद्ध भोजन ग्रहण करके रत्नत्रयकी रक्षाके लिए वे कृतघ्न देहकी रक्षा करते हैं। मुनिजन जानते हैं कि यह देह कृतघ्न है। कृतघ्न उसे कहते हैं कि कितना ही उपकार उसका किया जाय तो भी उपकारक का उपकार भूल जाय, बल्कि उससे विपरीत चलने चले, ऐसे विपरीत चलने वालेको कहते हैं कृतघ्न। तो यह देह भी कृतघ्न है इस देहको कितने ही रसीले भोजन कराये जाते हैं, बड़ा इसको पुष्ट कराया जाता है, उसका उपाय बनाया जाता है और इस शरीरको देख देखकर लोग खुश होते हैं, दिन भरमें कमसे कम दो बार तो आयनेमें अपना चेहरा देख ही लेते होंगे। बाल संवारना, कई-कई बार नहाना, आयनेसे अपना चेहरा देख-देखकर खुश होना, हां हमारा देह ठीक है, पुष्ट हो रहा है, तो जिस देहके पीछे यह जीव इतना मर रहा वह देह इस जीवके लिए पापका ही कारण बनेगा, नरकादिक खोटी गतियोंमें पहुंचानेका साधन बनेगा। तो इससे अधिक कृतघ्न क्या कहा जाय देहकी फिर भी वे मुनिजन इस कृतघ्न देहकी रक्षा करते हैं इस कारण कि देह रहेगा तो इस शेष जीवनमें हम रत्नत्रयकी साधना बनायेंगे। यदि यों ही जल्दी हठमें कि हम तो मरण ही करेंगे, हमें जीना नहीं है और यों अकालमें देह नष्ट हो जायगा तो मरकर देवादिक बनेंगे। असंयमी

रहेंगे और वहां असंख्यात काल पर्यन्त असंयम रहेगा, मैं रागभावमें आकर नाना कर्मबंध करूंगा। तो वे जान रहे कि यदि मैं इस देहको व्यर्थ ही असमयमें मार दूं समाधिमरणके नामका बहाना करके, तो एक यह देह ही तो मरा, तो न मरेगा, आगे नया देह मिलेगा। तो मुझे इस देहके मारनेसे नफा नहीं है, किन्तु इस देहके उत्पन्न होनेका बीज जो कार्माण शरीर है उसको नष्ट करना है, और वह कार्माण शरीर यों नष्ट नहीं होता। आत्मस्वभावका ध्यान बने, उसमें रमण बने तो ऐसे अनुभवोंसे यह कार्माण देह नष्ट होगा, कार्माण शरीर नष्ट होगा। तो इसके लिए क्या करना? कषायोंका जीतना विषयोंका निग्रह करना।

साधुकी निर्दोष क्रियाविधिसे आहारादिवर्था—आहार आदिक क्रियायें करनी पड़ें तो साधु निर्दोष विधिसे क्रियायें करते हैं। साधुके लिए ही जो भोजन बने उसे साधु ग्रहण नहीं करते, गृहस्थका भोजन बन रहा, गृहस्थका भी भाव बना है कि मैं साधुको आहार कराकर खाऊंगा। यह तो गृहस्थका एक अतिथि सम्बिभाग व्रत है। यह हो तो वैयावृत्य शिक्षाव्रत है। जान जाये साधु कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है, इतना कष्ट उठाया है तो साधुजन भोजन नहीं लेते हैं और विधि मिलनेपर भोजन ग्रहण भी करते हैं तो आधा पेट भोजनसे भरते हैं, चौथाई भाग जलसे भरते हैं और चौथाई भाग ध्यान अध्ययनमें प्रमाद न आये उसके लिए खाली रखते हैं। जिनको कुछ लिप्सा नहीं, जो नाम नहीं चाहते, नेवतेसे बुलाये जाने पर नहीं जाते, याचना करके नहीं खाते, हाथसे संकेत करते नहीं, ऐसे साधुजन भिक्षावृत्तिसे गृहस्थके घरके आगेसे निकलें और गृहस्थ यों ही देखता रहे, तो यह सदगृहस्थ से न बनेगा। वह तो विधिपूर्वक पड़गाह कर आहार करायगा। आजकल समस्या कुछ यों कठिन हो गई कि शुद्ध आहार बनानेकी पद्धति न रही। अगर कुछ सोचें तो यह पद्धति प्रत्येक घरमें रोज हो सकती है। वह कैसे? दाल चावल तो पीसने नहीं पड़ते। हां टोंटी वाले नलका पानी न हो, चमड़े वाले नलका पानी न हो, पानी बावरी कुवे आदिका हो। फिर तो दाल, चावल और उसके साथ फल सब शुद्ध रह सकते हैं। हां थोड़ा हाथके आटे की जरूर दिक्कत मान सकते क्योंकि आजकल प्रायः लोगोंने घरमें हाथसे आटा पीसनेका काम ही बंद कर दिया। तो उसमें भी साधुजनोंकी कहीं यह अपेक्षा नहीं होती कि मुझे आटेकी चीज रोटी पूड़ी वगैरह मिले। वे तो विरक्त बुद्धिसे रत्नत्रयका साधन जानकर इस जीवनकी कुछ रक्षाके लिए आहारको उठते हैं। अतः इतनी बात यदि प्रत्येक घर चला सके केवल दाल चावलका शुद्ध निर्माण, जिसमें कुछ दिक्कत ही नहीं पड़ती सो वह तो रोज भावना रख सकता है कि मेरे यहां कोई साधु आयें और हम उनको आहार कराकर खायें। ऐसे विरक्त चित्त साधुजनोंको आहार आदिक दान देना सो वैयावृत्य है।

साधु वैयावृत्यमें सदगृहस्थकी भावनायें—ये गृहस्थ किस भावनासे मुनिजनोंको आहार कराते हैं? वे इस आहारके एवजमें कुछ भी वाञ्छा नहीं रखते। ये मुनिराज प्रसन्न होकर मेरा भी कुछ उपकार कर देंगे या हमको विद्या मंत्र आदिक देंगे अथवा मुनिवरोंको दान करनेसे मेरे नगरमें दाताके रूपमें मान्यता बढ़ जायगी। ऐसी कुछ भी भावना वह गृहस्थ नहीं रखता है, केवल रत्नत्रयकी मूर्तिको निरखकर रत्नत्रयको ही पसंद करने वाला श्रावक उस रत्नत्रयकी मूर्तिके नातेसे उससे नहीं रहा जाता है और रत्नत्रयके साधकोंकी वैयावृत्य करता है। दातार की अन्य कोई वाञ्छा नहीं है किन्तु रत्नत्रयके प्रमोदमें

वह रत्नत्रयधारीकी सेवा करता है। सदगृहस्थ मुनीश्वरोंको आहार देनेके एवजमें लौकिक भी कोई वाञ्छा नहीं करता। इनके चरण घरमें आनेसे, इनकी वैयावृत्य करनेसे मेरे घरमें अटूट धन हो जायगा ऐसा न विकल्प रखता, न वाञ्छा रखता। सिर्फ रत्नत्रयके धारियोंमें ही मुनीश्वरोंकी भक्तिके कारण अपने आपको कृतार्थ मानता है और गृहस्थ जीवनको सफल मानता है। यदि मेरा धन इन साधु संतोंके काममें लगेगा तो मेरा धन सफल है, गृहस्थी सफल है, जीवन सफल है और अपने लिए अपने घर कुटुम्बके लिए तो सभी लौकिकजन उद्यम करते हैं। यहां तक कि पशु भी ऐसा ही मोह रखते हैं जिनको परिवार समझा उनके लिए वे सब कुछ करनेको तैयार रहते हैं। तो उससे क्या है? कर्मबंध हुआ, परिणाम खराब किया और मरकर खोटी गतिमें गए। तो ऐसे कुटुम्बीजनोंके लिए ही मेरा सब कुछ है ऐसे भावमें तो दुर्गति ही है और जिसको साधु संतोंको निरखकर प्रसन्नता जगती है वह उनकी वैयावृत्तिके लिए सबकुछ अर्पण करनेको तैयार रहता है। ऐसा प्रमोद उठता है रत्नत्रयके इच्छुक श्रावकके चित्तमें। तो एक इस रत्नत्रय धर्मके नाते साधुजनोंकी वैयावृत्य सदगृहस्थ करते हैं।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनां ॥ ११२ ॥

साधुवैयावृत्यमें अन्य सेवायें—पूर्व श्लोकमें आहार आदिक द्वारा वैयावृत्य करनेकी मुख्यता कही गई थी। मुख्य बातका वर्णन करनेके बाद अब यहां इस छंदमें कहा गया है कि अन्य प्रकारसे भी वैयावृत्य करना चाहिए। जैसे कोई संयमीजनों पर आपत्ति आये उसे दूर करना, संयमीजनोंके चरण दाबना, संयमीजनोंके गुणोंका अनुराग करना, उनकी सेवाके लिए कुछ समय बैठना आदिक भी वैयावृत्य सदगृहस्थके द्वारा की जाती है। किसी देव या मनुष्य या तिर्यञ्च या किसी अचेतन पदार्थके कारण कोई उपसर्ग आया हो तो अपनी शक्ति प्रमाण उपसर्गको दूर करता है वह श्रावक। चोर, भील, दुष्ट आदिक मार्गमें इन्हें कुछ तकलीफ पहुँचायें और परिणामोंमें किसी प्रकारका कष्ट रहे तो यह श्रावक उनको धैर्य धारण कराता है। मार्गमें खेद न हो सो पैर दाबना आदिक सेवा करता है। यत्नाचारसे उनका आसन शैया शोधता है। यत्नाचारसे उन्हें उठाता, बैठाता है। रोगी हो तो सब यत्नाचारसे उनकी सेवा करता है, मल मूत्रादिक कराता है, अगर किसी साधुसे अबुद्धि पूर्वक मल मूत्रादिक किसी स्थानपर हो जाय जहां कि न किया जाना चाहिए, तो बड़े यत्नसे उठाकर ढंगकी जगहमें क्षेपण करता है। रोगी हो वो औषधि आदिकसे वैयावृत्ति करता है। जिस समय जो वस्तु देने योग्य है उस समय उस वस्तुको देता है। मतलब यह है कि साधुके अनुकूल प्रवृत्ति करना गृहस्थका कर्तव्य होता है। साधु किसी गृहस्थके बर्तावके कारण दुःखी रहे तो उस गृहस्थका जीवन किस काम का? जिसमें साधुजनोंको निर्मलता आये, निःशल्कता बढ़े, अपने उद्देश्यमें उनको उत्साह जगे ऐसे साधन जुटाये यह किसी किसी ही भाग्यवान श्रावकको प्राप्त होता है। ऐसे संयमी जनोंके गुणोंमें अनुराग करके जितना भी उपकार बने, करना यह सब वैयावृत्य है।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।

अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ ११३ ॥

सप्तगुण सहित श्रावक द्वारा साधुवोंका वैयावृत्य—वैयावृत्यमें आहारदान सबसे प्रधान वैयावृत्य है। सो उस आहारदान की विधि विधान बतानेके लिए इस छंदमें श्रावकोंका कर्तव्य बताया गया है। कैसा दातार आहार दानदे जो ७ गुणों सहित हो? वे ७ गुण कौन हैं। (१) पहला गुण है यह कि दान देकर वह लोक सम्बन्धी कोई फल नहीं चाहता। देखिये दातार यदि महान् है और पात्र भी महान है और बड़ी महान विधिसे आहार दिया जा रहा है तो उसकी बहुत बड़ी विशेषता होती है। दातार इस लोकमें अपनी प्रसिद्धिके लिए आहार नहीं कराता, मैं लोकमान्य होऊं, राजमान्य होऊं, धन धान्य मेरे बढ़े, यश कीर्ति मेरे प्रकट हो, ऐसा कोई फल नहीं चाहता। (२) दातारका दूसरा गुण है कि वह क्षमाशील होता हुआ ही आहार देता है। श्रावक क्रोध कषायको प्राप्त नहीं होता कि आज बहुत मुनि आहार लेने वाले हैं, किस किसको आहार दें? ऐसी भीतरमें अपनी उलझन नहीं बनाता। क्रोध न करके मुनिवरोंको, उत्तम श्रावकको दान करता तो वह दातारका दूसरा गुण है। (३) दातारका तीसरा गुण है कि कपट भावसे पात्रको आहार आदिक न कराये। कपटके मायने हैं कि सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। लोगोंको भक्ति का दिखावा करना यह कपटका काम कहलाता है। हमें भी मोक्ष चाहिए ऐसा उद्देश्य बनाये बिना श्रावकमें सहज योग्यता नहीं आ पाती जो विधिमें सही मानी जाती है। (४) दातारका चौथा गुण है ईर्ष्या न रखना। अन्य दातासे ऐसी ईर्ष्या रखे कि इससे अधिक बार मेरे घर आहार होना चाहिए अथवा मैं इस ढंगका आहार करवा दूं जिससे इस दूसरेका यश घट जाय इस प्रकारकी कोई ईर्ष्याकी बात नहीं रहती है श्रावकके चित्तमें। श्रावक तो एक रत्नत्रयके नाते ही रत्नत्रय धारियोंकी वैयावृत्ति करता है। (५) पांचवां गुण है दातारका कि वह दानमें विषाद नहीं मानता। दान भी देता जाय, व्यवस्था भी बनाता जाय और भीतरमें खेद माने कि क्या करूं, मैं सब लोगोंमें अपनी उच्चता रखता हूं, अगर मैं ऐसा न करूं तो मेरा बड़प्पन घट जायगा इसलिए करना तो पड़ेगा, ऐसा विषाद मानता हुआ श्रावक आहार आदिक नहीं कराता, किन्तु हर्षसे, उमंगसे उनके रत्नत्रय गुणोंका चिन्तन करके प्रसन्नतासे वैयावृत्य करता है। (६) छठवां गुण है श्रावकका आनन्द मानना। किसी पात्रका संगम मिल जाय और निर्विघ्न आहार हो जाय तो उसका ऐसा आनन्द मानता जैसे मानो कोई अपूर्व निधि प्राप्त करली हो। ऐसा प्रमोदभाव जगना यह श्रावकका गुण है। (७) सातवां गुण है निरहंकारता—आहार देनेका अहंकार भी श्रावक नहीं करता।

पञ्चसून रहित साधुवोंका श्रावक द्वारा वैयावृत्य—सप्त गुणोंसे सहित श्रावक पंचसून रहित साधुजनोंको आहार आदिक कराता है। पंचसून कहलाते हैं गृहस्थीमें करनेके काम। वे मुनियोंके पास नहीं हैं जैसे चक्की, चूल्हा, ओखली, बुहारी, परिंडा आदि। ये पंचसून तो श्रावकके करनेके हैं, मुनिजन इन्हें नहीं करते। आज कल तो श्रावक लोग भी करीब-करीब ये सब काम छोड़ बैठे: मानो आज सभी श्रावक मुनिजनोंकी तरह पंचसूनोंसे रहित हो गए। मानों श्रावक लोग इन मुनियोंसे होड़ कर रहे हैं

(हंसी) । चूल्हा घरमें रहा नहीं, गैस आ गई, झट से गैसके कान ऐंठे और काम शुरू कर दिया । ओखली भी किसीके घर नहीं रही । बुहारी देनेका काम भी नहीं रहा । बुहारी देनेको नौकर रख लिया । यह भी ध्यानमें न रहा कि यदि खुद यह काम कर लेते तो कितनी ही जीव हिंसा बचती । बुहारी भी यों छूटी । पानी भरनेकी जगह परिंडा भी न रहा । परिंडा उसे बोलते जहां ५-७ पानीसे भरे घड़े रख जाते, कहीं कहीं घिनौची भी बोलते, तो परिंडा भी अब नहीं रहे, टोंटी वाले नलोंका कान ऐंठा और पानी पी लिया । तो मानों श्रावकजन आजकल पंचसूनोसे रहित होकर मुनियोंकी तरह रह रहे हैं, पर यह बात उनके लिए योग्य नहीं । ये पंचसून गृहस्थमें होते हैं और यत्नाचारसे होते हैं । नौकरोंसे इन आरम्भोंके करानेपर जीवदया नहीं पलती । खुद आरम्भ करे तो देखभाल से जीवदया पल जाती है । पंचसूनोसे रहित मुनिवरोको श्रावक आहार कराकर कृतार्थ होता है ।

पात्रको आहार देनेके प्रसंगमें की जाने वाली नवधा भक्तिमें प्रथम भक्ति प्रतिग्रह—श्रावकके बारह व्रतोंमें अन्तिम वैयावृत्य नामका शिक्षा व्रत बताया जा रहा है । मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और भी श्रावकजनोंका यथायोग्य वैयावृत्य करना, सेवा करना, आहार आदिक देना यह वैयावृत्य कहलाता है । सो मुनि या श्रावक जो जिस पद में है उसके अनुसार नवधा भक्ति करता हुआ श्रावक आहार देता है । (१) पहला तो है संग्रह, जिसका दूसरा नाम है प्रतिग्रह अर्थात् पात्र मुनि, क्षुल्लक आदिक आहारचर्याके लिए जा रहे हों तो यह श्रावक प्रथम त्रिवार नमस्कार बोलता हुआ त्रिवार कहेगा कि तिष्ठ-तिष्ठ याने यहां ठहरिये तो वह जान जायेंगे कि आहारके लिए भक्तिपूर्वक बुला रहा है । और इसके आगे भी जितना बोला जाता है उतना प्रतिग्रहमें बोलेगा, जो बात आगे करेगा उसका निवेदन करता है । अन्न जल शुद्ध है । मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, पधारिये ऐसे विनयपूर्वक शब्दोंमें वह पात्रको बुलानेकी, घरमें पहुंचनेकी प्रार्थन करेगा । अनेक बार आदरपूर्वक विनयकी बात कह कर अपने भाव बतायेगा । देखिये बिना बुलाये, बिना प्रीतिके वचन कहे कोई छोटा पुरुष भी भोजन नहीं करता । कहना ही पड़ता, आइये, पधारिये, विराजिये, । और उनके फिर पैर भी धुलायेगा । एक साधारण रिस्तेदार या अन्यकी बातमें भी चौकेमें चलियेगा, भोजनको चलियेगा, भोजनकी बात भी बतायेगा । फिर तो ये पात्र हैं—मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका ये सब पात्र हैं, योग्य हैं, धर्मगुरु हैं । इनको बड़े विनयपूर्वक श्रावक अपने घरले जाता है । घर पहुंचनेपर उच्च स्थान देता है । नवधा भक्ति प्रायः सबकीकी जाती है, पर उसमें विशेषता पात्रके अनुसार होती है । आप अपने साधर्मिको, रिस्तेदारको भी भोजन करायेंगे तो इतनी बातें सामने आती हैं । भले ही कोई विचार नहीं रखता भक्ष्य अभक्ष्यका तो उसको यह नहीं कहा जाता कि यह भी शुद्ध है यह भी शुद्ध है, मगर बुलाना, ऊंचे आसनपर बैठालना । उनको पैर धोनेको पानी देना आदिक साधारण बातें प्रत्येकके होती हैं । यहां मुनिराज नवधा भक्तिके बिना नहीं जाते आहारमें । उसमें यह न समझना कि कोई अभिमानकी बात है । मुनिराज मौन पूर्वक हैं, कुछ पूछ सकते नहीं हैं, सो वे नवधा भक्तिसे ही जानते हैं कि यह आहार शुद्ध है । जो जैन शासनकी विधिको नहीं जानता उससे कैसे आशाकी जा सकती है कि उसने आहार शुद्ध बनाया है । नवधा भक्ति देखकर

मुनिजन यह ज्ञान करते हैं। यह धर्मात्मा है, दानकी विधि जानता है, आहार तो शुद्ध होगा ही सब बातोंकी परीक्षा श्रावककी नवधा भक्ति देखकर होती है।

पात्रको आहार देनेके प्रसंगमें कृत्य नवधा भक्तिमें वर्णित प्रतिग्रहके अतिरिक्त शेष आठ भक्तियाँ—(२) दूसरी भक्ति है—पड़गाहनेके बाद उच्च आसन पर बैठाना। (३) तीसरी भक्ति है—प्रासुक जलसे हाथ पैर धुलाना। (४) चौथी ये धर्मात्माजन हैं, इनके चरण बहुत पानीसे न धुलेंगे, इतना जानना आवश्यक है इतने ही पानीसे धोना ताकि पानी अधिक बहे नहीं और जीवोंको बाधा न पहुंचे यह चौथी भक्तिमें है। जैसा अवसर देखा, जैसा पात्र हुआ उसके योग्य पूजन स्तवन पूज्यपनाके वचन कहना। थोड़ा समय है तो अर्घ ही दे दिया, विशेष समय है तो पूरी पूजा ही पढ़ ली। तो अवसर और पात्रताके अनुसार पूजन विनय आदिक करना। (५) ५वीं भक्ति है मुनि श्रावककी योग्यतानुसार नमस्कार आदिक करना। जैसे मुनिको अष्टांग नमस्कार है। क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका आदिकको पञ्चाङ्ग नमस्कार है तो यह प्रणाम नामकी भक्ति है। (६) छठवीं भक्ति है मनकी शुद्धि रखना—देखिये पड़गाहनेके समय जो मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि कहा है, जो अपनी शुद्धिका निवेदन किया है उसमें केवल शब्द कहने मात्रसे बात न बनेगी। मनसे शुद्धि रखना, ७वीं वचनसे शुद्धि रखना, अयोग्य वचन न बोलना। (८) कायसे शुद्धि रखना अर्थात् यत्नाचारसे इस कायकी प्रवृत्ति करना, जिसमें किसी जीवको बाधा न हो। (९) एषणा शुद्धि—यत्नसे उठना, देखकर ही चलना जिसमें किसी जीवको बाधा न हो सके। ऐसी नवधा भक्तिपूर्वक श्रावक मुनिजनोंको आहारदान करता है। मायने भोजन शुद्ध होना, जैसा पात्रके लिए योग्य चाहिए दिनमें ही बनाना, शोधकर बनाना, शुद्ध होकर बनाना ऐसा भोजन एषणाशुद्धि कहलाता है।

पात्रदानमें नवधा भक्तिकी अनिवारित आवश्यकता—देखिये नवधा भक्तिकी आवश्यकता किसको हुई है। नवधा भक्ति देखनेकी आवश्यकता मुनियोंको हुई है, और नवधा भक्ति करनेकी आवश्यकता श्रावकोंको हुई। जिस श्रावकके धर्मके प्रति आदर नहीं है याने धर्महीन है तो धर्महीनके यहां मुनिजन आहार नहीं ले सकते। अब यह कैसे पहिचानमें आये कि यह धर्महीन है, धर्मानुराग इसमें नहीं है, तो उसकी भक्ति देखकर ही जान सकेंगे कि यह धर्मात्मा गृहस्थ है, और यहां आहार लिया जाना योग्य है। जिसको धर्म प्रिय होगा, धर्मात्मामें अनुराग होगा वह पुरुष योग्य दातार है। पात्रके गुणोंमें जिसके हर्ष नहीं हो रहा, प्रीति नहीं हो रही या मनमें कुछ और सोच रहा, तो यों आहार देना निष्फल है। प्रीति पूर्वक रत्नत्रय धर्मकी भीतर प्रेरणा मिलतीहो सो ऐसी परीक्षा तो भक्तिसे ही हो सकती है। सो मुनिजन नवधा भक्तिको देखते हैं साधारणतया, उसमें त्रुटि हो तो यह जानकर कि इस भाईको धर्म विधिका ज्ञान नहीं है, अन्य जगह भी त्रुटि की होगी ऐसा अंदाज करके वे वहांसे चल देते हैं। सो ये श्रावक नवधा भक्तिसे आहार, औषधि, शास्त्र आदिकका दान करते हैं। यदि क्षुल्लक ऐलक, अर्जिका आदिहो तो उनके योग्य वस्त्र आदिकका भी दान करते हैं, और ऐसे वस्त्र देते हैं जिससे रागद्वेष न बढ़े, घमंड न बढ़े, मोह, काम, आलस्य, चिन्ता अभिमान आदिक न होवे ऐसे ही द्रव्योंको यह योग्य श्रावक प्रदान करता है।

तप ध्यान संयमकी सिद्धिके लिए साधुवोंकी आहारचर्या—आहार लेनेका प्रयोजन पात्रका यह है कि मेरे ध्यान तप संयममें वृद्धि हो। जिसने आत्माके स्वरूपको पहचाना है वह शरीरकी रक्षा मौजके लिए नहीं चाहता, किन्तु ध्यान तप संयम बढ़े इसके लिए वह अपना जीवन रखता है। क्योंकि वह जान रहा कि अभी हमारी साधना इतनी ऊंची नहीं है, ऐसी स्थितिमें किसी हठके कारण, भावुकताके कारण असमयमें यदि जीवन खो दूँ तो उसका फल अच्छा नहीं है, मानों थोड़ा बहुत पुण्यके प्रसादसे देवोंमें भी उत्पन्न हो गए तो वहाँ भी असंयम ही तो है, क्लेश ही तो है, संसारकी बढ़वारी ही तो है। देवोंकी जब आयुस्थिति सुनते हैं कि ओह २० सागर, ३० सागर, ३१ सागर है। एक सागरमें अनगिनते वर्ष हो जाते हैं, कोई सोचे कि अनगिनते वर्षों तक वैक्रियक शरीर मिल गया जहाँ भूख प्यास रोग आदिककी वेदना नहीं है, मौज है, पर वह ३०-३१ सागरका समय भी अनन्तानन्त कालके सामने बड़े समुद्रमें एक बूँद बराबर भी समय नहीं बैठता। कुछ भी काल नहीं है। ज्ञानी पुरुषका तो यह भाव रहता है कि मेरे जीवनका एक क्षण भी अधर्ममें, पापमें मत जाये। सो इस द्रव्यके देनेसे मुनिश्वरोंके तप संयममें वृद्धि हो, ऐसा ही द्रव्य दिया जाता है। गरिष्ठ चीजें, पकवानकी चीजें या नुकसान करने वाली चीजें नहीं दी जाती। यहाँ तक कि आहार देनेमें वह श्रावक जबरदस्ती भी नहीं करता, वह श्रावक इसी भावसे आहार दे रहा कि मुनिराजके ध्यान और तपमें वृद्धि हो। पात्रका भूख प्यासका दुःख मिट जाय, रोग नष्ट हो जाय, परिणामोंमें संक्लेश न रहे ऐसा द्रव्य श्रावक प्रदान करता है।

दाता, पात्र, देय, विधिकी विशेषतासे फलकी विशेषता—देखिये दातार यदि उत्तम गुण वाला है और दिया जाने वाला पदार्थ भी बहुत उत्तम हैं और जिस विधि भक्तिसे दिया जा रहा है वह विधि भक्ति भी ऊंची है और पात्र भी विशेष है तो उसका फल भी बहुत ऊंचा है। दातारके ७ गुण बताये गए हैं—(१) भक्तिवानहो याने पात्रकी भक्तिमें बड़ी उमंग रखता हो। (२) तुष्टिगुण हो अर्थात् पात्रको दान देता हुआ अपनेको बड़ा संतुष्ट मानता हो कि मुझको एक अपूर्व निधि आज प्राप्त हुई है। (३) दातारमें श्रद्धागुण होता है। साधुवोंको आहार आदिक देनेसे इस लोकमें परलोकमें कल्याण होता है। (४) दातारमें विज्ञान गुण है। वह सब जानता है कि इस ऋतुमें ऐसा आहार देना, इस क्षेत्रमें ऐसा आहार देना। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी बात समझता है। (५) दातारमें अलोलुपता गुण होता है। दान देनेके प्रभावसे मेरेको यश मिले, धन मिले आदिक कोई लालच न रखना, एक धर्मके नाते ही यह सम्बंध बना है। (६) दातारमें सात्विकता है। थोड़ा भी धन है तो वह दान देनेमें बड़ा उद्यमी है। इसकी सेवाको देखकर बड़े-बड़े धनिक पुरुष भी आश्चर्य करें, ऐसा सात्विक गुण श्रावकमें होता है। (७) दातारमें क्षमा गुण है। कैसे भी कारण आ जायें तो भी वह क्रोध नहीं करता। न पात्रका ख्याल करके क्रोध करता, न मित्रजन, कुटुम्बीजन जिनके बीच वह दान क्रियामें लगा है उसके भी किसी अपराधको देखकर वह क्रोध नहीं करता। क्रोधतो बड़ी ज्वाला है। कोई भी पुरुष हो जो क्रोध करेगा वह बड़ी गलती पर है। किसीका अपराध हुआ तो उसका प्रतिकार भी हो सकता, समझा सकता और क्रोध पूर्वक कुछ करे यह उसकी बड़ी दुर्बलता है। दातारके क्रोधभाव नहीं होता। तो यह दातार बड़े विनय सहित साधुवोंकी

सेवा करता है। यदि कुछ देनेको भी न हो तो विनय करना और उनके गुणोंका समर्थन करना, इतना भी कोई हृदयसे करे तो महान् पुण्यका बंध करता है।

पात्र सेवामें प्रयुक्त धनका सदुपयोग करनेकी श्रावकके हृदयमें उमंग—यह श्रावक यह निर्णय किए हुए है कि मेरा जो धन साधु संतोंकी सेवामें खर्च हो सो तो मेरा है अर्थात् सही कमायी है और जो धन विषय कषायके साधनों खर्च हो वह बंधका करने वाला है, समुद्रमें डुबोने वाला है। यह श्रावक विचारता है कि जो धन रागद्वेषादिकके प्रसंगोंमें खर्च किया जायगा वह तो हमारे ही संयमका घात करने वाला बनेगा और साधु संतोंकी सेवा करनेमें जो धन खर्च होगा वह हमको मोक्षमार्गमें लगानेमें कारण बनेगा। इस प्रकारकी उमंग वह श्रावक अपने अन्दर कर रहा है। साधु संतोंकी सेवामें धन खर्च करनेका और विषयकषायके साधनभूत कुटुम्बीजन, मित्रजन आदिककी सेवामें धन खर्च करनेका, इन दोनोंमें अन्तर निरख रहा है। यहां उस धनकी आलोचना की जा रही है जो उन विषयकषायोंके साधनभूत कुटुम्बीजनोंके पीछे ऐसा अज्ञानी बनता है कि धर्म अधर्म कुछ नहीं गिनता, न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनता। यहां तक कि यश अपयशको भी तिलाञ्जलि दे देता है, नहीं गिनता है तो भी एक तृष्णाके मेलमें केवल उनकी ओर ही आसक्त रहता है। इन कुटुम्बीजनोंको धन वस्त्र आभूषण भोजन आदिकसे तृप्त करनेके लिए, इनको प्रसन्न रखनेके लिए, इनसे राग भरी दो बातें सुननेके लिए झूठ, चोरी, अन्याय, हिंसा आदिकमें प्रवृत्त होता है। सो इस आसक्तिसे हटकर इस मोहबुद्धिको हटाकर वीतराग धर्मको पाकर अन्याय अनीतिमें प्रवृत्ति न करना। जो न्याय मार्गसे धनार्जन हो उस ही में विभाग बनाना और कुटुम्बीजनोंका पोषण करना।

श्रावककी संतोषवृत्ति—कोई यह सोचे कि मैं तो जिस चाहे तरहसे गुजारा कर लूंगा, पर स्त्री आदिकको तो अच्छी तरहसे ही रखना। वह विचार क्यों बना कि मोह बुद्धि अधिक है। नहीं तो जब हम सब शामिल हैं तो जैसे हम वैसे सब रहेंगे। हां ज्ञान वार्ता द्वारा उनको संतुष्ट करना और यह भावना करना कि अपने पास कमायी कम है। धन कम है सो गुजारा तो किसी तरहहो जायगा, पर धर्म एक ऐसा साधन है कि जिसके बिना न इस लोकमें कल्याण है, न आगे कल्याण है इसलिए धर्मकी प्रतीति अधिक करना योग्य है। कर्तव्यमें इस बात पर दृष्टि दी गई है कि अपने उपदेशसे कुटुम्बको संतुष्ट कर सकते हैं, किन्तु ऐसा सोचकर कि कुटुम्बको तो बहुत बढ़िया आभूषण देना चाहे जुवा खेलना पड़े, चाहे कुछ करना पड़े यह बात योग्य नहीं है। जिस पुरुषके हृदयमें धर्मका सम्बंध नहीं है उसका जीवन पशुवोंसे भी गया बीता है। यह पुरुष अच्छे-अच्छे मकान बना लेता है तो चिड़िया भी अपना घोंसला बना लेती है। यह पुरुष बढ़िया भोग साधन बनाकर अच्छे-अच्छे पदार्थोंके खानेमें खुश है तो वे चिड़िया जगह-जगह खोज-खोजकर कहींसे कुछ दाने मिले तो उनको खाकर उतना ही खुश होती जितना कि ये पुरुष। ये पुरुष मैथुनमें, विषयसेवनमें यदि खुशी मानता है तो ये पशु पक्षी भी जो कि मनुष्योंसे भी अधिक संतुष्ट हैं, अपनी ऋतुकालमें विषय करके ये भी खुशी मानते हैं। फर्क क्या रहा इन पुरुषोंमें और पशु पक्षियोंमें जिन पुरुषोंका धर्मके प्रति ध्यान नहीं, धर्मका महत्त्व नहीं, कुटुम्बका ही महत्त्व जिनके चित्तमें है उनका जीवन तो पशुपक्षियोंसे भी गया बीता समझिये। तो यह श्रावक धर्मके

प्रति विशेष ध्यान रखता है और उसकी विधिसे अपना भी सम्बोधन और कुटुम्बका भी सम्बोधन रखता है। जो न्यायमार्गसे धन अर्जित होगा उसमें ही कुटुम्ब और धर्मके अर्थविभाग करके अपने रहे सहे जीवनके दिन व्यतीत करेगा, इस श्रावकका भाव है।

दानरहित पुरुषके धनकी व्यर्थता व अनर्थता—अरे भैया, मरे और सब छोड़ गए, देखो जिसके पीछे इतनी बड़ी व्यग्रताकी जा रही है वह तो कुछ साथ जाने वाली नहीं है। श्रावककी दृष्टिमें सर्व ज्ञान स्पष्ट है। यह जीवन क्षणभंगुर है, मरने पर ये कुटुम्ब आदिककोई साथ न जायेंगे। जो मेरी दान शील तप आदिकी भावना बनी और उससे जो पुण्य अर्जित हुआ यह ही परलोकमें साथ जायगा, दूसरा नहीं। यहां भी जो सामग्री मिली है पूर्वभ्रममें दान किया, उससे जो पुण्य बंधा उसका फल है। अब इस भ्रममें यदि दानकी प्रवृत्ति न होगी तो आगे एक दरिद्र जीवनही मिलेगा। सबसे महान् लाभ यह श्रावक मोक्षके लाभको समझता है। दुनियामें कुछ भी प्राप्त हो उसे यह लाभ नहीं मानता। मेरेको सिद्ध अवस्था प्राप्त हो। कर्म और शरीरसे रहित केवल आत्मामात्र मैं रह जाऊं, इस स्थितिको ही पसंद करता है। अपनी पसंदगीके अनुसार अपनी क्रियायें भी करता है। सो वहां रत्नत्रयके धारक मुनिजनोंमें श्रावकके वही प्रीति उत्पन्न हुई हैं। जो समर्थ होकर भी कृपण रहे, परके उपकारसे रहित रहे, उसका जीवन तो निष्फल है। जैसे कोई बड़ा समुद्र है, जिसका खारा तो जल है और उसमें रत्न भरे हैं, मगर उसमें मगरमच्छ इतने बेहिसाब हैं। कि उन रत्नोंका उठाना कठिन है, तो वह समुद्र बेकार है, उससे किसका लाभ होता? न तो एक रत्न हाथ आनेका है और न एक चुल्लू जल पीनेका है। तो ऐसा ही धनी कृपण पुरुषोंकी स्थिति है। न उसका धन किसीके उपकारमें लग सकता है और न उसके संगसे कोई लाभहो सकता है।

श्रावककी गुरुसेवादिमें भक्ति भरी उमंग—यह श्रावक धन आदिकको भिन्न जानकर यह निर्णय रखता है कि मिला है तो उसका ठीक सदुपयोग हो, देवशास्त्र, गुरु इनकी सेवामें, इनकी भक्तिमें धन लगे तो वह अपनेको कृतार्थ मानता है। बाकी कैसे ही धन लगे, उसमें कृतार्थता तो क्या, सारा निष्फल ही है। जिसकी दान और भोगमें प्रति नहीं है वह तो दूसरोंके भाग्यमें बंधा है वह धन सो उनकी सेवा कर रहा है, केवल नौकरी कर रहा है, जो अपने धनको दान और भोगमें यथायोग्य नहीं लगा सकता वह केवल दूसरोंकी नौकरी कर रहा है। भले ही मानता यह है कि मेरे लड़केको लाभ मिलेगा। अरे कौन किसका लड़का है? उसका उदय है तो उसके उदयसे मिलेगा ही। अगर यह मान ले कि मेरा है, इसके लिए मैं सब कुछ कर रहा हूं तो न अब इसका है और न आगे होगा। मरनेके बाद सीधा फैसला है कि किसीका कुछ न रहेगा। यहां किसका क्या है? तो न्याय नीतिसे धनका अर्जन करें और उसे धर्म हेतु खर्च करें। अपने गुजारेके लिए और कुटुम्बीजनोंके जीवनके लिए खर्च करना यह तो श्रावककी भली चर्या। मगर कुटुम्ब ही इसके लिए सर्व कुछ है और देवशास्त्र गुरुके प्रति इसका कुछ भाव नहीं लगता है तो उसकी स्थिति उत्तम नहीं है। अकल्याणकी स्थिति है। सो यह श्रावक बड़ी उमंगसे गुरुओंकी सेवामें धनको खर्च करता है। इस प्रकार श्रावकजन प्रतिदिन शुद्ध आहार

बनाते हुए समय-समय गुरुजनोंका प्रतिग्रहण करते हैं, अगर भाग्यसे मिल गए गुरुजन तो उनको आहार कराकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

न्यायार्जित द्रव्यमें विभागकर दानके आवश्यक कर्तव्यका निभाव—श्रावक न्यायपूर्वक आजीविकाको करता है, उसमें जो उपार्जित होता है उसीमें ६ भाग करके उनका यथोचित उपयोग करता है। कुछ भाग कुटुम्बके खर्चके लिए, कुछ भाग धर्म, दान, पुण्यके लिए, कुछ भाग समय समयपर होने वाले विवाह आदिक समारोहोंके लिए, ऐसे बंटवारे करके उसमें ही गुजारा करता है और उस कमाये हुए धनके विषयमें ऐसा परिणाम रखता है कि मेरे धनमें से यदि किसीके प्रयोजनमें कुछ काम आ जाय, उसमेंसे कोई साधमीं कमायेंगे तो यह हमारा बड़ा लाभ है। जहां पात्रको आहार आदिक कराने, शास्त्रदानआदिक करनेमें अपनेको कृतार्थ समझता है। इस परिणामको भी रखता है कि कोई साधमीं बन्धु मेरे ही धन द्वारा कुछ कमाई करले, ऐसा विशुद्ध परिणाम रखने वाला दातार हर्षित चित्त होकर दान देता है कोई दान दे और गुस्सा करके दे या दूसरेका अपमान करके दे, तिरस्कारके वचन कह कर दे या दूसरोंको दूषण लगाता हुआ दे तो उसकी यह प्रवृत्ति भली नहीं है। लोकमें कलह और अपयश उत्पन्न करने वाली है और परलोकमें अशुभ कर्मके फलमें दरिद्र बनेगा और अनेक भवोंमें अपमान आदिक पायगा। सद्गृहस्थ बड़ी भक्ति उमंगसे पात्रोंको, अन्य साधमींजनोंको धर्मबुद्धिसे दानका परिणाम रखता है।

चतुर्विधदानके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके दानोंमें धार्मिकदानरूपताका अभाव—अब लौकिक पुरुष कुबुद्धिवश अनेक प्रकारके दान देते हैं। सो यह प्रकरण यह बतला रहा है कि चार प्रकार दान करनेमें ही धर्मका सम्बंध है, किन्तु पात्रोंको या त्यागीजनोंको या श्रावकोंको अन्य-अन्य प्रकारका दान करना धर्ममें शामिल नहीं है वैसे गृहस्थ है और उसे अनेक काम करने पड़ते हैं मगर वे उनके काम कहलाये, दान नहीं कहलाये। जैसे भूमि देना, भूमि दान को भी लौकिकजन दान बताते हैं और कुछ सन्यासी अथवा उस प्रकारके विप्र उस भूमिदानके लिए प्रेरणा करते हैं, सो श्रावक किसी साधमींको गरीबी देखकर भले ही भूमि दे दे मगर वह दानमें शामिल नहीं है। वह उसके कर्तव्यमें शामिल है जो धर्मिकताके ख्यालसे भूमि देता है, जैसे भगवानकी पूजाकी तो धर्मबुद्धिसे, ऐसे ही धर्मबुद्धिसे भूमिदानकी बात करे तो वह कुदान है। जिसमें हल, फावड़ा, खुरपा आदिकसे भूमिविदारण हो, अनेक जीवोंका बध हो। बड़ा आरम्भ हो और जिसमें सांप, चूहा, हिरण आदिक बड़े-बड़े जीव वहां आयें तो उन्हें बाधक जानकर मारा जाता है। और भूमिकी ममता बने जिसमें परस्पर मारकर मर जाय ऐसा तीव्र रागद्वेषका कारण है भूमिका दान। श्रावक भूमिदानको दान नहीं समझता, दान चार ही बताये गए—(१) आहारदान (२) शास्त्रदान (३) औषधिदान और (४) अभयदान। कितने ही लोग स्वर्णदान करते हैं। सन्यासीजन, साधारण विप्रजन अनेक श्रावकोंको ऐसा बहकाते कि इस गृहमें अमुकमें स्वर्णदान करना चाहिए आदिक। उस स्वर्णदानसे कितने अनर्थ होते हैं। यदि सन्यासी पात्रको स्वर्णदान दिया जाय तो उसकी पात्रता ही नष्ट हो गयी, उसे सदा काल भय बना रहेगा, उसके संयमका नाश हो जायगा। और उसके स्वर्णादिकसे राग हो जायगा जिसके कारण द्वेष क्रोध आदिक भी होने रहेंगे आत्मस्वरूपका विस्मरणहो

जायगा। सो जो वीतराग धर्मका इच्छुक है वह स्वर्णदानको पाप समझकर त्यागता है। लोकमें मिथ्यामतमें जिन दानोंकी प्रसिद्धि है वे दान-दान नहीं किन्तु कुदान हैं। जैसे भूमि दान करना, स्वर्णदान करना। कुछ लोग तिल दान करते हैं, इसको धर्मबुद्धि मानते हैं कि मैंने यज्ञ किया ऐसे ही पुण्य लगा, तो भला जिसमें करोड़ों त्रस जीवोंकी उत्पत्तिहो ऐसे तिलका दान कहीं दान है। परस्परमें देते लेते हैं, मदद भी करते हैं यह बात उनके कर्तव्यमें है, सभ्यता है और मानवीय कर्तव्य है, किन्तु मोक्षमार्गमें ये दान कुछ सहायक हों सो बात नहीं। अनेक लोग गुड़ दान, तेल दान, चक्की, बुहारी, मूसल, फावड़ा आदिकका दान करके धर्म मानते हैं। ये समस्त दान क्या हैं? इनके प्रसंगमें महापापकी सामग्री मिलती है। आरम्भ और मोहको ये उत्पन्न करते हैं, सो जिनके मिथ्याबुद्धि है वे पुरुष इसमें धर्म मानते हैं।

पशुदान, कन्यादानमें मुक्तिमार्ग साधकताकी असंभवता—एक गोदानकी भी बड़ी प्रसिद्धि है। सन्यासीको गौदान दिया, विप्रको गौदान दिया या श्राद्धमें गौदान दिया, प्रथम तो वह प्रयोजन ही मिथ्या है और फिर गौदान दान नहीं है याने मोक्ष मार्गका काम नहीं है। भले ही कोई परस्परमें आवश्यकता देखकर कोई किसीको कुछ दे दे वह तो उसका गृहस्थीवाला कर्तव्य है, किन्तु यह जानकर कि इससे मुझे मोक्ष मिलेगा, बैकुण्ठ मिलेगा, प्रभु खुश होंगे तो वह कुदान है। गोदानसे तो वह उस गायको बांधेगा, उसे घास खिलायगा। उसमें कभी कीड़े वगैरह उत्पन्न हो जायेंगे मल-मूत्रमें असंख्याते जीव उत्पन्न होंगे, सींग मारकर अनेकों जीवोंको कष्ट भी पहुंचायगी आदिक अनेक आरम्भ और हिंसाका घर है, ऐसा गौका दान मोक्षमार्गकी दृष्टिसे कुदान कहलाता है। उपयोगी जानकर, आवश्यक जानकर देना और बात है, पर इससे बैकुण्ठ मिलेगा, एक यज्ञ कहलायगा, ऐसा सोचकर दान करना यह कुदान है। लोकमें एक कन्यादानको भी महत्त्व देते हैं। एक कन्यादान किया तो उसमें लाखों यज्ञोंका फल मिल गया। जब गृहस्थ हैं और कन्या दिए बिना सर नहीं सकता वह तो गृहस्थीका काम है मगर उसे मोक्षमार्गका अंग मान लेना, बैकुण्ठ मिलेगा, लाख यज्ञ जितना पुण्य मिलेगा इस बुद्धिसे देनेमें कुदानकी बात कही जा रही है। कन्यादान तो गृहस्थको करना ही पड़ता है, अपनी कन्या विवाह योग्य हो तो उसे उत्तम कुलमें देना ही चाहिए, मगर उस दानको यह मोक्षमार्ग है, धर्म है, ऐसी श्रद्धा तो न करना चाहिए। धर्म तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, आत्मस्वरूपका सही विश्वास हो, ज्ञान हो और उसमें ही रमण हो, यह भाव बने, परिणति बने तो वहां धर्म है, बाकी जब गृहस्थी बसायी है और बच्चे हुए हैं तो उनका विवाह करना उसका कर्तव्य है अथवा करना ही पड़ेगा, ऐसा समझना चाहिए। उसे धर्म मानना और लाखों यज्ञके बराबर पुण्य समझना यह ठीक नहीं है। उसने तो समझा कि चूँकि मैंने विषयोंकी प्रवृत्तिकी है इसलिए ये सब दण्ड भोगने ही पड़ेंगे और इस स्थितिमें इसे न करे तो वह कर्तव्यहीन कहलायगा।

धातुवर्णके पशु आदि बनाकर दान करनेकी असंगतता—अनेक लोग स्वर्णकी गाय बनानकर दान करते हैं। मिठाईका पशु बना दें, चांदीका पशु बना दें और दान दे तो भला बतलावो जिसको देगा वह उसे खायगा ना? तो खाते समय यह सिर खाया, यह टांग खाया, ऐसा भाव भी बनायगा तो वह तो हिंसाका साधन बना। त्यागीजन तो चित्रवाली चटाईपर बैठते भी नहीं। किसी चटाई पर

यदि हिरण्की फोटो बनी है या किसी पक्षीकी फोटो बनी है तो उसपर बैठना ही वर्जित है फिर जो किसी चीजका पशु बनादे और उस चीजको खाये तो उसने तो हिंसाका ही कारण बनाया। इस कारण ऐसा दान दान नहीं, कुदान है। सोना चांदीका पशु बनाकर दान किया तो वह क्या सोना चांदीको धरे रहेगा? ओरे वह तो उसे काटेगा, काटनेके मायने हिंसाकी, वे सब कुदान हैं। श्रावकके कुलमें कुदानका रिवाज नहीं रहता।

चतुर्विध दानोंके अतिरिक्त श्राद्ध व बलि आदिमें धर्मबुद्धिकी असंगतता—अनेक श्राद्धका दान कर ऐसी श्रद्धा बनाना, जैसा कि कुछ जन बताते हैं कि श्राद्ध करनेसे २१ पीढ़ी तिर जाती हैं, याने एक तो वर्तमानकी पढ़ी और १० आगे तथा १० पीछेकी। आत्माकी जहां श्रद्धा नहीं जो कुछ हो रहा है कर्मबंध, कर्मफल वह निमित्त नैमित्तिक योगमें हो रहा है। जीवने कषायभाव किया उसका निमित्त पाकर कर्मबंध होता, कर्मका उदय आया, उसका निमित्त पाकर सुख दुःख की अवस्था होती है, यह सब औटोमेटिक निमित्त नैमित्तिक योगमें हो रहा है। इस झंझटसे बचनेका उपाय आत्माका श्रद्धान, ज्ञान आचरण है, अन्य-अन्य क्रियायें नहीं। भलो जो गुजर गया व न जाने किस भवमें गया, किसी स्थितिमें पड़ा है, तो उसके नामपर चाहे यह कितना ही दान बोले, पर उसके परिणामोंमें तो फर्क नहीं आता। सो दान तो खुद अपने जीवनमें करनेकी चीज है, किसीके मरेके बाद उसके नामपर धनका दान कर दिया, मंदिर बनवाया, कुछ बनवाया, पर उसका फल उस मरने वालेको नहीं मिल सकता। तो ऐसे लोकमें अनेक प्रकारके दान हैं, अनेक देवी देवताओंका नाम लेकर बकरे आदिककी हिंसा करना उसमें भी वे दान समझते हैं, धर्म समझते हैं, किन्तु वह है महापापका कारण। न उन्होंने देवका स्वरूप माना है, न अपना स्वरूप माना है, न धर्मका स्वरूप माना है ऐसी अनेक प्रकारकी खोटी वृत्तियां होती हैं वे दान नहीं कहलाती, और कुदान भी नहीं कहलातीं। सीधे हिंसाके कार्य, पापके कार्य कहलाते हैं। ऐसी खोटी वृत्तियोंमें यह जीव असंख्यातकाल व्यतीत करता है। ऐसा जानकर श्रावकजन कुदान कभी नहीं करते, कुपात्रदान नहीं करते। भले ही कोई कुपात्र भूखा है तो दयाबुद्धिसे देगा, मगर यह गुरु है ऐसी धर्मबुद्धिसे न देगा। ऐसे श्रावकजन न्यायोपार्जित आजीविकामेंसे पात्रको आहारदान, औषधिदान और अभयदान देकर अपने जीवनको कृतार्थ समझते हैं।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमाष्टिं खलु गृहविमुक्तानां।

अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ ११४ ॥

गृहविमुक्त साधुजनोंकी प्रतिपूजासे पापकी निर्जरा—श्रावक पात्र दान करके तत्काल क्या फायदा पाता है, इसका वर्णन इस छंदमें किया है। गृहके जितने कार्य हैं चाहे आरम्भके हों अथवा उद्योगके हों, दोनों ही कार्योंमें पापका उपार्जन जरूर होता है। चाहे कितनी ही शुद्धतासे वह कार्य करे, जीव हिंसा बचाकर व्यापार करे फिर भी गृहकर्ममें पापका बंध अवश्य है। कोई पूछे कि जो लोग सर्विस करते हैं वे आखिर अपने आफिसमें गए, अपनी ड्यूटी बजाया और घर आ गए, उनको इस कार्यमें क्या पाप है? तो भाई गृहकर्ममें, उद्योगमें जो परिणाम चलता है उस परिणाममें जो आत्मविपरीत

कार्य किया जाता है, राग रहता है और अनेक प्रकारकी कल्पनायें बनती हैं वे सब पापका ही तो बंध कराती हैं। चाहे कोई सर्विस करता हो चाहे कोई व्यापार करता हो सभी कार्योंमें और गृहकर्मोंमें पापका उपार्जन अवश्य होता है। सो गृहकर्मके द्वारा उपार्जित किए हुए कर्मोंको दूर करने, धोनेका उपाय क्या है? जो गृह विमुक्त हैं, पात्र हैं, अपने धर्मध्यानमें ही निरन्तर रहा करते हैं ऐसे अतिथियोंके बीच गृहकर्मसे उत्पन्न हुए पापको दूर कर देते हैं। बहुत कुछ उन पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है और उनकी शुद्धि हो जाती है। जैसे कि जल खूनको धो डालता है ऐसे ही पात्रकी पूजा, अतिथियोंकी सेवा गृहकर्मसे उत्पन्न हुए पापको दूर कर देती है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।

भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ ११५ ॥

तपोनिधि महापुरुषोंके वैयावृत्यसे सुगतिका लाभ—अब यहां दानका फल बतला रहे हैं। जो तपके निधान हैं, समताभावके धारण करने वाले हैं, २२ परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे विरक्त हैं, पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे विरक्त हैं ऐसे मुनिजन उनको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्रमें या स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं, फिर स्वर्गसे आकर तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे उच्चकुलमें जन्म लेकर निर्ग्रन्थ अवस्थाको धारणकर सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं। इतने बड़े महान पदकी प्राप्तिकी प्रारम्भिक बात यह अतिथियोंकी सेवा है। मुनिजन, त्यागीजन और श्रावकोत्तमकी जो सेवा है वह कारण बना मूलसे जिससे बढ़ बढ़कर यह सिद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है। दानके प्रभावसे यह जीव स्वर्गमें, भोगभूमिमें जन्म लेता है, सो उत्तम पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिके भोग भोगता है, स्वर्गके भोग भोगता है, राजपाटके भोग भोगता है। अहिमिन्द्र बनता है याने उत्तमगति प्राप्त करता है। और वहां भी धर्मकी धारा परम्परा चलती रहती है जिससे संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होकर निकट कालमें निर्ग्रन्थ पुरुष बनकर यह निर्वाणको प्राप्त होता है। साधुओंकी पूजा उनकी उपासना भक्तिके प्रसादसे तीन लोकमें पूज्य केवली प्रभु बन जाता है कैसे बनता है? उनकी यदि सेवा चित्तमें न हो तो वहां कैसे उमंग उत्साह और विधि बने? ५ परमेष्ठी जिनमें दो तो हैं भगवान् अरहन्त और सिद्ध। आचार्य उपाध्याय और साधु ये हैं भगवान्के रूप, जिनलिङ्गके धारक। उस ही मार्गमें लगे हुए हैं। इनकी भक्ति सेवाकी बड़ी महिमा है। वे धर्मकी धारामें रहकर निकट कालमें ही सर्वसंकटोंसे मुक्त हो जाते हैं।

क्षितिगतमिव बटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।

फलति छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

पात्रगत अल्प भी दानकी महाफलदायकता—जैसे योग्य भूमिमें बड़का छोटा बीज डाला गया तो वह भी थोड़े कालके बाद छायावान वृक्ष जैसा रूप रख लेता है और उसमें बहुत फल लगने लगते हैं, ऐसे ही पात्रमें दिया हुआ दान आहार, शास्त्र, औषधि, अभयकी सेवा थोड़ी भी भक्ति पूर्वकहो तो भी समय पर बहुत महान् फलको देने वाली होती है। भेदविज्ञान जगेगा, शान्ति संतोष होगा धर्म

कार्योमें अंतः स्वरूपमें उसकी रुचि बनेगी। कभी वह आत्ममग्न होकर शुक्ल ध्यानके प्रसादसे मोक्ष पा लेगा। देखिये पात्रदानकी महिमा। यदि कोई श्रावक पुरुष सम्यक्त्व रहित है और भी पात्रदान करता है तो उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न होता है जहां तीन पत्यकी आयु, जिसमें सअंख्याते वर्ष आ जाते हैं बड़ा ऊंचा अद्भुत शरीर समचतुरस्रसंस्थान तथा शरीरका आकार अत्यन्त सुडौल और शरीर सुन्दर होता है। महत्व बल और पराक्रमसे युक्त है। वे भोगभूमिके मनुष्य स्त्री जैसे जुगला जुगलीसे उत्पन्न होते हैं। ३ दिन बाद छोटे बेर बराबर उनका आहार है। अधिक आहार होना यह बड़े पुरुषोंकी निशानी नहीं होती। तीर्थंकर कितना आहार लेते हैं? और सारा ही आहार उनका खून, रक्त, मांस बन जाता है। उनके मल भी नहीं होता। और बड़े बड़े लोग जो हुए उनका आहार बहुत थोड़ा है और बल विशेष होता है। अगर अधिक आहार होनेसे महत्ता मानी जाय तब तो हाथी, झोंटा आदिक कितने ही पशु ऐसे हैं जो कि बहुत आहार लेते हैं। यह निशानी है पुण्यात्माजनोंकी उत्तम भोगभूमिमें तीन दिनमें अल्पाहार होता है। जहां १० प्रकारके कल्पवृक्ष हैं, जिनमें नाना भोगसामग्री उनको मिला करती हैं। जहां इतना विकास है कि रातदिनका भेद नहीं है। ये सूर्य चन्द्रमा इस क्षेत्रमें भी नहीं दिखते थे भोग भूमिके कालमें। जब तीसरे कालका अन्त आया तो ये चन्द्र सूर्य दिखने लगे तो लोगोंको डर भी हो गया कि यह क्या बला आ गई। ऊपरसे कहीं गिर न जायें, सो वे बड़े कुलकरोंसे उसकी समस्या हल करने गए। तो कुलकरोंने उन्हें धैर्य बंधाया कि भाई अब भोगभूमि मिटने वाली है। कुछही दिन शेष रहे हैं तो अब ये सूर्यचन्द्र दिखेंगे। भाई डरो मत, ये ज्योतिषी देवोंके विमान हैं, यों उन्हें समझाया गया। जिस भूमिके क्षेत्रमें शीतल मंद पवन हमेशा चलता रहता है। वहां ठंड गर्मीकी ऋतुका कष्ट नहीं होता, वहां पत्थर कांटा, कीचड़ आदि नहीं होते स्फटिक मणिकी तरह भूमि है। जन्मपर्यन्त उनके रोग नहीं, शोक नहीं, बुढ़ापा नहीं, कष्ट नहीं, वहां कोई सेवक नहीं, स्वामी नहीं।

ज्ञानी दातारोंको विशेष सद्गतिका लाभ—भोगभूमिमें सब अपने अपने भोगमें आराममें और यथोचित धर्मकार्योमें लीन रहा करते हैं। पात्रोंकी सेवा करने वालोंका ऐसे क्षेत्रमें जन्म होता है, सो यह तो बात कही अज्ञानीजनोंकी, पर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं उनका जन्म अच्छे देवोंमें होता है। सो वहां भोगभूमिसे भी अधिक सुखका प्रसंग मिलता है, पर जो सम्यग्दृष्टि है वह उस सुखके प्रसंगमें मस्त नहीं रहता, आसक्त नहीं रहता, उससे विरक्त ही रहता है। पुण्यका फल जानकर उसका ज्ञाताद्रष्टा ही रहता है, ऐसा होता ही है, होना ही पड़ता है। इन बाह्य पदार्थोंसे मेरा क्या सम्बंध है? मेरा इनके प्रसंगोंसे कुछ हित नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव तो उनसे भी विरक्त रहा करते हैं। जैसे एक बात सोचिये कि जो बड़े-बड़े आचार्य हो गए कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, जिनकी बड़ी विरक्ति थी, उनका देहान्त हो गया तो आप एक अनुमान कर सकते हैं कि उनका जन्म किस गतिमें हुआ होगा। ऐसे पवित्र पुरुषोंका जन्म स्वर्गमें होता है। वहां देवियोंका प्रसंग भी है मगर वे उस प्रसंगमें आसक्त नहीं होते।

वैयावृत्य शिक्षाव्रतके पालक श्रावकोंका सुसमय—विनयसहित गुणानुराग पूर्वक व्रती यति महापुरुषोंको आहार औषधि शास्त्र अभयदान करना बहुत ऊँचे फलका परिणाम कराने वाला है। जो

सम्यग्दृष्टि मनुष्य है, जिसने पहले देवायुका बंध किया अथवा नहीं किया, मरण समय करता है बंध, वह देवगतिमें ही उत्पन्न होता है। जिस जीवने पहले देवायुका बंध किया अथवा नहीं किया, मरण समय करता है बंध, वह देवगतिमें ही उत्पन्न होता है। जिस जीवने पहले मनुष्यायुका बंध किया वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य भोगभूमि मनुष्योंमें उत्पन्न होता है। कोई मिथ्यादृष्टि ही मनुष्य हो, मिथ्यात्वमें ही मरण करे, पर दान किया हो, दानमें बुद्धि हो तो वह भी मर कर भोगभूमिमें मनुष्य होता है, और वह भोगभूमिया मनुष्य मरण करके यदि सम्यग्दृष्टि हो तो पहले दो स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है, मिथ्यादृष्टि हो तो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होता है।

भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे मनोवाञ्छित उपभोगसाधनोंका लाभ—भोगभूमिमें दस प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं, जिन कल्पवृक्षोंसे मनमाना भोगोपभोगका साधन प्राप्त होता है। तूर्याङ्ग जातिके कल्पवृक्षसे नाना प्रकारके बांसरी मृदंग इत्यादि अनेक वादित्र प्राप्त होते हैं। पात्राङ्ग जातिके कल्पवृक्षसे रत्नसुवर्णमय अनेक प्रकारके आनन्दकारी कलश दर्पण झारी आदिक बर्तन प्राप्त होते हैं। भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्षसे अनेक आभूषण हार, मुकुट, कुण्डल, मुद्रिकाआदि प्राप्त होते हैं। वहां दस्तकारी या काम ये कुछ कष्ट नहीं होते। केवल भोगोंको भोगो, बस यह ही जीवनभर रहता है। ज्ञानी जीव तो ऐसे भोगोंको भी नहीं चाहता। मगर बतला रहे हैं कि मिथ्यादृष्टि भी हो तो वह भी दानके प्रतापसे ऐसे भोगके साधनोंमें उत्पन्न होता है। पात्राङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे नाना प्रकारके जीवने योग्य शीतल सुगंधित चीजें प्राप्त होती हैं। आहाराङ्ग जातिके कल्पवृक्ष अनेक जातिके आहारको लिए होते हैं। यद्यपि भोगभूमिमें उत्तम भोगभूमिमें तीन दिनमें, मध्य भोगभूमिमें दो दिनमें और जघन्य भोगभूमिमें एक दिनमें भूखकी वेदना होती है, सो भी बेर प्रमाण, आंवला प्रमाण उनका भोजन होता है, पर वह ऐसा शक्तिवर्द्धक गरिष्ठ भोजन होता है जैसे कि यहां भी कुछ जड़ी बूटियां औषधियां होती हैं कि थोड़ी सी भी खा लेवे तो एक दो दिन भूख न लगे ऐसा गरिष्ठ और बलवान वहां आहार होता है। पुष्पाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके पुण्य प्रदान करते हैं। ज्योति रङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें इतनी कान्ति होती, प्रकाश होता कि वहां दीपककी आवश्यकता नहीं होती। सूर्य चन्द्रमा भी नजर नहीं आते, इतनी तेज कान्ति वहांके ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्षोंमें होती है। गृहाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे दो चार खण्डकी तो बात क्या, ८४ खण्ड तकके प्रासाद जो कि रत्नकर चित्रित हैं वे वहां हाजिर रहते हैं। वस्त्राङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे नानाप्रकारके वाञ्छित वस्त्र प्राप्त होते हैं। दीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष दीपमालाकी शोभाका विस्तार करते हैं।

भोगभूमिज मानवोंकी प्रगतिका कारण पूर्वकृत पात्रवैयावृत्य—भोगभूमिमें जुगला जुगली उत्पन्न होते स्त्रीपुरुष और उनके उत्पन्न होते ही माता पिताको जहुंवाई आते ही उनके प्राण नष्ट होते हैं। माता पिता न बच्चोंको देख पाते हैं, न बच्चे माता पिताको देख पाते हैं, यह भी एक पुण्यकी बात है। अगर देख लेते और बादमें मरते तो दुःख होता। वे पुत्र पुत्री उत्पन्न हुए बाद ७ दिन तो अपना अंगूठा चाटकर ही तृप्त होते हैं। उनके अंगूठेमें अमृत है, तब ही यहां भी देखा जाता कि कोई बच्चा उत्पन्न होता है तो वह अपने अंगूठेको चाटता है छोटेमें। छोटे बच्चेके पैरका अंगूठा भी मुखमें चला जाता

है। तो उनके सभी अङ्गोंमें अमृत भरा है। याने धर्मका, पुण्यका प्रताप देखिये—यहां तो कहो कमा कमाकर मरें फिर भी चीज न प्राप्त हो और पुण्यका ऐसा अतिशय है कि अपने आप ऐसा ऋद्धि वैभव प्राप्त होता है। उसके बाद वह ७ दिन तक औंधा सूधा-पलटता रहता है, ७ दिन अस्थिर गमन करता है और ७ दिनमें पूर्ण जवान हो जाता है, फिर ७ दिनमें सम्यग्दर्शन ग्रहण करना, चतुराई कला आ जाना ये सब बातें आ जाती हैं। ४९ दिन पूरे होनेपर अनेक प्रकारकी पृथक् विक्रिया, अपृथक् विक्रिया सहित महल, बन बिहार करते हुए नाना क्रीड़ा तरंगोंमें वह सुख भोगता रहता है। भोगभूमिया जीव मरकर देवगतिमें ही उत्पन्न होते हैं यह सब किसका प्रताप है? त्यागी व्रती मुनियोंको उत्तम पात्र, मध्यम मात्र, जघन्य पात्र इनको भक्तिपूर्वक आहार दान, शास्त्रदान औषधिदान, अभयदान देनेका फल है। जिस व्यक्तिको धर्ममें बुद्धि नहीं है उसका जीवन अंधकारमें है। भले ही पूर्व पुण्य का उदय है सो इस भवमें कुछ मौज करलें पर आगे दुर्गति ही समझिये। मनुष्यका मित्र धर्म है और वह धर्म भी केवल मन मौजका धर्म नहीं, किन्तु जिसका तत्त्वज्ञानसे सम्बंध है उस धर्मका फल है कि जिसका यह भव भी शान्तिमें व्यतीत होता है और अगला भव भी शान्तिमें व्यतीत होता है। दान देनेके अतिरिक्त उनके सत्कारके वचन बोलना, उनका यथायोग्य आदर करना, पूजा प्रशंसाके वचन बोलना, देखते ही उठकर खड़ा होना, उन्हें उच्च मानना ये भी दानके अंग कहलाते हैं। तो इस प्रकार वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें दान का यह स्वरूप बताया गया है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।

वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्त्राः ॥ ११७ ॥

चतुर्विधदानोंसे वैयावृत्यका कर्तव्य—जिनके चार मुख हैं उन प्रभुने दान चार प्रकारके बताये—प्रभुके चार मुख दिखते हैं। समवशरणमें एक अतिशय है, है यद्यपि उस शरीरमें है एक मुख मगर देवकृत अतिशय है कि लोगोंको चारों ओर मुख दिख जाता और उनके चारों ओर धर्मसभायें होती हैं इस कारण किसी भी समय कोई पहुंच जाय, उसे अड़चन भी न हो, प्रभुके दर्शन होते ही रहते हैं। प्रभुने चार प्रकारका वैयावृत्य बतलाया है। (१) आहार दान, (२) औषधि दान, (३) उपकरण दान, उपकरणोंमें मुख्यतया शास्त्रदान आता है। पिछी, कमण्डल, शास्त्र—ये तीन उपकरण हैं, किन्तु उन तीनोंमें प्रधान शास्त्र है, इस कारण दानके चार भेदोंमें एक शास्त्र दान आया है। और (४) चौथा है अभयदान। अभयदानमें ६ कायके जीवोंके कृतकारित अनुमोदनामें विराधनाका त्याग है। सो यतीजन अभयदान सब जीवोंको दे रहे हैं। जो सब जीवोंको अभयदान दे रहे हैं ऐसे गृहरहित केवल आत्माकी धुन रखने वाले मुनिजनोंको आवास आदि देना अभयदान कहलाता है। गृहस्थ दानसे ही प्रशंसाके योग्य हैं। दान और पूजाके ये दो मुख्य काम श्रावकके बताये गए हैं, सो उनमें पूजासे तो आत्मकल्याण है और दानसे धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति है।

दानरहित गृहस्थ जीवनकी व्यर्थता जानकर दानवृत्तिकी उमंग रखनेका स्मरण—जिस गृहस्थीमें आहार आदिक दानोंकी प्रथा नहीं है। वे पापारम्भके भारसे ऐसा बोझल हो जाते हैं कि वे

पत्थरकी नावके समान है। जैसे पत्थरकी नाव खुद डूबती है और दूसरोंको डुबोती है ऐसे ही जहां दानकी परम्परा नहीं है ऐसे गृहस्थजन पापके आरम्भसे खुद दबते हैं और कुटुम्बीजनोंको, मित्रजनोंको डुबोते हैं, ज्ञानी श्रावक चिन्तन करता है कि यह धन जो मैंने कमाया है या पिताका कमाया हुआ है, घरमें बिना श्रम किए ही धन मिला है अथवा राज्य ऐश्वर्य देश नगर व स्त्री, सभी नौकर आदिक सबका समूह प्राप्त हुआ है सो यह पूर्व जन्ममें दान देनेका फल है। पूर्वभवंमें दूसरेके धनमें स्वप्नमें भी चित्त न चलाया था, परम संतोषसे जीवन व्यतीत किया था, विषयोंसे विरक्त थे, चाहका परिमाण था, ऐसे तपश्चरणका फल है कि जो इस भवमें सुख सुविधा सामग्री प्राप्त हुई है। सो यह सम्पदा मिली तो है, पर इसका कुछ दिनका ही संयोग है, यह परलोकमें साथ न जायगा, मरनेके बाद यही पड़ा रहेगा। जमीनमें गड़ा धन जमीनके अन्दर रह जायगा, जो बाहर पड़ा है वह बाहर रह जायगा, उसके मालिक कोई दूसरे बनेंगे, या राजा लूट लेगा। यह जीव अचानक मरकर दुर्गतिमें चला जायगा। सो जिस धनकी मैंने प्राणोंसे भी अधिक रक्षा की उसका फल मिलेगा दुर्गति। सारा समय कष्ट ही कष्टमें व्यतीत होगा। तो ऐसे कुछ दिनके लिए प्राप्त हुए धनका दानमें सदुपयोग करूं जिससे कि पाप भी झरे और अगला भाव भी उत्तम प्राप्त हो। आहारदान देनेसे साधुजनोंको निर्बाध धर्मध्यानमें रहकर तपश्चरणका मौका मिलता है, औषधिदानसे रोग दूर हो जानेसे साधुजनोंको समतासे शान्तिसे तपश्चरणका मौका मिलता है। अभयदान देनेसे योग्य स्थानोंमें उन्हें ठहरानेसे वे निर्बाध अपने तपश्चरणमें लगते हैं और शास्त्रदान देनेसे इस तत्त्वज्ञानके प्रसादसे ऐसा ज्ञान लाभ ले लेते कि अष्ट कर्मोंका विनाश करके निकट कालमें, निकट भवमें निर्वाण प्राप्त करेंगे।

श्रावकोंके सिद्धावस्थाकी उपादेयताका मूल लक्ष्य रखकर धर्मप्रवर्तन—हम आपको यह सोचना चाहिए कि सिद्ध अवस्था मिले, तो वह है हमारे लिए भली बात, बाकी तो संसारमें जितना भ्रमण है, चाहे राजा बने, चाहे क्रोड़ाधीश बने, वह सब कष्ट है। कदाचित कोई अच्छी बात मिल गई तो उसका भरोसा क्या? जैसे कि जनताके राज्यमें जहां कोई एक राजा नहीं है तो ५ वर्षको कोई मंत्री बन गया, राष्ट्रपति बन गया, राज्य चलाने वाला बन गया, तो ५-६ वर्ष बाद क्या होता कि फिर चुनाव हुआ हार गया फिर साधारणजनोंकी भांति रह गया तो उसको कितना कष्ट होता। उसको तो जीवनभरके लिए विश्वास बन जाता कि मैं राजा रहूंगा पर ४-५ वर्ष बाद फिर चुनावमें हार जाता तो उसको बड़ा दुःख होता। तो ऐसे ही राजा हो या धनिक हो, अधिकसे अधिक जीवनभर मौज माना, पर इस मौजमें जो कर्मबन्ध हुआ उसके उदयमें दुर्गति प्राप्त होती। इससे इन बाहरी पदार्थोंको निरखकर खुश न होना कि मैं बहुत धनी हूं, मैंने अच्छा धन कमाया है, मैंने बड़ी-बड़ी सुख सुविधायें बनाया है। ऐसा अनुभव करें कि गुजारा करनेके लिए मैं घरमें रह रहा हूं, जिस तरह क्षुधा तृषा शीत उष्णकी वेदना न रहे और मैं धर्म पालनमें अपना कर्तव्य निभाऊं इतना ही प्रयोजन है जीवनका इससे अधिक प्रयोजन नहीं है वैभवका। जो वैभवमें तृष्णा किए हुए हैं उनका तो बड़ा अंधकारमय जीवन है, उसे न इस भवमें सुख है न आगे सुख रह सकता है। चतुर्थकालमें पात्रोंकी संख्या अधिक थी। सम्यग्दृष्टि मुनि व्रती अधिक मात्रामें थे। पुराणों में देखते हैं कि प्रत्येक राजा, प्रत्येक सेठ, बड़े-बड़े पुरुष भोग भोगनेके बाद अन्तमें

गृह त्यागकर मुनि हुए थे। तो इस पद्धतिसे आप देखें तो मुनियोंकी संख्या अधिक स्वयं ही हो जाती थी। पर आज पंचमकालमें सही मुनिजन सम्यग्दृष्टि श्रावक व्रतीजन बहुत ही दुर्लभ है। और कदाचित् मिल जायें और उनकी उपेक्षा करें तो यह श्रावकका बहुत पापका उदय है जो उसकी बुद्धि विपरीत बनी है। जहां कहीं भी कोई पात्र मिले तो बड़ी उमंग पूर्वक उनकी हर प्रकार सेवा करना इससे गृहस्थका जीवन सफल है, उसके पुण्यका विशेष बंध है।

दानादिकी प्रवृत्ति न करने वालोंके भविष्यकी मीमांसा—अच्छा धनी लोग यदि धनको दानमें न खर्च करें और अर्जन ही अर्जन करते जायें तो बतलावो उन्हें सफलता क्या मिली? यदि भोगोंमें ही लगायेंगे तो यह कार्य तृष्णा बढ़ाने वाला है। महापापमें प्रवर्तित वाला है। उससे नारकादि कुगति ही प्राप्त होगी, और मोहवश यदि पुत्रादिको ही समर्पण करते हैं मेरा मुन्ना है, इसको मैं खूब धन कमाकर दे जाऊं, यह बुद्धि करके जीवनमें एक धनार्जनका ही उद्देश्य बना रखा है तो उनके भी बड़ा अंधकार है। लोक व्यवहारमें हैं पुत्रादिक मगर ये ही मेरे सर्वस्व हैं, और मेरा सबकुछ श्रम इनके लिए ही हो, ऐसी मोहबुद्धिका फल दुर्गतिमें उत्पन्न होना है और फिर ये पुत्रादिक तो बिना दिए ही अपने आपले लेंगे, इनको देना कोई दान नहीं कहलाता। आप न दीजिए पुत्रोंको तो वे अपने आप ही सब मालिक बनेंगे। दान करना, सेवा करना तो उनका कहलाता है कि जिन्होंने सर्वपरिग्रहका त्याग किया है और केवल एक आत्मध्यान ही जिसको शरण है। ऐसे रत्नत्रयसे पवित्र ज्ञानीजनोंकी सेवा दानमें दान है। अच्छा मानलो किसी धनिकने सारे जीवन धन कमाया, और वह मरकर परलोक गया, यहां किसीको दान न कर सका। पुत्रादिकमें ही ममता रखकर मरा तो मरनेके बाद वह यहां देखने आयगा कि मेरा लड़का किस तरह रहता है? कैसे आ सकता है? कुटुम्बका सम्बंध तो आत्मासे नहीं है, इस चामका सम्बंध है सो यह चाम भस्मही हो जायगा, कुटुम्ब न इसको देख सकेगा, न वह धनिक कुटुम्बको देख सकेगा। फिर इतनी आसक्ति क्यों? अपने कमाये हुए द्रव्यका दान करनेकी, उसका सदुपयोग करनेकी भावना क्यों नहीं बनती। इस संसारमें अन्य कुछ इस जीवका शरण नहीं है, एक धर्म ही शरण है। जो धन है सो भी आपका नहीं, पुण्यके प्रभावसे कुछ दिन को यह मिला है, अन्तमें इसे भी छोड़कर जाना पड़ता है। धन साथ जायगा नहीं, और पुत्रादिकमें ममता करके धन संचय किया है उस ममताके कारण दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ेगा। जैसे यहां देखते हैं अनेक दरिद्रियोंको कि बेचारे अन्नके एक-एक दानेको तरसते हैं, याचना कर करके बड़ी मुश्किलमें पेट भरते हैं ऐसी ही स्थिति बनेगी उनकी जिन्होंने धन पाकर दानमें सदुपयोग नहीं किया। श्रावकोंको ममतारहित होना ही चाहिए। रागरहित तो न हो पायेंगे क्योंकि घरमें रहते हैं, सब व्यवस्था करते हैं। पर सही श्रद्धा, सही ज्ञान रखें तो श्रावकोंका कल्याण है।

ज्ञानदानका सर्वोत्कृष्ट प्रभाव—देखिये लोकमें सर्वोत्तम बात है सिद्ध भगवान होना। जो यहां यह तीन चीजोंका पिण्ड है—जीव, कर्म और शरीर। इनकी सत्ता अपने-अपनेमें अलग-अलग है। केवल इन तीनका संयोग है, तो जिनका संयोग है उनका वियोग हो सकता है। आत्मदृष्टि, आत्मध्यानके प्रतापसे अपने आपको समझ लीजिए सबसे निराला केवल अपनी सत्तामात्र, ऐसे अपने सत्तामात्र

चैतन्यस्वरूपके ध्यानके प्रतापसे इसका निर्णय मिलता है। वहां अकेला आत्मा रहे, यह ही अवस्था कल्याणमय अवस्था है। इसके पानेका ही लक्ष्य रखना चाहिए। और, इसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञानके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है जो इस जीवको शान्ति मिल सके या भगवानका पद प्राप्त हो सके। दुर्लभ वस्तु ज्ञान ही है, सो ज्ञानका अभ्यास बनायें और ज्ञानावरणका इतना विशेष क्षयोपशम न हो कि तत्त्वज्ञान ही सीख सकें तो जो ज्ञानवन्त हैं उनकी सेवा सुश्रुषामें रहें, जो ज्ञानके साधन हैं धार्मिक विद्यालय शास्त्रादिक उनके प्रचार प्रसारमें रहे और सामर्थ्य नहीं है कि हम धन व्यय कर सकें तो इस ज्ञानकी साधनाका समर्थन बनाये रहें, हृदयमें अनुमोदना करें तो यह वह साधन है जिसके प्रतापसे ज्ञानावरणका क्षयोपशम होकर ज्ञान प्राप्त होगा और यह निकटकालमें कभी केवल ज्ञानी हो जायगा। इसीलिए सर्वदानोंमें ज्ञानदानको सर्वप्रधान कहा गया है, अन्य कुछ दानतो एक गुजारा करानेके लिए हैं, किन्तु ज्ञानदान इस जीवको सदाके लिए सर्वसंकटोंसे छुटाकारा दिलानेके लिए है। ऐसा श्रावक शुद्ध भावसे पात्रको दान करता है जिसके प्रतापसे यह मोक्षमार्गमें लगा है, सद्गति पायगा वहां भी धर्म साथ रहेगा, मनुष्यभव पाकर निर्ग्रन्थ होकर सदाके लिए मुक्त होगा। यह सब ज्ञानदानके अभिप्रायका ही प्रभाव है कि वह मोक्ष जाता है।

कुपात्र दानका फल कुभोग भूमिमें उत्पत्ति—जो पुरुष कुपात्रमें दान करता है याने अन्य साधु सन्यासियोंको दान करता है भक्तिसे, जैसा कि उनका भाव है उसके प्रतापसे अच्छी गति तो नहीं प्राप्त होती कुभोग भूमि प्राप्त होती है, फिर भी खाने पीने आदिकके कष्ट तो नहीं, पर उनकी स्थिति एक विडम्बना वाली स्थिति होती है। वे मनुष्य बिढंगे होते हैं। कोई बड़े कान वाले हैं, इतने लम्बे कान हैं कि कहो एक कानमें सो जायें और एक कान ओढ़लें, ऐसे मनुष्य बनते हैं। ये मनुष्य अन्तर्द्वीपोंमें होते हैं जो लवण समुद्रके भीतर पाये जाते हैं। किसीका शेर जैसा मुख, किसीका घोड़े जैसा, किसीका कुत्ते जैसा, किसीका सूकर जैसा। यों नाना ढंगके मनुष्य होते हैं। ऐसी खोटी भोग भूमिमें उत्पन्न होते हैं, पर जो सुपात्रदान करते हैं, रत्नत्रय धारियोंकी वैयावृत्ति करते हैं उनको उत्तम देवगति, उत्तम भोगभूमि प्राप्त होती है, जहां पर धर्म का भी सम्बंध बना रहता है और मोक्ष मार्गमें प्रगति होती है।

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।

वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ ११८ ॥

वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें दानका महत्त्व—वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें चार दानोंका कर्तव्य प्रधान है। दानका अर्थ है दिया जाना, दूसरेको देना सो दान है। दानमें अपना भी उपकार है और दूसरेका भी उपकार है। अपना उपकार यह है इतने द्रव्यसे ममत्वका त्याग हुआ और साथ ही अच्छे कार्यके लिए भावना जागी, दूसरोंका उपकार इस प्रकार है कि उस आहार आदिकके फलमें वह पात्र धर्मध्यान करेगा, संयमकी साधना करेगा। सो अपने व दूसरेके आत्माकी भलाईके लिए योग्य विधिसे योग्य वस्तु योग्य पात्रको दिया जानेको दान कहते हैं। दानमें अनेक भेद हो सकते हैं। जितनी प्रकारके पात्र हैं और जो जो प्रयोजन हैं उनके भेदोंसे अनेक भेद हो सकते हैं, फिर भी चार दान प्रसिद्ध हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान । इस वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें जो अन्तमें जिनेन्द्र पूजाका प्रसंग दिया है वह भी दानमें गर्भित है । यद्यपि उससे प्रभुका इतना उपकार नहीं होता किन्तु अपना तो उपकार है इसलिए जिनेन्द्र पूजा भी दानमें अथवा त्यागमें गर्भित की गई है । धर्मके सम्बन्धमें बताया गया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म है । सम्यक्चारित्रका अर्थ है कि अपने सहजस्वरूपमें अपने उपयोगको मग्न करना । यह तो परिपूर्ण रूपसे सम्यक्चारित्र पर उसकी प्राप्तिके लिए जो पोषण होता है उस पोषणको भी व्यवहारमें सम्यक्चारित्र कहते हैं । सो अशुभ परिणतिका त्याग और शुभ परिणतिका आचरण भी सम्यक्चारित्र कहलाता है । दान शुभ परिणति है इसलिए दान भी सम्यक्चारित्र कहा गया है ।

आहारदानमें प्रसिद्ध श्रीषेण राजासे एक सम्बन्ध बतानेवाली उपकथा—चार प्रकारके दानोंमें चार व्यक्ति प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसा इस श्लोकमें संकेत किया है । आहारदानमें राजा श्रीषेण, औषधिदानमें वृषभसेना, ज्ञानदानमें कौंडेश राजा, अभयदानमें एक सूकर प्रसिद्ध हुआ है । राजा श्रीषेणकी कथा इस प्रकार है कि मलय देशमें एक बल नामका गांव था । वहां एक धरणीजट नामका ब्राह्मण रहता था । उसके दो पुत्र थे । वह ब्राह्मण जब अपने उन दोनों लड़कोंको पढ़ाता था तो उसके घरमें जो एक नीच जातिका लड़का रहता था सो वह छिपकर उसका पढ़ाना सुना करता था । उस लड़केका नाम था कपिल । कपिलकी बुद्धि तेज थी । सो वह उन दोनोंका पढ़ना व ब्राह्मणका पढ़ाना सुन सुनकर ही बड़ा विद्वान हो गया । जब नगरके ब्राह्मणोंको यह विदित हुआ कि यह कपिल नीच जातिका बालक है और उसने धरणीजट ब्राह्मणसे विद्या सीख ली है तो उन्होंने उसको बहुत डांट लगाया, क्योंकि उनके यहां ऐसी प्रसिद्धि है कि नीच कुल वालोंका पढ़ाना न चाहिए । उस आधार पर ब्राह्मणोंने उसको बहुत बुरा भला कहा । धरणीजट भी कपिलकी इस चालाकीसे बहुत नाराज हुआ और किसी प्रकार उस कपिलको घरसे निकाल दिया । अब कपिलने बल गांवमें रहना छोड़ दिया । वह जनेऊ पहिनकर ब्राह्मण बन गया । विद्या तो उसके पास थी ही सो अपनी उस विद्याके बलसे वह अपनेको खूब निभा सकता था । तो वह ब्राह्मण बनकर रत्नसंचयपुर चला गया । उस दूसरे नगरमें इस कपिलकी एक सात्यकी नामके ब्राह्मणसे भेंट हुई सात्यकीने इसे रूपवान, विद्यावान देखकर तथा ब्राह्मण समझकर अपनी कन्या सत्यभामा इसको विवाह दी । वहांके राजा श्रीषेणने कपिलके ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा सुनी तो उसने अपने यहां बुलाया और उसे शास्त्र पढ़नेके लिए रख लिया ।

श्रीषेण द्वारा सत्यभामाको पुत्रीवत् रखनेके सम्बन्धका आख्यान—वहां पर भी कपिल अपनेको ब्राह्मण ही बतलाता रहा । इस प्रकार राजासे भी द्रव्य पाकर और ब्राह्मणकी लड़कीसे विवाह कराकर वह घरमें सुखपूर्वक रहने लगा । सत्यभामाकी किसी किसी करनीको देखकर उसकी जातिपर संदेह रहने लगा, क्योंकि वह कपिल संध्या, पूजन आदिकजो ब्राह्मणके उचित काम थे उनमें बहुत ही शिथिल रहा करता था । उसका बर्ताव, वचनव्यवहार भी उच्च कुलके मनुष्योंके समान न था, और इतना ही नहीं, एक घटना ऐसी हुई कि एक दिन जब सत्यभामा रजस्वला थी उस स्थितिमें इस कपिलने सत्यभामाके साथ पाप करना चाहा, सत्यभामा उस कपिलका इतना नीचा भाव देखकर और भी संदेहमें

पड़ गई। सत्यभामाका संदेह बढ़ता ही गया और अपना संदेह मिटानेका उसे कोई उपाय न मिल सका। बलगांवमें धरणीजटके पापका उदय आया, उसका सारा धन नष्ट हो गया। भिखारी बन गया। जब उसे मालूम हुआ कि कपिल रत्नसंचयपुरमें है और वह बहुत अच्छी हालतमें है तो कुछ आशासे ही वह धरणीजट कपिलके पास गया। कपिलको वहां भी अपनी जातिका भेद खुलनेका निरन्तर डर रहा करता था। और अब धरणीजटको आया हुआ देखा तो उसके बहुत घबड़ाहट हुई। उस घबड़ाहटका कारण यह ही था कि कहीं यह धरणीजट मेरी जातिका भेद न बता दे। इस शंकाकी वजहसे कपिलने धरणीजटका और भी अधिक सम्मान किया। धरणीजटको अच्छी तरह रखा, बहुत धन दान किया और अपनी स्त्री तथा पहिचानके लोगोंसे विदित करा दिया कि यह तो मेरे पिताजी हैं। धनके लोभमें आकर धरणीजटने भी कह दिया कि कपिल मेरा ही पुत्र है। सो लोभके वश न जाने क्या-क्या हुआ करता है। एक दिन की बात है कि कपिल कहीं दूसरे गांवको गया हुआ था। तब सत्यभामाने उस धरणीजटको बहुत धन दिया और एकान्तमें पूछा कि सच बताओ यह कपिल आपका ही पुत्र है या नहीं? वह ब्राह्मण धरणीजट पहले तो बड़ी चिन्तामें पड़ गया कि मैं क्या उत्तर दूं लेकिन सत्यभामाके सम्मानको देखकर और बहुत दिए हुए द्रव्यको देखकर उसने सारी बात कहदी कि कपिल मेरा पुत्र नहीं है और यह तो शूद्रका पुत्र है। बस धरणीजटने यह हाल बताया, उसके बाद वह वहां न रह सका। कपिलका उसको डर था। वह एक दम रत्नसंचयपुरसे चल दिया। अब यहां सत्यभामाको जब मालूम हो गया कि यह कपिल बड़ा कपटी है और उसने अपने कपट जालसे मुझे विवाहा है तो उस सत्यभामाने कपिलके साथ बोलना बिल्कुल बंद कर दिया और राजा श्रीषेणके पास जाकर उस सत्यभामाने सब वृत्तान्त सुनाया क्योंकि वह कपिल राजाके यहां शास्त्र पढ़ता था। दूसरी बात कोई दुःखी हो, किसीका अपराध हो तो राजासे कहना भी चाहिए। राजाको भी पता पड़ गया कि कपिल शूद्रका पुत्र है और इसने धोखा देकर ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया है और उसको हमने भी शास्त्र पढ़नेके लिए रखा है तब भी इसने अपना जाति भेद नहीं कहा, तो राजाने कपिलको गधे पर बैठाकर अपने राज्यसे निकाल दिया और सत्यभामाको अपने ही महलमें पुत्रीके समान बर्ताव कर रख लिया।

राजा श्रीषेण द्वारा आहारदान व श्रीषेणकी रानियों द्वारा एवं धर्मपुत्री सत्यभामा द्वारा आहारदानकी अनुमोदना—एक दिन राजा श्रीषेणके यहां आदित्यगति और अरिजय नामके दो मुनिराज आहारके लिए चर्या करते हुए आये, राजाने बड़ी भक्तिपूर्वक उन मुनिराजको पड़गाहा और निर्दोष आहार दिया। श्रीषेण राजाकी सिंहनंदिता और आनंदिता इन दोनों रानियोंने उसके आहारदानकी बड़ी प्रशंसाकी साथ ही धर्मपुत्री सत्यभामा ने भी श्रीषेणके आहारदानकी बड़ी अनुमोदना की। निरन्तराय आहारदान होनेसे राजाके यहां देवताओं द्वारा रत्नवर्षा, पुष्पवर्षा, दुंदुभीका बजना, मंद सुगंधित हवा चलना और जय-जयके शब्द होना ये पंच आश्चर्य हुए।

आहारदानके प्रभावसे राजा श्रीषेणका उत्थान व निकटकालमें निर्वाण—राजा श्रीषेणने बहुत वर्षों तक राज्य किया और राज्य करके जब शरीर छोड़ा तो मरकर आहारदानके प्रभावसे उत्तम भोगभूमिमें बड़े सुखके साधन मिले। वहां तीन पत्न्यकी आयु थी, ये जुगला जुगली उत्पन्न हुए। इनके

उत्पन्न होते ही माता-पिता मर गए, फिर ये दोनों जीवनभर बहुत विषय सुख साधनोंमें मग्न रहे। दोनों रानियां और सत्यभामाने भी आहारदानकी प्रशंसा की थी, उनके प्रभावसे वहीं भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण बहुत काल तक भोगभूमिका सुख भोगकर स्वर्गमें देव हुए और वहां से चलकर चक्रवर्ती राजा हुए। ऐसे ही मनुष्य और देवोंके थोड़े भव रखकर १६वें तीर्थकर श्री शान्तिनाथ हुए। शान्तिनाथ भगवानने राज्यसुख भोगकर छोड़कर तप धारण किया, केवल ज्ञानी हुए, संसारके सब जीवोंके हितका उपदेश करते रहे और अन्तमें अष्ट कर्मोंके विनष्ट होते ही वे मोक्ष पधारे। यहां आहारदानकी महिमा बतायी गई है। इस दानके प्रतापसे राजा श्रीषेणने ऊंचे-ऊंचे पद पाये और तीर्थकर पदमें आकर लोक कल्याण करके मोक्ष पधारे। आहारदान श्रावकोंका प्रतिदिनका कर्तव्य है। इससे ही धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति चला करती है।

औषधिदानमें प्रसिद्ध वृषभसेना द्वारा पूर्वभवमें औषधिदान व वैयावृत्य द्वारा मुनिराजकी सेवाभक्ति—औषधिदानमें वृषभसेना प्रसिद्ध हुई। इसी भारत देशमें कावेरी नगरमें एक ब्राह्मण रहता था, उसकी लड़कीका नाम नागश्री था। वह नागश्री मंदिर जीमें झाड़ने बुहारनेका काम किया करती थी। एक दिन शामको मंदिरमें मुनिदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे और वहां नागश्री झाड़ने आयी और झाड़ते-झाड़ते उस जगह पहुंची जहां मुनि महाराज ध्यान लगाये बैठे थे। उस नागश्रीने मुनिसे कहा कि उठो, हमें यहां झाड़ना है पर मुनिराज ध्यान पूर्ण किए बिना कैसे उठ सकते थे, वे न उठे और ज्योंके त्यों ध्यानमें बैठे रहे। नागश्रीने कई बार मुनिराजसे उठनेको कहा पर वह न उठे, अपने ध्यानमें मस्त रहे वहां नागश्रीको क्रोध आया सो क्या किया कि कूड़ेका बहुत बड़ा ढेर मुनि महाराजके चारों ओर लगा दिया, यहां तक कि इतना कूड़ा ऊपरसे हो गया कि वे मुनिराज उसमें दब गए पर इस उपसर्गमें भी मुनिराज अपने ध्यानसे विचलित न हुए, बल्कि और भी अधिक ध्यानमें बढ़ गए। सारी रात यों ही ढके रहे। सवेरा होते ही जब राजा मंदिरमें गया और वहां कूड़ा कचराका ढेर कुछ हिलता हुआ सा देखा तो समझ लिया कि इसके अन्दर कोई पुरुष ढका है। जब सारे कूड़ेको हटवाया तो क्या देखा कि उसके अन्दर मुनिराज बैठे हैं। उन्हें दण्डवत प्रणाम किया और दुःखी होकर चले गए। उधर वह नागश्री भी उसी समय झाड़ने बुहारनेका काम करने गई तो क्या देखा कि वह मुनिराज शान्तचित्त बैठे हुए थे, उस समय नागश्रीके चित्तमें मुनिराजके प्रति बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई और वह अपनी मूर्खतापर बहुत पछताई। मुनिराजसे क्षमायाचना भी किया। उसने मुनिराजका कष्ट दूर करनेके लिए अनेक प्रकारकी दवाइयांकी और वह मुनिराजकी वैयावृत्तिमें बहुत लग गई, मुनिराजको बिल्कुल स्वस्थ कर दिया।

औषधिदानके प्रभावसे नागश्रीके जीवका वृषभ सेनाके भवमें एक चमत्कार—इस औषधि दानका प्रभव देखिये कि जब नागश्रीकी आयु पूर्ण हुई तो वह मरकर उसी नगरके धनपति सेठकी पुत्री हुई। सेठने उस पुत्रीका नाम वृषभसेना रखा। वृषभसेना रूपवती और भाग्यवती थी एक दिन उसकी दासी वृषभ सेनाको स्नान करा रही थी, उसके स्नान करानेसे जो नीचे पानी गिरता था वह बहकर एक गड्ढेमें भर गया। अचानक ही वहां एक रोगी खुजैला कुत्ता आया और उस गड्ढेमें गिर गया, थोड़ी देरके बाद जब वह कुत्ता गड्ढेसे निकला तो वह बिल्कुल निरोग हो गया। कुत्तेकी ऐसी

हालत देखकर उस दासीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मनमें विचारा कि जो इसको आराम हुआ है सो वृषभसेनाके स्नानके जलमें नहानेसे हुआ है। वह वृषभसेनाके उस नहाये हुए जलको लेकर अपने घर भी गई। उस दासीकी माताकी आँखें ठीक न थीं, अंधी थी, उस दासीने अपनी माँकी आँखोंमें जो कई वर्षोंसे बिगड़ रही थी, पानी लगाया तो उसे दिखने लगा। जब शहरमें यह बात फैल गई तो सभी प्रकारके रोगी अब वृषभसेनाके स्नानका जल लेनेके लिए आने लगे और उनको आराम भी होने लगा।

वृषभसेनाके चमत्कारका राजा उग्रसेन पर महान प्रभाव—उस समय वहाँके राजा उग्रसैन थे। उन्होंने अपने मंत्री रणपिंगलको अपने शत्रु राजा मेघपिंगलसे लड़नेको भेजा। राजा मेघपिंगलको जब अपनी जीत न दिखाई दी तो उसने उस कुर्वेके पानीमें विष मिला दिया जिस कुर्वेका पानी रणपिंगलकी सेनाके पीनेके काम आता था। उस पानीके पीनेसे बहुतसे सिपाही मर गए और बहुतसे बीमार हो गए। जब रणपिंगलकी बची हुई सेना वापिस आ गई और सेनाको वृषभसेनाके स्नान किए हुए जलसे धोया तो सबको आराम हो गया। जब उग्रसेनको मेघपिंगलकी बेईमानी ज्ञात हुई तब वह खुद ही सेना लेकर मेघ पिंगलसे लड़ाई करने लगा। मेघपिंगलने फिर भी वही काम किया जिससे राजा उग्रसैनकी और उसकी सेनाकी तबियत बिगड़ने लगी, तो लाचार होकर राजा भी लौट आया। राजधानीमें आने पर राजाने मंत्रीकी सलाहसे वृषभसेनाके स्नानका जल मंगवाया। जब राजाके नौकर वृषभसेनाकी दासीके पास जल मांगने गए तो सेठानीने अपने पतिसे कहा कि हे स्वामी अपनी बेटीके स्नानका जल राजाके ऊपर छिड़का जाय यह तो ठीक नहीं जंचता, सेठने उत्तर दिया कि हे प्रिये अपनेको राजासे कुछ छल नहीं करना है, सब सच्चा हाल उन्हें सुना दिया जायगा। धनपति सेठने दासीके द्वारा वृषभसेनाके स्नानका जल राजाके पास भेज दिया और उस दासीने पहले ही राजाको मालूम करा दिया था कि यह वृषभ सेनाके स्नानका जल है, फिर राजाके ऊपर छिड़क दिया तो राजाको तुरन्त आराम हो गया।

वृषभसेनाका पट्टरानी बनना—जब राजा उग्रसैनको वृषभसेनाकी ऐसी महिमा विदित हुई तो धनपति सेठको राजाने अपने पास बुलाया और कहा कि आप अपनी लड़कीका विवाह मेरे साथ कर दें। तो सेठजीने उत्तर दिया कि महाराज हमारे समान तुच्छ मनुष्यके साथ आप नाता करना चाहते हैं यह तो हमारे बड़े भाग्यकी बात है। और बेटी वृषभसेना भी विवाहके योग्य हो गई और आपके साथ उसका विवाह करनेको तैयार भी हूँ, परन्तु मुझे यह कहना है कि आपको अष्टान्हिकाके दिनोंमें भगवानकी पूजा बड़े ठाठबाटके साथ करानी पड़ेगी। जो पशु पक्षी पिंजरोमें बंद हैं तथा जो कैदी जेलखानेमें बंद हैं उनको छोड़ देना पड़ेगा। राजा उग्रसेनने सेठकी सब बातें मान ली और वृषभसेनाने विवाह करा लिया। राजा वृषभसेनाको पट्टरानी बनाकर सुखसे रहने लगा। वृषभसेना उन सुखोंमें अपनेको भूली नहीं, वह भगवानकी पूजा, स्वाध्याय, शील, संयम पात्रदान आदिक कर्तव्य सदैव कर रही थी। राजा उग्रसेनने सेठको दिए हुए वचनों पर सभी पशुपक्षियोंको और कैदियोंको छोड़वा दिया परन्तु बनारसके पृथ्वीचन्द्रको नहीं छोड़ा। यह पृथ्वीचंद राजा बहुत क्रूर था। राजा पृथ्वीचन्दकी रानी नारायण दत्ता बनारसमें रहती थी और उसको बड़ा भरोसा था कि इस समय उसका पति भी छूट जायगा, परन्तु जब

यह न हुआ तो उस रानीने बनारसमें वृषभसेनाके नामसे कई दानशालायें बनवायी और इसीलिए बनवायी कि जिससे रानी वृषभसेनाको बनारसके राजा पृथ्वीचंदका सब हाल मालूम हो जाय कि महाराजने मेरे पतिको अब तक नहीं छोड़ा। उन दानशालावोंमें प्रत्येक मनुष्यको बढ़िया भोजन कराया जाता था। उन दानशालावोंका नाम बहुत बढ़ गया। कावेरीके ब्राह्मण बनारस गए, दानशालावोंमें भोजन किया व प्रशंसा करते हुए आये। दासीने दानशालायें मालूम होते ही, वृषभसेनासे कहा कि आपके नामकी कई दानशालायें नगरमें खुली हैं तो वृषभ सेनाने कहा कि हमने तो नहीं खुलवाई। तब दासीने सब पता लगाया व बताया कि नारायणदत्ताने अपने पतिको छुड़ानेके लिये वृषभसेनाके नामसे दानशालायें खुलवाई। तब वृषभसेनाके कहनेसे राजाने पृथ्वी चंदको छोड़ दिया। पृथ्वीचंद्र राजाने उग्रसेन व वृषभसेनाके प्रति विनय दर्शाई। तब पृथ्वीचंदका मित्र मेघपिंगल भी उग्रसेनका सेवक बन गया, राजावोंने उग्रसेनको भेंट दी उसमें आधा धन व एक दुशाला मेघपिंगलको दिया व आधा धन व एक दुशाला वृषभसेनाको दिया। मेघपिंगलकी रानी वही दुशाला ओड़कर वृषभसेनाके पास गई। दुशाला बदला गया कपड़े धरने उतारनेमें। कई दिन बाद दूसरा दुशाला देखकर राजाको शक हुआ, रानीको समुद्रमें ढकेला, देवोंने सिंहासनपर बैठाया। राजाने क्षमा मांगी। अन्तमें वृषभसेना आर्यिका हो गई। औषधिदानके प्रभावसे वृषभसेनाने स्नानजलका चमत्कार पाया, पर नागश्रीके भवमें मुनिनिन्दाके कारण व्यर्थ कलंक लगा। औषधिदानकी महिमा निरोग रहना व करना है।

शास्त्रदानमें प्रसिद्ध गोविन्द ग्वालाका सद्गति पा पाकर कौण्डेश मुनिके पर्यायमें सर्व श्रुतज्ञपना—एक दान है शास्त्रदान। शास्त्रदानमें कौण्डेश मुनि प्रसिद्ध हैं। बहुत पुरानी वार्ता है कि इस हिन्दुस्तानमें कुरुमरी नामका एक गांव था। वहां एक ग्वाला रहता था जिसका नाम गोविन्द था। एक दिन गोविन्द जंगलमें गया और उसने एक वृक्षके खोलमें एक शास्त्र जी रखा हुआ देखा। शास्त्रजी को गोविन्द अपने घरले आया और उसकी रोज-रोज पूजा करने लगा। गोविन्द पढ़ा लिखा तो था नहीं, वह बांचता कैसे? लेकिन वह शास्त्र जी की पूजा करके ही संतोष कर लिया करता था। एक दिन श्री पद्मनन्दी मुनिके गोविन्दने दर्शन किया तब उसने वह ग्रन्थ उन मुनिराजको दे दिया। पद्मनन्दी मुनि बहुत समय तक उस ग्रन्थका स्वाध्याय करते रहे और उस ग्रन्थके द्वारा भव्य जीवोंको उपदेश देते रहे। अन्तमें जब पद्मनन्दी मुनि वहांसे विहार करते समय साधुवोंकी नीतिके अनुसार वृक्षकी खोलमें उस ग्रन्थको रखकर चले गए। पद्मनन्दी मुनिके चले जाने पर भी गोविन्द उस शास्त्रजी की पूजा प्रतिदिन किया करता था। योगवश गोविन्दको एक सांपने डस लिया और गोविन्द मर गया। पर मरण समय गोविन्दने यह निदान किया था कि मैं किसी धनिकका पुत्र होऊं। निदानका अर्थ यह है किसी जीवने यदि कुछ पुण्य किया है तो उस पुण्यसे जितना जो कुछ लाभ होना है, यदि वह उससे कम लाभ चाहे तो उसको मनचाहा लाभ मिल जाता है। गोविन्द इस निदानके कारण कुरुमरी गांवके एक पटेलके यहां पुत्र हुआ। कुछ उसने पूर्व जन्ममें मुनिको शास्त्रदान करके बड़ा पुण्यबंध किया था सो बहुत ही रूपवान, भाग्यवान, और बुद्धिमान हुआ। एक दिन पद्मनन्दी मुनि बिहार करते हुए उसी कुरुमरी गांवमें आये। मुनिको देखकर उस बालकको पूर्वभवका स्मरण हो आया। तब उस बालकने मुनिको नमस्कारकर

उनसे दीक्षा ली और तपश्चरण किया। आयु पूर्ण होनेपर पुण्योदयसे वह कौंडेश राजा हुआ जो बड़ा ही वीर और मनोज्ञ था एक दिन राजा कौंडेशको वैराग्य उत्पन्न हुआ। सो उसने मुनि दीक्षा ग्रहण की। आत्माके गुणोंके चिन्तनमें उपयोगको जोड़ दिया और तपश्चरणके प्रभावसे तथा पूर्वभवोंमें शास्त्रदान देनेके प्रभावसे वह श्रुत केवली हो गया। श्रुत केवलीको समस्त द्वादशांग श्रुतका ज्ञान होता है और वह श्रुतकेवली कुछ ही भव धारण करके निर्वाणको प्राप्त करता है, तो ज्ञानदानका ऐसा अद्भुत प्रभाव जानकर ज्ञानदानमें अपने तन, मन, धन, वचनका प्रयोग करना चाहिए। इस ज्ञानदानके प्रभावसे निकटकालमें ही वह पुरुष केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पाता है। श्रावकका अभयदान करना भी कर्तव्य है। जीवोंको निवासका स्थान देना, कोई विपत्ति आये उसे दूर करना यह सब अभयदान कहलाता है।

अभयदानमें प्रसिद्ध जंगली शूकरराजकी गुरुभक्ति—अभयदानमें एक जंगली सुवरकी बड़ी प्रशंसा गायी गई है। घटना ऐसी है कि मालवदेशमें घट नामका एक गांव था, वहां एक नाई और एक कुम्हार रहते थे। नाईका नाम धर्मिल और कुम्हारका नाम देवल था। वे दोनोंही धनिक भी थे। सो दोनोंने मिलकर एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन देवल कुम्हारने एक मुनिराजको लाकर उसी धर्मशालामें ठहरा दिया और आप घर चला गया। जब धर्मिलको यह मालूम हुआ तो उसने मुनिका हाथ पकड़कर निकाल दिया और एक पाखण्डी साधुको धर्मशालामें ठहरा दिया। देवलने जब मुनि महाराजको धर्मशालासे निकालनेका वृत्तान्त सुना और मुनिराजका अपमान सुना तो उसे बड़ा दुःख हुआ। मुनिराजने तो कुछ भी बुरा नहीं माना वे तो शान्तचित्त ही रहे और वहांसे चलकर वे एक वृक्षके नीचे पहुंचकर ध्यानमें लीन हो गए। वहां डॉस मच्छरोंने उन्हें बहुत पीड़ा दी और मुनिराजने बड़ी धीरतासे उस पीड़ाको सहन किया। देवलने जब यह सब वृत्तान्त जाना और मुनिराजको एक वृक्षके नीचे ध्यान करते पाया तब उसे धर्मिल पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिलको उसने खूब डांट लगाया, पर धर्मिल भी देवलकी फटकार न सहन कर सका, सो उनमें आपसमें लड़ाई बन गई, दोनोंकी मारपीट हुई और आपसमें वे दोनों लड़ लड़कर मर गए। देवल कुम्हार तो मरकर एक जंगली सुवर हुआ और धर्मिल नाई उसी जंगलमें बाघ हुआ। पहाड़की जिस गुफामें सुवर रहता था उसमें समाधिगुप्ति और त्रिगुप्ति दो मुनिराज आकर ठहर गए। सुवरने मुनिराजके दर्शन किया तो उसे पूर्वजन्मकी सब बात याद आयी। उसने मुनिके चरणोंमें नमस्कार किया और उनके दर्शन उपदेश पाकर श्रावकके व्रत ग्रहण किया। अब धर्मिलका जीव जो बाघ हुआ था वह मनुष्योंकी गंध पाकर गुफाकी ओर आया और चाहा कि मैं इन दोनों मुनियोंको खा लूँ, पर वह सुवर गुफाके द्वार पर आकर खड़ा हो गया। बाघको न जाने दिया। दोनोंमें लड़ाई हुई। बाघने सुवरको नखोंसे, दांतोंसे खूब घायल कर दिया और सुवरने भी उसे अधरमरा बना दिया। अन्तमें दोनों मर गए। दोनोंके भावोंमें बड़ा अन्तर था। सुवरके भाव तो मुनिकी रक्षा के थे और प्राण रहते तक उनकी रक्षा की। इसमें सुवरका जीव तो स्वर्गमें देव हुआ और बाघका भाव मुनिके भक्षणमें था। वह मरकर नरक गया। सो सो जीवोंकी रक्षा करता है, अभयदान देता है वह कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होता है और सदाके लिए निर्भय हो जाता है।

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं ।

कामदुहि कामादाहिनी परिचिनुयादाहतो नित्यम् ॥ ११९ ॥

श्रावकका प्रतिदिवस देवालयमें देव परिचरणका कर्तव्य—वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें मुख्य वर्णन अतिथि सम्बिभागका था याने मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, गृहत्यागी, ब्रह्मचारीजनोंको उनके योग्य आहार, शास्त्र औषधि, अभयदान करना यह श्रावकोंका वैयावृत्य है। मुख्य वर्णन करनेके बाद अपने आत्मकल्याणके अर्थ देवपूजाका भी कर्तव्य बता रहे हैं। जो देवाधिदेव हैं अर्थात् देवोंके भी अधिदेव हैं, जिनके चरणोंमें बड़े-बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं, ऐसे अरहंत देवके चरणोंमें आदर पूर्वक नित्य ही पूजा आदर करना चाहिए। इस जीवको मोक्ष मार्गके लिए मुख्य कर्तव्य है कि अपने आत्माके सहज स्वरूपकी दृष्टि करे। मैं वास्तवमें क्या हूँ, मेरा सहज स्वरूप क्या है? ज्ञानमात्र अमूर्त। इस अमूर्त ज्ञानमात्र तत्त्वका निरन्तर ध्यान रखें, किन्तु गृहस्थावस्थामें यह बात नहीं निभ पाती है क्योंकि उसे आजीविकाके अनेक कार्य लगे हैं, आरम्भ लगे हैं, तो वहां उपयोग भ्रमता रहता है। तो ऐसी स्थितिमें रहने वाला गृहस्थ किसी आलम्बनसे ही धर्म कार्य कर सकता है। जैसे मुनिजन बिना अन्यके आलम्बनके अपने आत्माके आलम्बनसे ही ध्यान बनाये रहें इसमें समर्थ हैं उस भांति गृहस्थ समर्थ नहीं हैं कि वे परमात्माकी मूर्ति, शास्त्र आदिकके आलम्बन बिना अपना धर्म साधन कर सकें। मुनिजन भी सहज कहीं मंदिर मिले तो वहां वे प्रभुकी उपासना करते हैं पर उन्हें आवश्यक नहीं है कि मुनिजन प्रतिदिन मंदिर दूढ़ें ही और दर्शन करें ही, क्योंकि उन्हें अपना आत्मस्वरूप दृष्टिगत हुआ है, और खुद उनका जिनलिङ्ग रूप है, पर गृहस्थको जो कि अनेक बाधावोंमें रहता है उसका तो यह आवश्यक कर्तव्य है कि जिनेन्द्र देवकी मूर्तिके समक्ष अपना धर्मध्यान बनायें।

प्रभुदेहकी स्फटिकमणिसंकाशता—प्रभु अरहंत कैसे हैं? साक्षात् देखनेमें जो उनका देह आता है वह परमौदारिक शरीर है। यहांके मनुष्य तिर्यज्ज्योंकी नाई उनके शरीरमें धातु कुधातु नहीं हैं किन्तु स्फटिकमणिकी तरह स्वच्छ उनका देह है। यही तो कारण है कि भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे स्फटिकमणिकी प्रतिमा हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, कांच भी बहुत निर्मल हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, स्फटिकमणिके समान स्वच्छ, उस शरीरकी भी छाया नहीं पड़ती। तो प्रभुका देह स्फटिक मणिके तुल्य है, उनका देह पहले गृहस्थावस्थामें अपवित्र था। अनन्त निगोद जीवोंसे भी भरा था, पर निगर्मन्थ दिगम्बर हुए बाद आत्माका ध्यान करनेके प्रसाद से श्रेणीमें चढ़े और जिस क्षपक श्रेणीमें चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचे तो वहां एकत्ववितर्क अवीचार शुक्ल ध्यानके माहात्म्यसे उनके शरीरमें निगोदराशि अब नई नहीं पैदा होती, गुणहानिके हिसाबसे उनका जन्म रुकता है, मरण बराबर चलता रहता है तो अन्तमें ऐसी स्थिति आती है कि उस शरीरमें निगोदराशि बिल्कुल नहीं रहती और उसही ध्यानके प्रतापसे ये धातु कुधातु भी अपने मलको छोड़ देते हैं और स्फटिकमणिकी तरह देहहो जाता है।

अच्छा बुरा देह पानेकी अपने भावोंपर निर्भरता—जिन जीवोंको आज देह उत्तम मिला है, निरोग मिला है, सुन्दर मिला है तो यह किसका माहात्म्य है? पूर्वजन्ममें विशुद्ध परिणाम किया था

उसका माहात्म्य है कि उस प्रकारका कर्मबन्ध हुआ और शुभ कर्मके उदयमें उत्तम शरीर मिला। तो अपना सारा भविष्य अपने भावों पर आधारित है। भले ही आजका प्रोग्राम हमारे हाथ नहीं है मगर भविष्यका प्रोग्राम हमारे हाथ है। आज जो कुछ हो रहा है वह पूर्वजन्मकी करनीके फलमें हो रहा है और भविष्यमें जो होगा वह आजकी हमारी क्रिया करनीके फलरूप होगा। तो हम कैसे बनें संसारमें? धनी, राजा, देव बनें या दीन हीन दरिद्र दुःखी बनें, यह सब मेरे भावोंपर निर्भर है। अथवा संसारकी समस्त पदवियोंको त्यागकर सिद्ध प्रभु बनें, वह भी हमारे भावोंपर आधारित हैं। इसी कारण आज बड़ी जिम्मेदारी है कि हम चाहें तो अपने कल्याणका मार्ग बना सकते हैं। और चाहें तो अधोगतिमें गमनका साधन बना सकते हैं। भैया, जो समागम आज मिला है वह मूर्छा, ममत्व करने लायक नहीं है। जो यहां कुटुम्बमें, धन वैभवकी मूर्छामें मोह करेगा उसके अधः पतन है। यह कुटुम्ब कब तक साथ देगा? इस जीवनमें भी साथ नहीं दे सकता है, फिर मरणपर तो साथ देनेका प्रश्न ही नहीं है, फिर किसके लिए किसकी ममतामें आकर अपने आत्माका बिगाड़ किया जाय? अपना आत्मभाव परमात्माके ध्यानमें रहे, गुरुजनोंकी सेवामें रहे और अपने स्वरूपके ज्ञान ध्यानमें रहे, गृहस्थीमें रहता हुआ भी मुख्य लक्ष्य यह ही होना चाहिए, बाकी आजीविका आदिका अपने समयपर कर्तव्य निभायें।

निर्वाञ्छ प्रभुपूजाकी उत्कृष्ट पुण्य साधनता—अरहंत प्रभु जो अनन्त आनन्दसे सम्पन्न हैं वे चार घातिया कर्मोंसे रहित हैं। धर्मके नामपर लोग अनेक प्रकारकी चेष्टायें करते हैं इस लक्ष्यको लेकर कि मेरा धन सम्पदा अच्छी रहे, मेरे जीवनमें कोई कष्ट न आये, ऐसी लौकिक बातोंका उद्देश्य बनाकर करते हैं, पर ऐसा सोचनेसे न यहांके रहे न वहां के रहे। मोक्षमार्गका तो वह पुरुष रहा ही नहीं। और यहां ऐसा सोचनेसे मिल जाय सो होता नहीं, बल्कि वहां धर्म ही नहीं हो रहा, क्योंकि चित्त फंसा है इसमें कि हमें धन सम्पत्ति विभूति मिले, यश मिले, नेतागिरी मिले, अनेक प्रकारके ठाठबाट मिलें। जब लौकिक वैभवमें चित्त पड़ा हुआ है तो उसके निरन्तर मिथ्यात्व चल रहा है और मिथ्यात्वके वातावरणमें, मिथ्यात्वके आशयमें पुण्य भी नहीं प्राप्त होता है और एक निर्वाञ्छक होकर व्यवहार चलानेके लिए, जीवन चलानेके लिए ऐसा निर्णय रखकर कि मेरी जो स्थिति होगी उन सब स्थितियोंमें मैं अपना गुजारा कर सकता हूं, किन्तु जीवन मेरा धर्मके लिए ही है धर्मके प्रतापसे इस भवमें भी सम्पन्नता रहती है, भविष्य भी उज्ज्वल रहता है। तो प्रभु अरहंत देवका ध्यान एक बहुत बड़ा पुण्यका बंध करने वाला है। ऊंचा से ऊंचा पुण्य बंध उस जीवके होता है जो देव, शास्त्र, गुरुकी पूर्ण भक्ति सहित आराधना करते हैं। बड़ेसे बड़े पुण्यका कारण अन्य कुछ नहीं हो सकता, पुण्यके और भी साधन हैं, परवे सब अल्पपुण्यके साधन हैं। ऊंचे पुण्य साधन देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति है। अरहंत प्रभु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंसे रहित हैं। इन्होंने प्रथम मोहनीय कर्म नाश किए, उसमें भी दर्शन मोहनीयका नाश किया, सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका विनाश किया।

सम्यक्त्वलाभ आत्मकल्याणका सुनिश्चित प्रथम सोपान—आज जो भी गृहस्थजन हैं वे यद्यपि पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकते तो भी सम्यक्त्वप्राप्त कर लें यह ही उनके लिए बहुत ऊंची बात है, और सम्यक्त्वकी प्राप्ति तपश्चरणसे ही हो सो बात नहीं है। यह तो ज्ञानसाध्य बात है। आत्माके सही

स्वरूपका ज्ञान बनायें और उस ज्ञानसे जो समझ बनेगी उसमें जो आनन्द मिलेगा उसमें ही संतुष्ट होनेका भाव रखें तो एक आत्माकी धुन बनेगी और इस धुनमें बाह्य पदार्थोंका विकल्प छूटकर एक सेकेण्ड आधे सेकेण्डको भी इससे भी कम समयको यदि आत्माके स्वरूपमें दृष्टि लग गई तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो लेगा। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसे ही परमात्माके सही स्वरूपकी सुध हो सकती है। जैसा यह मैं हूँ स्वरूपमें ऐसा ही जिसका पूर्ण विकास हुआ है वह कहलाता है भगवान्। जिसको अपने स्वरूपका पता नहीं उसे भगवान्के स्वरूपका भी सही पता नहीं। वचनोंसे भले ही कहलें कि घातिया कर्म रहित हैं, केवलज्ञानी हैं, वीतराग हैं सारी बातें ये ऊपरसे वचन निकल जायेंगे, मगर भीतरमें भगवान्का स्वरूप न समा पायगा कि वास्तवमें भगवान्का स्वरूप यह है। चूँकि आत्मा-आत्मा सब एक समान हैं। प्रभुका आत्मा, मेरा आत्मा स्वरूपदृष्टिसे एक समान है, इस कारण स्वरूपकी खबर होनेसे प्रभुके स्वरूपका भी प्रकाश हो जाता है।

स्वरूपसाम्यकी उपासनापूर्वक प्रभुकी आराधनाकी महिमा—प्रभुकी पूजा करें, पर निर्वाञ्छक होकर करें, कोई चाह चित्तमें न रखें, केवल एक मोक्षमार्गके नातेसे प्रभुकी पूजा करें। हे प्रभो, जिस उपायको करके आपने सदाके लिए संसारका संकट दूर किया उसी मार्गको मैं अपनाऊँ और संसारकी इन सारी विडम्बनाओंको भूल जाऊँ, अपने आपमें अपने सहज चैतन्यस्वरूपका स्पर्श करके पवित्र बन लूँ बस प्रभु यही भावना है। पूजन करके पूजन करते समय यदि कुटुम्ब वैभव आदिकका ही ख्याल रखा तो बतलावो यह कुटुम्ब वैभव कुछ उसकी मदद कर सकेगा क्या कभी? मरण समयमें यह साथ जा सकेगा क्या? फिर क्यों इतना अधिक लगाव हो कि प्रभुकी पूजा करके भी सम्पदा हीके विकासका ध्यान रखें, परपदार्थोंका ही ख्याल बनाये रहें, ऐसे अधिक मोहको तो धिक्कारना चाहिए। देखिये मोहकी परीक्षा अन्य अन्य प्रसंगोंमें भी होती है मगर एक परीक्षा धर्मके प्रसंगमें भी होती है। धर्म करके यदि उसके फलमें कोई कुटुम्ब धन आदिकका विकास होना चाहता है तो समझिये कि उसे तीव्र मोह है, जबकि निर्मोह वीतराग प्रभुके सामने मोहकी बात सोच रहा है। पूजाका सच्चा अधिकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको है अथवा विवेकी पुरुषोंको। धर्मके एवजमें रंचमात्र भी बाहरी सम्पदाके लाभका विचार न करना चाहिए। केवल एक मेरे स्वरूपका कैसे विकास हो। कैसे मैं निश्चित होऊँ, कैसे मैं निशल्य होऊँ, और कैसे मैं निर्विकल्प होऊँ और ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह मेरी स्थिति बने, इसी प्रयोजनसे प्रभुकी पूजा करे सों प्रभु पूजामें प्रभुकी ओर ध्यान होगा और अपनी ओर ध्यान होगा, बारबार अपने स्वरूपकी ओर आयगा, प्रभुके गुणोंके स्मरणमें आयगा। तो बड़े हुए हैं और धार्मिक समागम मिले हैं तो ऐसा भीतरमें ज्ञान प्रकाश रखना चाहिए कि धर्मके एवजमें केवल धर्मकी प्राप्ति ही चाहें। धर्म मायने आत्माका स्वरूप, स्वभाव, ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहना, यह ही चाहें, अन्य कुछ न चाहें, फिर देखिये इस जीवनमें भी कैसी शान्ति मिलती है और भविष्यमें भी कितनी शान्ति मिलती है।?

प्रभुगुणस्मरणकी संसारसंकटहारिता—देवाधि देव अरहंत प्रभुके चरणोंका पूजन समस्त विषयोंको नाश करने वाला है, इन्द्रियके विषयोंकी कामना को नाश करने वाला है और मोक्ष मार्गको बढ़ाने वाला है निर्वाणके निकट ले जाने वाला है, ऐसा आत्मस्वरूपका और प्रभुकी भक्तिका धुनिया

होना चाहिए। अन्य समयपर भले ही विकल्प आयेंगे। आजीविकाके समय पर अनेक प्रसंग घटनायें आयेंगी और उन समस्यावोंका सुल्झेरा भी करना होगा मगर जब धार्मिक कर्तव्य करें उस समय बाहरी बातोंकी रंच भी इच्छा न करना चाहिए। यदि कोई ऐसा भाव रख सके प्रभुके दर्शनमें, प्रभुके पूजनमें, धार्मिक कार्योंमें तो उससे आत्माका कल्याण होगा। और आत्माके स्वरूप दर्शनके उद्देश्य बिना बाहरी वैभवकी वाञ्छा लेकर धर्म कार्य करें तो कदाचित् धनी भी हो जायें अगले भवमें, इस भवमें तो वे भी उस धन सम्पदाको पाकर धर्ममें चित्त नहीं लगा सकते। जैसे अनेक लोगोंका यह कहना रहता है कि अमुक आदमी जब गरीब था तब तो धर्ममें बहुत चित्त देता था मगर धनिक हो जानेपर अब मंदिर भी नहीं आता। तो ऐसी स्थिति उसकी होती है कि जिसने पहले धर्म नहीं किया किन्तु बाहरी धर्म किया और सांसारिक इच्छाके लिए किया। वह पुरुष कदाचित् पूर्व पुण्य योगसे या वर्तमान कुछ योगसे सम्पदा भवानी हो जाय तो उसके चित्तमें फिर धर्मबुद्धि नहीं रहती। अपने आपके बारेमें चिन्तन करिये कि मैं बहुतकाल संसारी रागी द्वेषी मोही जीवोंको देव मानकर रहता रहा। और उस आराधनामें घोर मिथ्यात्वका बंध किया जिसके फलमें संसारमें अब तक घूमता रहा। यदि मैं कभी वीतराग प्रभुकी आराधना करता तो मोक्षमार्गमें बढ़कर कभी निर्वाण ही प्राप्त कर लेता।

प्रभुपूजामें प्रभुसम निर्विकार होनेकी भावनाका महत्त्व—आज भी वीतराग प्रभुका शासन मिला है, इस शासनमें यदि सांसारिक वाञ्छायें रखीं और उसके लिए ही प्रभुकी पूजाकी तो समझो कि हमने प्रभुको रागी द्वेषी बना डाला। हे भगवान मेरा ऐसा काम हो जाय, आप ऐसा काम कर दो, ऐसी वाञ्छा रखें तो समझो कि हमने उन्हें रागी द्वेषी बनाया। रागी द्वेषीका अर्थ क्या है कि इस भक्तने वीतराग प्रभुके आगे बंदना करके भी उनको कुदेवका स्वरूप बना डाला। कुदेव वे भगवान नहीं हुए मगर इसने अपनी मान्यतामें भगवानको उन रूपोंमें देखा जिन रूपोंमें कुदेव हुआ करते हैं। प्रभुका शासन मिला तो प्रभुका असली सही स्वरूप समझें, अपना स्वरूप समझें और इस नातेसे प्रभुका पूजन करें तो उसके फलमें जब तक संसारमें रहना है तब तक भी यह सम्पन्न रहेगा। और यह सम्पन्नता तो पूजाका फल नहीं है, प्रभु वीतराग धर्मके सेवनका फल नहीं है: यह तो शुभ रागका फल है। पर वास्तविक प्रभु पूजासे, अभेद आत्मपूजासे निर्वाण मिल जायगा। तो क्यों जरासी बातोंमें हम अपने चित्तको फंसाकर मलिन करें? संसारके समागमोंको पुण्य पाप कर्मके उदयपर छोड़ दें, जैसा होना है होगा, जो प्रभुने देखा है सो होगा, प्रभुने वह देखा है जो होगा। तो जो होनेका है सो होगा, वैसे योग मिलेंगे, पर मैं अपने भावोंको बाह्यमें फंसाकर संसारमें क्यों जन्म मरण करनेका एक उपाय बनाऊँ? प्रभु पूजा करें बहुत शुद्ध भावोंसे, केवल एक ही कामना रखकर कि मैं बस सिद्ध पद चाहता हूँ। समस्त संसार संकटोंसे मुक्त होना चाहता हूँ। जन्म मरणसे रहित होना चाहता हूँ। केवल एक ही आशयसे प्रभु पूजा हो।

बाह्य मंगलके आलम्बनसे परमात्मत्वकी आराधना—कोई एक आशंका कर सकता है कि प्रभु तो मंदिरमें हैं नहीं, वे तो मोक्षमें विराजे हैं और वे वहांसे आकर मंदिरमें या प्रतिमामें या कहीं प्रवेश करते नहीं, ऐसा कभी कभी किन्हीं लोगोंके चित्तमें आता भी होगा, फिर यह साधन क्यों बनाया

जाता है? समाधान इसका यह है कि वास्तवमें प्रभु भी सामने हों तो प्रभुको कोई पूज नहीं सकता। वस्तुका स्वरूप यह है कि अपने आपकी परिणति अपने आत्म प्रदेशोंसे बाहर नहीं जाती। समवशरणमें भी प्रभु सम्मुख रह कर भी भक्त अपने विचारसे पवित्रता लाकर प्रभुके स्वरूपका ध्यान धरकर अपने ही भावोंमें निर्मलता बनाता रहता है और निश्चयसे वह अपने ही इस ज्ञानगुणको पूज रहा है। तो मंदिरमें प्रभुभक्तिके अनुरागके कारण मूर्तिमें प्रभुकी स्थापना करके यहां पर भी वह अपने ज्ञानगुणको ही पूज रहा है, एक आलम्बन है और वस्तुतः प्रभुके गुणोंका जो आकार झलका है उस झलकको ही भक्त पूजता है, और चूँकि वह झलक प्रभुके गुणोंके अनुरूप है इसलिए प्रभुके गुणोंकी पूजा ही कहलाती है। तो अपने परिणाम निर्मल रखनेके लिए ये मंदिर ये मूर्ति आलम्बन हैं। मूर्तिमें जिनेन्द्र देवकी स्थापनाकी है। मूर्तिमें मुद्रा निरखकर ध्यानमें स्थित देखकर हम अपने भावोंमें निर्मलता ही पाते हैं, सो यह आलम्बन युक्त है। यहां इस आलम्बनमें होकर भी केवल यह उद्देश्य होना चाहिए कि मेरे स्वरूपका विकास हो, मुक्तिका मार्ग मिले, विकल्प विडम्बनाके झंझट छूटें, केवल इस ही उद्देश्यसे प्रभुकी पूजा हो और अपने स्वभावका स्पर्श होता रहे यह है प्रभु पूजाका वास्तविक उद्देश्य।

श्री जिनविम्बके समक्ष जिनगुण स्मरणका उद्यम—श्रावकोंका देवपूजा करना कर्तव्य है, उस सम्बन्धमें चर्चा चल रही है। कोई ऐसी आशंका करे कि प्रतिमा तो अचेतन है, प्रभु मोक्षमें विराजमान हैं, वे यहां बुलानेसे आते नहीं हैं, फिर जिनविम्ब पूजनेका अर्थ क्या है? तो इस विषयमें कुछ लौकिक बातोंको देखिये यदि किसीके पिताका फोटो हो तो फोटो तो स्याही है, कागज है। जो पिता गुजर गया वह वहांसे यहां नहीं आता है, इतनी बात सत्य है तो भी यदि कोई उस फोटोको फेंक दे, नालीमें डाल दे तो उस पर आप नाराज क्यों होते हैं, बिगड़ा क्या? अरे यदि कोई उस फोटोको देखकर प्रसन्नता जाहिर करे तो आपको उसपर अनुराग होता है, तो जैसे बाह्य पदार्थ आश्रयभूत होता है भावोंके, इसी प्रकार जिनविम्ब भी हमारे शुभ भावोंका आश्रयभूत है। दूसरी बात—जब लोकमें अकृत्रिम चैत्यालय भी हैं तो यह तो अनादिसे रीति चली आयी है कि जिन विम्ब हो। इतना अन्तर है कि जो अकृत्रिम चैत्यालय है वह किसी तीर्थकरकी मूर्ति नहीं है, वह अरहंतका ही प्रतिविम्ब है। तो जिनविम्बमें प्रभुकी स्थापना किया हुआ श्रावक वहां जिनेन्द्र देवका स्तवन करता है। कोई प्रतिमाको पूजता नहीं, किन्तु प्रतिमामें स्थापना कर जिनेन्द्र देवको पूज रहा है। तो कोई लोग तो सिर्फ भाव पूजा कर लेते हैं स्तवन करके, गुणानुवाद करके, कोई लोग द्रव्य पूजा कर लेते हैं तो जैसे कोई राजा महाराजा पुरुषके दर्शन करने कोई प्रजाके लोग आते हैं, कोई सेठ आदिक आते हैं तो अपनी-अपनी शक्ति अनुसार उस राजाके आगे कुछ भेंट चढ़ाते हैं, न्यौछावर करते हैं, तो वह कहीं राजाको दान करना नहीं कहलाया, यह तो एक भक्ति प्रदर्शन करना कहलाया, और जो न्यौछावर उस राजाको प्राप्त होता उसे राजा रखता नहीं। वह तो याचकोंको बांट देता है। तो ऐसे ही यहां जो कोई कीमती कम कीमती जो द्रव्य चढ़ाता है प्रभुको तो वह प्रभुकी भक्ति है, वह अनुराग है। यहां इतना विवेक रखना चाहिए कि प्रभुको जो द्रव्य चढ़ाया उसमें हिंसा न होती हो। एकेन्द्रियकी हिंसा भी न हो और दो इन्द्रिय आदिक कीड़ोंकी हिंसाके

बचावका तो पूरा ध्यान रखें। ऐसी कोई चीज न चढ़ायें जिसमें कीड़े झड़ सकते हों या बहुत देर तक रखे रहनेपर उसमें कीड़े उत्पन्न हो जायें ऐसा कोई द्रव्य न चढ़ायें।

जिनबिम्बमें नव देवताओंका दिग्दर्शन—प्रभुके जिनबिम्बके पूजनमें जो देवता माने गए हैं उनका सत्कार हो जाता है। अरहंत सिद्धके प्रतिरूप हैं। सिद्ध होने वाले हैं या सिद्ध हो चुके हैं उन सिद्ध हुए तीर्थकरोंका तीर्थकरकी मुद्रामें प्रतिबिम्ब बनाते हैं तो इसमें सिद्ध आये, अरहंत आये और वही मुद्रा आचार्य, उपाध्याय, साधुकी है। वे उसी मुद्रामें जिनधर्मरूप हैं, उनके वचन दिव्यध्वनि हैं। वे ही रत्नत्रयके धर्मरूप हैं। वे जहां विराजे हैं वही देवालय हैं, साक्षात् जिनबिम्ब है। तो एक जिनबिम्बके समक्ष प्रभुका गुणानुवाद करने वालेके ९ देवताओंका सत्कार होता रहता है।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनका प्रारम्भ—अब अकृत्रिम चैत्यालयोंका स्मरण करें, जो अभी बताये जायेंगे, वे अनादिसे इस ही रूप बने, उनमें अनेक परमाणु आते हैं, अनेक परमाणु वहांसे खिरते हैं तो भी वज्रमयी वे सब रचनायें ज्योंकी त्यों बनी हुई रहती हैं। ये अकृत्रिम चैत्यालय कहां-कहां हैं? उर्द्धलोकमें हैं, मध्यलोकमें हैं, अधोलोकमें हैं। अधोलोकमें केवल इस पृथ्वीके तीन भागोंमें ऊपरके दो भागोंमें हैं। नीचेका तीसरा भाग तो प्रथम नरक रूप है, वहां नहीं उससे नीचे नहीं, किन्तु इस पृथ्वीमें जिसपर हम आप चलते हैं यह अधिक मोटी है और उसके नीचे तीन भाग हैं ऊपर नीचे, जिसमें दो ऊपरके भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंका निवास है वहां चैत्यालय हैं। ढाई द्वीपमें चैत्यालय हैं, यहां भी चैत्यालय हैं। जैसे १३ द्वीपका विधान करते हैं तो १३ द्वीप तकजो चैत्यालय हैं, जिनबिम्ब हैं उनका वहां पूजन किया जाता है। इसी मध्यलोकमें ही जो सूर्यचन्द्र आदिक विमान हैं इनमें भी अकृत्रिम चैत्यालय हैं, ऊर्द्धलोकमें स्वर्गोंमें जो विमान हैं और ऊपर भी जो विमान हैं उनमें अकृत्रिम चैत्यालय हैं, वे कितने हैं पहले उनकी संख्या जानें।

अधोलोकमें अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—ये अकृत्रिम चैत्यालय संख्यामें बंध जायें सो बात नहीं। बतायी गई है करोड़ोंकी संख्या, पर उनके अतिरिक्त अन्य भी अनगिनते चैत्यालय हैं। जो ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें और व्यन्तरोके निवास भूमिमें हैं उनकी गिनती नहीं बतायी गई है। किन्तु जिनकी गिनतीकी जा सकती है उनकी ही गणना है। अधोलोकमें ७ करोड़ ७२ लाख भवनवासी देवोंके भवन हैं, उनके भवन अकृत्रिम हैं। बड़ा विशाल हैं, उन्हीं भवनोंमें विशाल चैत्यालय भी हैं। उन चैत्यालयोंका जब प्रमाण जानेंगे, ऐसे चैत्यालय जिस भवनमें हों उस भवनका प्रमाण खुद समझ जायेंगे कि कितना प्रमाण हो गया। वे भवन कितने ही तो असंख्याते योजनके विस्तार वाले हैं, करोड़ों योजनके विस्तार वाले हैं। एक योजन ४ कोशका होता है। उस प्रमाणसे अनगिनते कोशोंके प्रमाण वाले वहां वे भवन बने हुए हैं। जिसके ऊपर हम आप विचरते हैं यह पहली पृथ्वी इतनी विशाल है कि जिसके ऊपर असंख्याते द्वीप समुद्र पड़े हैं, जिनमें बीचका जम्बूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारका है उससे दूने-दूने एक-एक तरफ समुद्र और द्वीप चले गए हैं और वे हैं अनगिनते। इतने पर भी वह भूमि पूरी नहीं होती थोड़ा हिस्सा फिर भी बचता है। इतनी बड़ी पृथ्वीके ऊपरी दो खण्डोंमें असंख्याते योजनके विस्तार वाले ये लाखों भवन समाये हुए हैं। आज लोगोंने १०—२० हजार मीलकी लम्बाई

वाली सारी दुनिया मान रखी है, जितना पता पड़ा है, जहां तक गति है, उतना ही मान लिया और जो आंखों नहीं दिखता उसको नहीं मानते मगर जैन शासनमें जो भू वलयकी रचना बतायी है उससे यह पृथ्वी असंख्याते मीलोंनेकी है। तो इस पृथ्वीके नीचे जो भवनवासियोंके भवन हैं उन प्रत्येक भवनोंमें एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। ऐसे अधोलोकमें ये भवन कुछ संख्याते योजनके हैं कुछ असंख्याते योजनके हैं। तो एक-एक भवनमें असंख्याते भवनवासी देवोंके द्वारा वंदनीय एक-एक चैत्यालय हैं। वे चैत्यालय कैसे हैं कि एक विशाल मंदिर सारिखे हैं। यहां तो यह प्रथा है कि जिस मंदिरमें शिखर न हो उसे चैत्यालय कहते और जिसमें शिखर हो उसे मंदिर कहते। तो ऐसे ७ करोड़ ७२ लाख जिनमंदिर हैं, इसके अतिरिक्त जो भवन व्यन्तरोके रहनेके स्थान हैं उनकी गिनती यहां नहीं बतायी गई। वे गिनतीसे परे हैं, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें भी चैत्यालय हैं। वे गिनतीसे परे हैं, उनकी गिनती नहीं बतायी गई।

मध्यलोकमें एवं ऊर्ध्वलोकमें अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—अब मध्यलोकमें कितने जिनमंदिर हैं अकृत्रिम उनका स्मरण करें। मध्यलोकके बीचों बीच ढाई द्वीप हैं, ढाई द्वीपमें ५ विदेह हैं, ५ मेरुपर्वत हैं, बीचमें। जम्बूद्वीपके मध्य है एक मेरु, उसको घेरे हुए है लवणसमुद्र। और उसको घेरकर है दूसरा द्वीप। उस द्वीपमें पूर्वकी ओर एक मेरु, पश्चिमकी ओर एक मेरु, ऐसे दो मेरु हैं और उस द्वीपको घेरकर है दूसरा समुद्र, उसे घेरकर है पुष्करद्वीप। उस तीसरे द्वीपमें बीचोंबीच मानुषोत्तर पर्वत पड़ा है, जिसके कि आगे मनुष्योंकी गति नहीं होती। तो मानुषोत्तर पर्वतसे जम्बूद्वीपकी ओरके आधे भागमें धातकी खण्ड जैसी रचना है, वहां दोनों ओर दो मेरु हैं। ऐसे ५ मेरु हैं और उन ५ मेरुओंके नीचे जो बन हैं वहां चारों ओर एक-एक मंदिर है। उसके ऊपर एक वन है वहां भी चार मंदिर हैं। उसके ऊपर भी वन है, वहां भी चार हैं और आखिरी बन पाण्डुक बन है वहां भी चार हैं। ऐसे एक मेरुके १६ जिन मंदिर हैं। ५ मेरुओंके ८० जिन मंदिर अकृत्रिम हैं। उन मेरु पर्वतके मूल भागमें चारों ओर कुछ हिस्से तक दो उत्तम भोगभूमि हैं। जिनके नाम हैं देवकुरु और उत्तरकुरु। तो मेरुके चारों ओर एक-एक गजदंत पर्वत है, उन पर्वतोंका आकार ऐसा है जैसे हाथीके दांत हों। इसी कारण गजदंत नाम रखा है। प्रत्येक गजदंत पर एक-एक जिनमंदिर है, जो आप १३ द्वीपका माड़ना बिछाते हैं उस चित्रको ध्यानमें रखें, एक मेरुके चार-चार गजदंत हैं, सो चार जिनालय हैं। यो ५ मेरु गजदंतों पर $4 \times 5 = 20$ जिनमंदिर हैं और जिस जम्बूद्वीपके ७ क्षेत्रोंका विभाग ६ पर्वतोंने किया है, जिनका नाम है कुलाचल, उन ६ पर्वतों पर एक-एक जिन मंदिर है। ऐसे जम्बूद्वीपमें ६, धातकी खण्डमें १२, पुष्करार्द्धमें १२, यो ३० जिन मंदिर ये हैं। विजयार्द्धपर्वत जैसे इस भरतक्षेत्रमें है, बीचों बीच पड़ा है, जिसके कारण भरतक्षेत्रके ६ खण्ड हो गए हैं। प्रतिनारायण नारायण जिसे अर्द्धचक्री कहते हैं वह तीन खण्डका राजा होता है और चक्रवर्ती छह खण्डका मालिक होता है। तो यों जैसे भरत क्षेत्रमें बीचों बीच विजयार्द्ध है ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में है और विदेह क्षेत्रमें भी जो एक-एक विदेहमें ३२-३२ नगरी है, वे नगरी क्या हैं, भरत क्षेत्रसे भी बड़े विस्तार वाला क्षेत्र है। उनमें भी एक-एक विजयार्द्ध पड़ा है। तो ऐसे ५ विदेहोंके १६० विजयार्द्ध ५ भरतके ५ विजयार्द्ध, ५ ऐरावतके ५ विजयार्द्ध यों १७० विजयार्द्धपर एक-एक

जिनमंदिर है। यों १७० जिनमंदिर ये हुए। ढाई द्वीपमें देवकुरु ५, उत्तर कुरु ५। प्रत्येक मेरुके पास हैं उन क्षेत्रोंमें एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है सो १० ये हुए। विदेह क्षेत्रों देशका विभाजन करने वाले वक्षार गिरि है। एक-एक विदेहके सीता सीतोदा नदी होनेके कारण ४-४ भाग हैं एक-एक भागमें ४-४ वक्षार हैं यों $१६ \times ५ = ८०$ वक्षार गिरि पर एक-एक चैत्यालय है सो ८० ये हुए दूसरे द्वीपमें और तीसरे द्वीपमें जो कि गोल हैं, उनके दो भाग बनानेके लिए दो दो पर्वत हैं, जिनका नाम है इक्ष्वाकार। ऐसे ये पर्वत दो दूसरे द्वीपमें हैं, दो तीसरे द्वीपमें हैं। तो उन पर एक-एक मंदिर होनेसे ये चार जिनमंदिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमें ५२ जिनमन्दिर हैं, जिनकी लोग अष्टान्हिकाके पर्वमें पूजा किया करते हैं। कुण्डल गिरिपर चार जिनमंदिर हैं, रुचक गिरिपर चार जिनमन्दिर हैं। ऐसे ये सब मिलकर ४५८ जिनमंदिर हैं। अब ऊर्ध्वलोकमें चलो। स्वर्गोंमें और अहिमिन्द्रोंके विमानोंमें सब मिलकर ८४ लाख ९७ हजार २३ जिनमन्दिर हैं, ये सब गिनतीके चैत्यालय हैं अकृत्रिम पर व्यन्तरोके असंख्यात जिनमन्दिर और ज्योतिषियोंके असंख्यात जिनमन्दिर ये इनसे अलग हैं, ऐसे जब अकृत्रिम। पर व्यन्तरोके असंख्यात जिनमन्दिर और ज्योतिषियोंके असंख्यात जिनमन्दिर ये इनसे अलग हैं, ऐसे जब अकृत्रिम जिनविम्ब हैं तो इससे भी यह जानें कि ये जिनविम्ब भी स्वयं एक देवता हैं जिनविम्बमें प्रभुकी स्थापना की है सो वे प्रभु तो यहां नहीं हैं मगर स्थापना करनेसे यह जिनविम्ब भी पूज्य है और ९ देवताओंमें से एक देवताके रूपमें हैं।

श्रावकोंका सुख शान्तिके अर्थ कर्तव्यका विचार—इस जीवको सुख शान्तिका मार्ग मिल सकता है तो अपने आपमें ही मिलेगा, बाह्य पदार्थोंसे न मिलेगा। मानों धनसम्पदामें या लौकिक पद प्रतिष्ठामें भी कोई बढ़े तो बढ़कर क्या वह शान्त हो जायगा? शान्ति कभी हो ही नहीं सकती। चाहे परिग्रह या लौकिक प्रतिष्ठा कितनी भी बढ़ जाय, पर जब तक आत्मतत्त्वका ज्ञान न हो और अपने आपके स्वरूपमें ध्यान न बने जिससे कि अपूर्व संतोष होता है तब तक चाहे अरबों खरबोंका अधिपति हो अथवा राज्यका अधिपति हो पर उसे शान्ति कभी हो ही नहीं सकती। यह पूर्ण नियम है। जब बाह्य पदार्थोंके लगावमें शान्ति नहीं है और गृहस्थावस्थामें बाहरी पदार्थोंका संग्रह करना आवश्यक है तो यहां इतनी बुद्धिमानी करना चाहिए श्रावकोंको कि दो बातें ठान ली जायें अपने करनेकी। (१) धर्मपालन और (२) आजीविकाका कार्य। इन दो कार्योंको ठीक करते हुए परोपकार आदिकके भी कार्य होते रहें और उनमें जैसी भी स्थिति यशकी बने सो होने दो। गृहस्थोंको यश भी आवश्यक बताया है। पंडित आशाधरजी ने कहा है कि गृहस्थजन यशका सम्पादन करें, क्योंकि कुछ यश होनेसे गृहस्थ छोटे कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। उसे थोड़ा ख्याल आयगा कि मेरी लोकमें ऐसी प्रतिष्ठा है। मैं यदि चोरी करूं, व्यभिचार करूं, हिंसा करूं, झूठ बोलूँ तो लोकमें मेरा बड़ा अपवाद होगा, उस भयसे वह छोटे कार्योंसे बच तो जाता है मगर कोई इतनी ही बातसे छोटे कार्योंसे बचे तो उसे कहीं मोक्षमार्ग तो नहीं मिल गया। यह भी एक साधन है, पर यदि आत्मज्ञान है, सम्यक्त्व है तो उसको मोक्षमार्ग चलता है।

श्रावकोंके आजीविका व धर्मसाधन इन दो कर्तव्योंमें धर्मसाधनकी मुख्यता—श्रावकोंके

दो कार्य मुख्य हैं (१) आजीविका और (२) धर्मपालन। यदि श्रावक आजीविकाका कार्य छोड़ दे और धर्मपालनका ही मुख्य कार्य बनाये तो उस श्रावकसे धर्मपालन न बन सकेगा। ऐसी बाधायेँ आयेंगी कि वह धर्ममें स्थिर न हो सकेगा, और कोई श्रावक केवल आजीविकाको ही प्रधानता दे और धर्मपालनसे बिल्कुल विमुख हो तो उसका जीवन तो पशुओं जैसा जीवन समझिये। क्योंकि आजीविका मान करके वह पायगा क्या? खाना-पीना मौज आराम। बाल बच्चे, ये ही तो पायेंगे। तो यह चीज क्या पशुवोंमें नहीं है? उनके भी खाना पीना लगा है, उनके भी बच्चे हैं वे भी मौज मानते हैं, तो वह जीवन भी कुछ नहीं है। तो दो कार्य हुए श्रावकके, (१) धर्मपालन और (२) आजीविकाकी सम्हाल। अब उक्त दोनों कर्तव्योंमें भी देखिये कि मुख्य कौन होना चाहिए और गौण क्या होना चाहिए। मुख्य होना चाहिए, धर्मपालन और गौण होना चाहिए आजीविका। ऐसा क्यों, कि धर्मपालनबिना तो इस जीविका गुजारा ही सम्भव नहीं है। वह भी शान्तिसे रह सके, संतुष्ट रह सके, अपना भविष्य सुधार सके। धर्मपालनके बिना ये कुछ भी सम्भव नहीं। आजीविकाके कार्यको गौण रखें, क्योंकि आजीविका थोड़ी चले, अधिक चले, कम धन हो, जो कुछ हो, यह ही असर होगा अधिकसे अधिक गौण करने पर, मनुष्योंमें तो ऐसी कला है कि जितना भी उनके पास द्रव्य हो उसमें ही गुजारा करके दिखा दें। आजकल विशेष धन होने पर भी जो ऐसा सोचा जाता है कि हमारा गुजारा नहीं चलता, ऐसी कल्पना करना, मात्र उनका ऊधम है कि जरा गरीबोंपर दृष्टितो दो, निर्धन श्रावकों पर भी तो निगाह कीजिए। यदि वैसी स्थिति खुदकी होती तो वहां गुजारा करते कि नहीं?

लौकिक कर्तव्योंको निभाते हुए श्रावकको के धर्मसाधनाकी मुख्यता—श्रावकके कर्तव्यमें यह बताया है कि कर्ज करके खाना नहीं और आयके अन्दर ही अपना गुजारा करना। ये दो बातें क्यों आवश्यक हैं कि इनके विरुद्ध कोई प्रवृत्ति करेगा तो उसका चित्त डांवाडोल रहेगा और वह धर्मसाधना करनेका पात्र नहीं रह सकता, जो इस जीवनका मुख्य ध्येय है उससे चलित हो जायगा। आय कम हो और उसीमें गुजारा चले तो उससे आत्माकी कोई हानि नहीं है। यह दिखने वाली दुनिया मायामयी है, इनसे आप क्या चाहते हैं? ये आपके मालिक हैं क्या? ईश्वर हैं क्या? इनके कुछ प्रशंसा वाले वचन सुननेको मिल जायें तो उससे आत्माका क्या उद्धार होनेका है? ये दिखने वाले सभी पुरुष अपने ही समान हैं। और जैसी हीनता अथवा कमी अपने आपमें मिल रही है ऐसी ही हीनता, कमी, बल्कि इससे भी अधिक बाहरके लोगोंमें मिलती है, पर बाहरके लोग साफ सुथरे दिखते हैं, कुछ अच्छे ढंगकी मुद्रा बनाये दिखते हैं सो भले ही मालूम पड़े कि ये बड़े शान्त हैं, सुखी हैं, पवित्र हैं, मगर जैसे हम वैसे ही आप और वैसा ही यह सारा जगत, कोई कम कोई अधिक। सब मायारूप हैं। जब ये सब मायारूप हैं तो उनसे क्या आशा रखना? धर्मपालन मुख्य है, आजीविका गौण है, जब तक यह बात चित्तमें न आयगी तब तक धर्मपालनमें गति नहीं हो सकती। तो ऐसा गौणरूप आजीविकाका कार्य करें और मुख्यरूप धर्मपालनमें योग दें तो यह जीवन सफल हो जायगा।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके कथन श्रवणसे श्रद्धावृद्धि—लोकमें जितने अकृत्रिम चैत्यालय बताये गए हैं उनकी रचना अकृत्रिम होकर ही बड़ी अद्भुत है। उन चैत्यालयोंमें १०८ जिनविम्ब

पाये जाते हैं। इन अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन हमको श्रद्धालु बनाता है। जिनविम्ब पूज्य न होते तो यह व्यवस्था अनादिसे अकृत्रिम चैत्यालयोंकी कैसे बनी होती? देखिये पूज्यपना और अपूज्यपना जीवोंके अपने भावोंसे है वस्तुतः पूज्य तो वीतरागता और सर्वज्ञभाव है, केवलज्ञान द्वारा त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान होना यह एक पवित्र आत्माका काम है। जहां रागद्वेष मूलसे ही न रहें व उनके कारणभूत घातिया कर्म ही न रहें, उनका कार्य है वीतरागता और सर्वज्ञता। उसीका ही ध्यान व सम्बंध नवदेवताओंसे है, जिनविम्बमें सकल परमात्माकी स्थापना है, अतः स्थापनाके कारण जिनविम्ब पूज्य है।

अकृत्रिम चैत्यालयोंका विस्तार क्षेत्र प्रमाण—जो अकृत्रिम चैत्यालय बने हैं उनकी रचना यद्यपि तीन प्रकारोंमें पायी जाती है। कहीं उत्कृष्ट घेरेमें रचना है कहीं मध्यम घेरेमें रचना है। जो उत्कृष्ट घेरेमें जिनमंदिर हैं उनकी लम्बाई १०० योजन की है, चौड़ाई ५० योजन की है और ऊंचाई ७५ योजन की है। यह रचना किसीके द्वाराकी हुई नहीं है, किन्तु पुद्गलकी ही ऐसी ही अवस्था, प्रमाण, स्थिति स्वयं ही बनी हुई है। जो मध्यम जिनमंदिर हैं वे ५० योजन लम्बे हैं, २५ योजन चौड़े हैं, ३७ १/२ योजन ऊंचे हैं। जो जघन्य घेरेमें जिनमंदिर हैं वे २५ योजन लम्बे हैं, १२ १/२ योजन चौड़े हैं, पौने उन्नीस योजन ऊंचे हैं। इनका प्रमाण जानकर यह तो ध्यानमें आता है कि मन्दिरके लिए जो भूमि हो वह गहरी अधिक हो, जिसे कहते हैं लम्बा उससे आधा चौड़ा हो और चौड़ाई १ १/२ गुना ऊंचा निर्माण चले, यह एक प्रमाण समझमें आ रहा है और ऐसे ही क्षेत्रोंमें बने हुए मन्दिरोंकी शोभा होती है। जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सबकी नींव जमीनमें आधा योजन है। वहां नीव खोदी नहीं गई, न भरी गई किन्तु अपने आप ही उनकी जो भित्तियां हैं वे इतनी गहरी बनी हुई हैं।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके द्वारोंका विस्तार—जिन मंदिरोंमें तीन द्वार होते हैं जिनमें बीचका द्वार बड़ा और अगल बगलके द्वार छोटे होते हैं। जो बीचका द्वार है उसकी ऊंचाई १६ योजन की है चौड़ाई ८ योजनकी है किन्तु जो मध्यम मन्दिर हैं उनके द्वारकी ऊंचाई ८ योजन है, चौड़ाई चार योजन है। जो छोटे घेरेके जिन मन्दिर हैं उनकी ऊंचाई चार योजन है, चौड़ाई दो योजन है यह सब अकृत्रिम रचना है। स्वयं ही इसी ढंगके पौद्गलिक स्कंध अनादिकालसे बने चले आये हैं, उनकी चर्चा चल रही है। उन मन्दिरोंमें जो अगल बगलमें दो छोटे द्वार हैं उनका प्रमाण उत्कृष्ट ऊंचाई चार योजनकी हैं, मध्यम जिनमन्दिरके छोटे द्वारकी ऊंचाई भी चार योजनकी है, चौड़ाईदो योजन की है। जो छोटे घेरेके मन्दिर हैं उनके सामनेके अगल बगलके द्वार दो योजन ऊंचे और एक योजन चौड़े हैं।

उत्कृष्ट मध्यम जघन्य विस्तारवाले अकृत्रिम चैत्यालयोंके स्थानोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—जहां मुख्य स्थान है, जो विशाल क्षेत्र है वहां बड़े आकारमें जिनमन्दिर है, कहीं मध्यम है कहीं उससे छोटा है। जिनमन्दिर किस तरहके बनाये जाने चाहियें इसकी भी शिक्षा इन अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनसे मिलती है। इतने क्षेत्रमें कोई नहीं बना सकता। छोटे ही क्षेत्रमें बनावें तो उसके अनुकूल ऊंचाई हो और रचना हो यह बात इन चैत्यालयोंके वर्णनसे विदित हो जाती है। जो मुख्य स्थान हैं, जैसे—भद्रसालबन, नन्दीश्वर द्वीप, स्वर्गके विमान, इनमें उत्कृष्ट घेरे वाले चैत्यालय हैं। सौमनसबन, रुचकपर्वतमें

कुण्डलगिरि, वक्षारगिरि, इष्वाकार पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, कुलाचल पर्वत इन स्थानों पर मध्यम प्रमाण वाले जिनमन्दिर हैं। कुछ स्थान जो स्वयं ही छोटे घेरेमें हैं वहां जिनमन्दिर भी छोटे घेरेमें पाये जाते हैं, जैसे पाण्डुकवन तथा अन्य अन्य भी स्थान, पर कुछ स्थान ऐसे हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई उन तीनोंसे भी कम है। जैसे विजयार्द्ध पर्वतके ऊपर जम्बूवृक्ष, शात्मलि वृक्ष जो देवकुरु उत्तरकुरुमें बने हैं, वे वृक्ष नहीं हैं किन्तु पृथ्वीका ही ऐसा आकार है जो उठा हुआ है, शाखाओंमें फैला है और उन शाखाओंपर जिनमन्दिर हैं, उनकी लम्बाई एक कोशकी है और अनियत भी लम्बाई चौड़ाई अनेक जिनालयोंकी है। भवनवासीके भवनोंमें, व्यन्तरोके भवनोंमें, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें जैसे उनमें स्थान मिलते हैं वैसे ही विस्तारमें होते हैं।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके बाहरके कोट व चैत्यभूमिकी रचनायें—सर्वप्रथम रचनामें उन मन्दिरोंको घेरे हुए तीन कोट होते हैं जिन कोटोंमें से गुजरकर भीतर मन्दिरमें पहुंचते हैं। यह अकृत्रिम जिनालयोंका निर्माण यह याद दिलाता है कि चैत्यालयोंके बाहर ऐसा घेरकर तीन कोट होते हैं तो उनकी बड़ी सुरक्षा और महिमा जानी जाती है। इन तीन कोटोंमें चारों तरफ द्वार होते हैं। द्वार बहुत विशाल है। पहले और दूसरे कोटके बीचमें जो गोल स्थान है वहां ध्वजावोंकी भूमि हैं ८ प्रकारके चिन्होंसे शोभित और एक-एक बड़ी ध्वजाके निकट १०८—१०८ ध्वजायें और ऐसी अनेक ध्वजायें चारों ओर हैं। जैसे कभी रथयात्रा समारोह होता है तो मंडपके चारों ओर खूब ध्वजायें फहराती हैं तो उन्हें देखकर चित्तमें एक ऐसा प्रभाव बैठता है कि प्रति श्रद्धामें सहयोग मिलता है। तो वहां पहले और दूसरे कोटके बीचमें जो घेरा है उसमें ध्वजायें हैं। दूसरे और तीसरे कोटके बीचमें जो स्थान है वहां बन है जो उपवनकी तरह है। आम्रवन चम्पकवन आदिक बन हैं, जिन बनोंके बीच भी छोटे-छोटे चैत्यालय हैं। तीसरे कोटके बाद फिर जिनमन्दिरके निकट आते हैं, इस भूमिको कहते हैं चैत्यभूमि।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके मध्यमकी कुछ रचनावोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—उन जिनमन्दिरोंमें १०८ गर्भगृह हैं, वेदीके स्थान, जिनके आगे बड़ा शोभनीक मण्डप है उन गर्भगृहोंमें जिनेन्द्रदेवके उत्कृष्ट देहप्रमाण ऊंचे १०८ जिनविम्ब हैं। जिनविम्बके चारों ओर ८ प्रातिहार्य हैं, उनके भिन्न-भिन्न सिंहासन हैं, ऐसा नहीं है वहां कि जैसे कहीं कहीं एक ही सिंहासनपर चार-छः छोटी-छोटी प्रतिमायें रख दी जाती हैं, वहां प्रत्येक बिम्बका जुदा सिंहासन है और वहां केशका रंग, आंखका रंग जैसे यहां पुरुषोंमें पाये जाते हैं सफेद नीले श्याम वर्णके, उस प्रकारके वर्णके वहांवे पौद्गलिक स्कंध हैं, वहां तो ऐसे रंगके पाये जाते हैं, पर जो कृत्रिम जिनालय है, जिन बिम्ब बनाये जाते हैं वहां ये रंग नहीं किये जाते। वे रंग प्राकृतिक हैं। प्रतिमा बनानेके बाद कोई जुदे-जुदे जगहमें रंग भरना, जैसे आंखमें कुछ काला रंग भरना, ओंठपर लाल रंग भरना, यह प्रतिमामें नहीं किया जाता, यह दोष है। यह अकृत्रिम जिनविम्बमें ये सब रचनायें प्रकृत्या बनी हुई हैं। जैसे पूजा करते हुएमें बोलते हैं ना—लाल नख मुख नयम श्यान अरु श्वेत है। श्याम रंग भौंह शिर केश छवि देत हैं। इत्यादि... तो यह उनका रंग प्राकृतिक है, पर जिन विम्बमें ऊपरसे रंग नहीं थोपे जाते। वे अकृत्रिम जिनविम्बोंके रंग हैं, वह स्वयं ही उस रंगकी मणि आदिक पृथ्वीकायकी रचना है। जिनविम्बके दोनों तरफ नागकुमार अथवा यक्ष ६४ चमर ढोर रहे हैं,

यह प्रकृत्या वहां दृश्य पाया जाता है तो एक जिनालयमें १०८ जिनविम्ब, १०८ गर्भगृह, सबके जुदे-जुदे प्रतिहार्य और कुछ यक्ष यक्षणी देव देवी जो उनके द्वारा सेवा अथवा उपसर्ग निवारण जैसी बात लोकमें पायी जाती है, वहां न उपसर्ग है न कुछ सेवा, किन्तु स्वयं ही द्रव्यका वहां निर्माण पाया जाता है। जिन प्रतिमाके निकटमें ८ मंगलद्रव्य वहां अकृत्रिम हैं। वे ८ मंगलद्रव्य हैं—झारी, कलश, दर्पण, बीजणा, ध्वजा, चमर, छत्र और ठौना। अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनको सुनकर ही तो ये जिनमन्दिर बने हैं जहां प्रतिमा विराजमानकी जाती है, पर इतना स्थान नहीं है जो ठीक उनकी भांति जिनमन्दिरोंकी रचना हो, इसलिए जितना सम्भव है उतना सब कुछ जिनमन्दिरोंमें किया जाता है। उन मन्दिरोंमें अनेक स्थान हैं जहां सामायिक जैसे स्थान, नृत्य करने, संगीत जैसे स्थान। वहांकी गलियोंके दोनों ओर धूपघटके आकारके जिनमन्दिर बने हैं, वे जिनमन्दिर अकृत्रिम तोरणोंसे शोभित हैं और जिनविम्बके विराजनेके स्थान तीन कटनीसे शोभित हैं। उनसब जिनमन्दिरोंमें देवता लोग दर्शन करने जाते हैं, पर कभी कभी ढाई द्वीपके अन्दर विद्याधर, श्रावक ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शन करते हैं, ऐसे अकृत्रिम चैत्यालयोंके स्मरणपूर्वक यह श्रावक उन जिनविम्बोंकी पूजा करता है।

प्रभुसम शुद्धपरिणति पानेकी प्रतीक्षाके भाव पूर्वक प्रभुगुणस्मरण—खड़ा है श्रावक अपने ही मन्दिरमें जो कि कृत्रिम है, जैसे कहते हैं कि हममें सकती सो नाहि। याने मेरेमें शक्ति नहीं है कि उन मन्दिरोंमें जाऊं सो यही स्थापना करता हूं। ये सब स्थान हैं, उन स्थानोंमें रहकर जिनेन्द्र देवके गुणोंका स्मरण किया जाता है। जैसे किसी बड़ेकी बारात जाती है तो उस दूल्हेके साथ उसका छोटा भाई भी बड़ी-रुचिसे बैठता है वह सब बातें मानों यों निरखता है कि एक दिन मुझे भी इसी इसी तरहसे सब करना होगा। तो ऐसे ही यह पूजक श्रावक प्रभुके गुणोंका बड़ी रुचि पूर्वक स्तवन करता है। उसको निर्णय बना है कि जो प्रभुका स्वरूप प्रकट हुआ है वही मेरा भी स्वरूप प्रकट होगा। पर इसके लिए इतनी दृढ़ तैयारी चाहिये कि उसको जगतके अणुमात्रमें भी ममता न रहे। यह मोह ममता इस जीवका बड़ा घातक है। यह अज्ञानी जीव मोह करके अपनेको चतुर मानता है, बड़ा मानता है, गर्व भी करता है, पर वह अधः पतनकी ओर ही जा रहा है, यह उसके चित्तमें नहीं है। प्रभुपूजा करते हैं तो कुछ तो ध्यान करना चाहिए कि जिस मार्ग पर चलकर ये प्रभु बने, मेरेको वही मार्ग चाहिए। संसारमें रूलनेका मार्ग न चाहिए। यह बात जिसके चित्तमें आ जाती है उसके क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक सब कषायें मंद हो जाती हैं। उसके सर्वप्राणियों पर मैत्री हो जाती है। सर्वको अपना मानता है, अर्थात् सबको अपना जैसा स्वरूप समझता है। भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजाका महान फल है, जिसके जितना ज्ञान है, जिसके जितनी गुणोंके स्वरूपमें पहुंच है, जिसको भेद विज्ञानके कारण जितना ममत्व छूटा है उस योग्यताके अनुसार वह पूजक अपने महान फलोंको प्राप्त करता है। पूजाके फलमें एक कथा बहुत प्रसिद्ध है जिस कथाको समन्तभद्राचार्य स्वयं नीचेके श्लोकमें बता रहे हैं।

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।

मेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥

विपुलाचल पर्वतपर समशरणमें विराजे श्री महावीर भगवानके दर्शनार्थ राजा श्रेणिकका प्रयाण—राजगृह नामके नगरमें मस्त मेंढकने अरहंत भगवानकी पूजाका प्रभाव दिखा दिया। यह कथानक महावीर भगवानके समयका है। जब महावीर प्रभु विपुलाचल पर्वतपर समवशरणमें विराजे थे वहां बनमाली ६ ऋतुवोंके फल फूलोंको फला फूला देखकर आश्चर्यान्वित होकर बड़ी खुशीके साथ उन फल फूलोंको लेकर राजाके पास पहुंचा और भेंट देकर बोला—महाराज अपनी नगरीका बड़ा सौभाग्य है जो महावीर भगवान समवशरणमें विराजे हैं, राजाने वहीं प्रभुको नमस्कार किया, मालीको खूब इनाम दिया और प्रसन्न चित्त होकर अपनी मित्रमण्डली सहित वह चला। राजा श्रेणिक एक हस्तीपर बैठा था, और और भी लोग अपने वाहनोंपर थे, अनेक लोग पैरों चल रहे थे।

प्रभुभक्ति प्रमोदमत्त मेंढकका देव होना—रास्तेमें क्या हुआ कि एक मेंढक अपने मुखमें कमलकी पांखुरी लिए हुए बड़ी खुशीके साथ उचक उचक कर उस समवशरणमें जाना चाह रहा था, वह भी आगे जा रहा था। अचानक ही राजा श्रेणिकके हाथीका पैर पड़ा और उस मेंढकका मरण हो गया, पर प्रभुपूजाके भावमें भरा वह। मेंढक सैनी पञ्चेन्द्रिय होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न भी कर सकता है। वह मेंढक मरकर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ, देव बना, वहां अन्तर्मुहूर्तमें ही जवान हो जाया करते हैं। अवधिज्ञानसे उस देवने विचारा कि यह प्रभुपूजाके भावका फल है और वह तुरन्त ही महावीर भगवानके समवशरणमें पहुंचा और अपना निशान मुकुटमें बनाया मेंढकका क्योंकि पूर्व पर्याय मेंढककी थी और वहां ही प्रभुपूजाके भाव हुए और देवगति प्राप्त की। वहां राजा श्रेणिक पहुंच भी न पाये और वह देव पहुंच गया करीब करीब साथ ही। तो वहां राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे प्रश्न किया कि प्रभु यह जो इतनी कान्ति वाला देव अपने मुकुटमें मेंढकका चिह्न बनाये हैं यह कौन है? तो वहां यह कथानक बताया है कि यह पहले मेंढकका जीव था और तुम्हारे हाथीके पैरोंके नीचे दबकर जिनपूजाके भावोंके कारण यह देव हुआ और यह अनन्तर्मुहूर्तमें ही जवान होकर आज साक्षात् प्रभुपूजाके लिए आया है।

प्रभुगुणस्मरण व आत्मगुणभावनाका पवित्र कर्तव्य—देखिये यहां पर यह विचार करें कि इस जगतमें किसका शरण ग्रहण करना, कौन इस जीवको सुखदायी हो सकता है? जितने भी बाह्य पदार्थ हैं उनका जो आश्रय तकता है, आलम्बन लेता है सो प्रथम तो बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि रखी इस कारण उसे विह्वलता होगी। अपने आनन्दधाम चैतन्यस्वरूपसे वह उपयोग निकलकर बाहर तो पहुंचा, फिर वे पदार्थ विनश्वर हैं, उनका संयोग वियोग चल रहा है। उस बीच यह जीव बड़ा दुःखी रहता है। तो बाहरमें कुछ भी शरण नहीं है जिसका कि आलम्बन लिया जाय। यद्यपि प्रभु भी जीव पदार्थ हैं लेकिन वे मेरे स्वरूपके ही समान हैं और उनके गुणोंके स्मरणसे स्वरूपकी ही सुध होती है, इस कारण व्यवहारमें प्रभुका शरण लेना बताया है और निश्चयसे अपने आत्माके आनन्दधाम चैतन्यस्वरूपका शरण लेना बताया है। हम सबका कर्तव्य है कि प्रभु गुणस्मरण व आत्म गुणभावनामें अधिकाधिक समय लगावें जिससे मोक्षमार्गमें अग्रगामिता बनें।

श्रावकके १२ व्रतोंमें यह अन्तिम व्रत है वैयावृत्य। इनमें प्रधानता है अतिथि सम्बिभागकी। जो

निर्ग्रन्थ दिगम्बर त्यागीजन हैं उनकी सेवा करना, उनकी आहार औषधि आदिकसे वैयावृत्य करना यह अतीव आवश्यक कार्य है श्रावकोंका। जिन्होंने घर धन परिग्रह आरम्भ त्याग दिया है, जो निरन्तर आत्मध्यानकी धुनमें रहते हैं, जिनके लिए जगतके सर्व जीव एक समान हैं उन पवित्र आत्मावोंकी वैयावृत्य करना किसी सौभाग्यशाली श्रावकको ही प्राप्त होता है। उस अतिथि सम्बिभागके वर्णनके पश्चात् श्रावकोंके कर्तव्यमें जिनेन्द्रदेवका प्रकरण चल रहा है, जिनमन्दिरकी रक्षा करना, टहल करना, बोहारना, उनकी बिछायत करना, गानतान, नृत्यवादित्र आदिक संगीतसे भजनमें समय बिताना, अरहंतके गुणगान करना ये सब जिनपूजाके अंग ही समझिये। पहले समयमें श्रावकजन प्रातः मन्दिरमें आकर स्वयं बोहारी देते थे तो देखभालकर, जिसमें जीवरक्षा रहती थी, यह काम बड़ी उमंगसे एक अपना कर्तव्य जानकर करते थे। तो बोहारीसे लेकर जिनमन्दिरकी समस्त टहल तक जिनमन्दिरकी सम्हाल रखना श्रावकका कर्तव्य है। धन पाया, शरीर पाया, इन्द्रियां सही मिलीं, बल पाया, ज्ञान पाया, इन सबकी सफलता धर्मकर्तव्य में है और धर्मकर्तव्यका स्थान जिनमन्दिर है। यहां ही प्रवचन सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं, व्रत उपवास किया हो तो जिनमन्दिरमें ही विशेष समय बिताते हैं, तो इन समस्त धर्मकर्तव्योंका सहारा जिनमन्दिरसे ही तो मिल रहा। जो जिनदेवका ध्यान रखते, गुण स्मरण करते, अपने स्वरूपकी सुध लेते, वे अपना जीवन सफल कर रहे हैं। धार्मिक कर्तव्य छोड़कर आजीविका या पालन-पोषण कुटुम्बकी ममता या लोगोंमें पैठ, अपनी इज्जत बढ़ाना आदिक जितने भी कार्य हैं वे सब फिजूल के कार्य समझिये। जिन्हें धर्मसे प्रीति नहीं, आत्माकी सुध नहीं उन्हें मोक्षमार्ग न मिलेगा। यह तो आनुसंगिक कार्य है। मुख्य कार्य तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाशक्ति सम्यक्चारित्रका धारण करना है। इन धार्मिक कर्तव्योंमें रहते हुए फिर कुछ समय लोगोंकी सुधबुध उनका इन्तजाम व्यवस्था आदि करनेमें लगे, तो मुख्य कार्य तो मनुष्यका आत्मधर्मका पालन करना है। तो धार्मिक कर्तव्योंमें मुख्य स्थान जिनमन्दिर जानकर इनका निर्माण, इनकी टहल, इनकी सेवा आदिकभी धार्मिक कर्तव्य है। अब वैयावृत्य नामक शिक्षा व्रतका वर्णन करके वैयावृत्यके ५ अतिचार बतलाते हैं, जिन्हें श्रावकोंका न करना चाहिए।

हरितयिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सत्त्वानि ।

वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥

वैयावृत्य शिक्षाव्रतके ५ अतिचार ये हैं—(१) हरित् विधान, (२) हरिनिधान, (३) अनादर, (४) अस्मरण और (५) मात्सर्य। इन अतिचारोंका सम्बंध और आधार विषय ब्रतीजन होते हैं। ये साधुजन होते हैं। वैयावृत्यमें मुख्यता अतिथियोंकी हैं। श्रावकका यह रोज कर्तव्य है कि वह अतिथिको आहार आदिक देकर खुद आहार करे। कुछ प्रमाद हो गया, अशुद्ध भोजन बनानेकी प्रथा चल गई। शुद्ध विधिसे भोजन बनानेमें लोग आलस्य करते हैं, पर इससे उनके परिणामोंमें गिरावट ही रहती है, उन्नति नहीं होती है। स्वयं भी शुद्ध भोजन करें और भोजनसे पहले व्रती पात्रका स्मरण रखें तो उसके भावोंमें पवित्रता आती है। यहां पहला अतिचार बताया है हरित विधान। ब्रतीजनोंको देने योग्य जो

आहार है, औषधि है उसे हरे पत्तोंसे ढक देना और हरित पत्तोंसे ढका हुआ आहार देना यह हरितविधान नामक अतिचार है। इस सम्बंधमें यह जिज्ञासा होती है कि भोजनका हरे पत्तोंसे ढाकनेमें अतिथि सन्धिभागका अतिचार क्यों लगा? उसको यदि अतिचार लगे तो देने वाला पुरुष हरितसे क्यों ढाकेगा, क्योंकि जो ज्ञानी विवेकी है वही तो आहारदान करता है। तो इस सम्बंधमें कुछ संकेत ऐसे मिलते हैं कि जैसे मानो पहले जमानेमें गरीबी बहुत थी और कभी किसीमें लोभ आ गया या चीज अधिक न हो या विशिष्ट हो या न देना पड़े इस भावसे हरित चीजसे उसे ढाक दिया तो इसमें तो दोष है, और वह अतिथिसन्धिभागका दोष है, क्योंकि अतिथि सेवाके विरुद्ध चाव किया और कदाचित कोई भूलसे ही ढाक दे, न इस भावसे ढाका जाय कि यह खोटा ही भाव है, यों ही फूलसे पत्तोंसे ढांक दिया और पीछे मालूम हुआ कि बड़ी गलती हुई है फिर भी और सामग्री थी नहीं, पात्र आ गए तो उसे दे देवे तो वह अतिचार है। पात्रको तो केवल पानी देवे तो वह उतनेमें ही तुष्ट है, अन्तराय हो जाय तो उसमें भी संतुष्ट है। लाभ अलाभ दोनोंमें समान बुद्धि रहती है पात्रकी। तो हरितपत्रसे भोजन आदिकको ढांक देना यह वैयावृत्यका (१) पहला अतिचार हरितविधान है। (२) दूसरा अतिचार है हरितनिधान नामक अतिचार। इस अतिचारमें भी हरितविधान की तरह दोनों प्रकारके दोष होते हैं। (३) तीसरा अतिचार है अनादर। पात्र आ गया, कुछ भाव भी है आहार देनेका, कुछ लोकलाज भी है जिससे कि आहारकी तैयारीकी गई है फिर भी चित्तमें अनादर रखना, ये आ गए, कब तक रहेंगे, कितने हैं और कोई करते ही नहीं है। खुदको ही करना पड़ रहा है ऐसी किसी भी भावनाको लेकर उसमें अनादर बुद्धि आये तो यह शिक्षाव्रतका अतिचार है। जो दोष श्रावकको न करने चाहिए, श्रावक इस रत्नत्रयका धुनिया है, उसकी स्थिति ऐसी है कि वह रत्नत्रयका पालन नहीं कर सकता। तो रत्नत्रयधारी गुरुजनोंको देखकर उसके हर्ष होता है कि मैं इनकी सेवामें किस तरह आ जाऊं, कैसे काम आऊं? हर प्रकारसे उनकी सेवा करके ही प्रसन्न रहते हैं। (४) वैयावृत्यका चौथा अतिचार है अस्मरण। कोई कार्य ऐसा लग जाय कि जिसमें पात्रको आहार देना भूल ही जाय। यह भूल कब होती है? जब पात्रके प्रति विशेष अनुराग नहीं है। तो कितने ही कार्य और आते हैं जिनमें यह फंस जाता है, जिसमें अधिक प्रीति हो उसे कैसे कोई भूल सकता है? तो किसी अन्य कार्यमें लग जानेसे पात्रको आहार आदिक देना भूल जाना या भोजन आदिक थालमें लगाकर अन्य कार्योंमें लग जाना या देने योग्य चीजको भूल जाना अथवा पड़गाहनेकी विधि भूल जाना अस्मरण नामका अतिचार है। पांचवा अतिचार है मात्सर्य। अन्य दातारों में ईर्ष्या रखकर आहार आदिक आदिक देना मात्सर्य अतिचार है। इससे अधिक बार मेरे घर आहार हो अथवा इसके यहां आहार न हो। मेरे यहां ही हो जाय आदिक किसी भी प्रकारका मात्सर्य रखकर आहार आदिककी विधि जोड़ना यह मात्सर्य नामका अतिचार है। ऐसे वैयावृत्यके अतिथि सन्धिभागके दानके ये ५ दोष हैं, इनको टाल करके बड़े विनयपूर्वक शुद्ध विधिसे दान करना चाहिए।

इस रत्नकरण्ड ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रिका वर्णन किया है। इसको बोलते हैं रत्नत्रय। और इन रत्नोंका यह पिटारा है इस कारण इस ग्रन्थका नाम है रत्नकरण्ड। इसमें मुनिव्रतका संक्षेपमें संकेत करके मुख्यतया श्रावकोंके उपकारके लिए श्रावकोंके व्रत और कर्तव्योंका वर्णन किया

गया है। श्रावकजन यदि अपने सही कर्तव्य पर चलें तो उनका यह मानवजीवन पाना सफल है। और यदि वे अपने कर्तव्यसे चिग जाय और लौकिक कार्योंको ही महत्त्व दें तो फिर उनका जीवन क्या जीवन है। जैसे अनादि कालसे अनन्त भव पाये वैसे ही यह जीवन भी गुजर जायगा और संसारकी परम्परा बनी रहेगी। इससे बड़ी भावना सहित अपने आपसे और अपनेमें संकल्प बनाइये कि मुझे समस्त जगतको और अपने आत्मस्वरूपको भली प्रकार समझ करके ही रहना है। और स्वरूप समझकर पवित्र रहनेके लिए संसारके समस्त संकट मिटानेके लिए जो करने योग्य कृत्य हैं उनको करेंगे ही। इस धुनमें चाहे लौकिक कामोंमें थोड़ा हानि हो अथवा लौकिकजनोंमें, मायावी पुरुषोंमें कुछ नामवरीकी बात न चल सके, जो भी अन्य हानियाँ हो, उपद्रव हों वे सब सहन करने योग्य हैं। परन्तु अपने आपके रत्नत्रयरूप धर्मसे चिगना कभी भी योग्य नहीं है। रत्नत्रयमें प्रथम प्रकार है सम्यग्दर्शन। भला दर्शन मायने श्रद्धान मायने श्रद्धान। जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही विश्वास बनाना सम्यग्दर्शन है। आत्माका जो सहज यथार्थ स्वरूप है ज्ञानमात्र सबसे निराला अमूर्त, उस रूपमें अपने आपकी श्रद्धा बनानेसे संसारका सारा बोझ हट जाता है। लोगोंने कर्तव्यकी कल्पनामें अपने ऊपर बड़ा बोझ लाद रखा है। मेरेको यह काम करनेको पड़ा है, मैं ऐसा करूँगा, इस ही ख्यालमें अपने पर बड़ा बोझ लाद रखा है। भले ही जब गृहस्थीमें हैं, तब करना पड़ता है, किन्तु यह करना ही है मुझे, इसीमें ही मेरा बड़प्पन है, इसीसे ही मेरी रक्षा है, इससे ही मेरा जीवन है, ऐसा जो भीतरमें अभिप्राय है वह अभिप्राय खोटा है। मैं स्वयं सत् हूँ। जो सत् है वह कभी नष्ट नहीं हुआ करता, मेरा कभी विनाश है ही नहीं। आज इस ढंगमें हूँ, कल किसी और ढंगमें होऊँगा, पर जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। तो दुःखी होनेमें दो बातें सामने हुआ करती हैं। एक तो अपने बारेमें यह ख्याल रखना कि मैं मिट जाऊँगा, मर जाऊँगा मेरा विनाश हो जायगा, दूसरे बाह्य पदार्थोंके संग्रहकी बुद्धि बनती है। मेरे इतना धन हो जाय, कहीं यह न मिट जाय, कहीं इष्टका वियोग न हो जाय, इसमें चित्त रहता है, पर दोनों बातोंके सम्बंधमें कुछ यथार्थता तो देखिये—जो मैं हूँ वह क्या मिट जाऊँगा? जो मैं हूँ वह कभी नष्ट नहीं होता। कैसे नष्ट होगा? जो सत् है उसका अभाव कैसे बनेगा? और मानलो थोड़े समयको कि मैं मिट जाऊँगा, मगर ऐसा हो सकता तो इसमें खुशी मानना चाहिए। मैं मिट जाऊँगा, कुछ भी न रहूँगा, मेरी सत्ता ही न रहेगी, तो फिर सारे झगड़े तो खतम हो गए, पर ऐसा होता ही नहीं है। जगतमें जो है वह कभी मिटता नहीं, पर्यायें बदलती हैं, आज मनुष्य पर्यायमें है, कल दूसरी पर्यायमें पहुँचेंगे, पर विनाश नहीं होता, तब फिर मरणकी या विनाशकी क्यों कल्पना करना? दूसरी बात यह है कि यह कल्पना बनी रहती है कि इन बाह्य पदार्थोंको अपना लूँ, इनका यह काम कर डालूँ, देखो यह काम पड़ा है, ऐसी ही भावना बनी रहे तो उसमें बोझ आता है, पर यथार्थता तो देखिये कि यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा सिवाय भावोंका परिणमन करनेके और कर ही क्या सकता हूँ? यह अपने भावोंका ही परिणमन कर रहा है, इसके अतिरिक्त इसका और कुछ नहीं है। फिर मुझे बाहरमें करनेको क्या पड़ा? कुछ भी बाह्य पदार्थ किसी रूप परिणमें। उसमें मेरा क्या सुधार है और क्या बिगाड़ है? बाह्य पदार्थ बाह्यकी जगह हैं। मैं आत्मा अपने आत्मप्रदेशोंमें हूँ। मेरेको सुख दुःख किसी बाहरी पदार्थसे नहीं आता, आ ही नहीं

सकता। किन्तु मैं स्वयंमें कल्पनायें गढ़ता रहता हूँ। बाह्य पदार्थोंके विषयमें अपने आपकी कल्पनासे अपनी बरबादी समझकर किसीमें अपने अनर्थकी सम्भावना समझकर यह स्वयं दुःखी होता है। इसको दुःखी करने वाला जगतमें कौन है दूसरा? यथार्थ तत्त्वका श्रद्धान हो तो इसमें श्रावकोंकी शोभा और मूलतः कल्याण है। आज नगरोंमें सहस्रोंकी संख्यामें जैन शासनके मानने वाले पाये जाते हैं, अनुयायी तो नहीं हैं पर मानने वाले हैं। जैन शासनके अनुयायी तो वे कहलाते हैं जो उस शासनकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्य बनायें, उसके अनुसार चलें। तो अनुयायी तो नहीं हैं, पर हां कल्पना करते हैं कि मैं मानता हूँ जैन शासनको। तो उन सहस्रोंकी संख्यामें कोई बिरला ही एकआध मिले तो मिले नहीं तो प्रायः बाहरी बाहरी बातोंमें ही सब खुश हैं।

और जो वास्तविक धर्म है, जिससे कि आत्माका कल्याण है, इस भवमें भी आनन्द है, अगले भवमें भी आनन्द है। कर्मोंसे मुक्त होकर सदाके लिए संकटहीन बनें, ऐसे धर्मकी और तत्त्वज्ञानकी प्रतीतिमें कितनोंका आदर है। किनको भीतर में आस्था है? सो भले ही अनेकोंकी संख्यामें लोग धर्मका एक बनावटी रूप धरकर अपनेको धर्मात्मा मानें, मनायें, तो यह उनकी बात है, पर जिसको आत्मकल्याणकी भावना जगी हो वह तो सीधा सच्चा मौलिक कार्य करनेके लिए तैयार हो जाय। वह तैयारी है सर्वप्रथम ज्ञानका सीखना। इससे पहले कुछ धर्मका सवाल ही नहीं। तो सबसे पहला कदम है ज्ञानका सीखना जिससे जैन शासनके अनुयायी बनें। ज्ञान वही सीख सकता है जिसको ज्ञानके प्रति आस्था हो ज्ञान ही मेरा उद्धार करेगा। ज्ञानही मेरे लिए अमूल्य वैभव है, ज्ञानसे ही संसार संकट समाप्त होता है। ज्ञानही मेरा सर्वस्व है। इस ज्ञानके लिए जो इतना तड़फे आदर करे, इसके लिए ही तन, मन, धन, वचन, प्राण सर्वस्व भी समर्पित करना चाहे ऐसी भीतरमें जिसे उमंग जगी हो वही पुरुष ज्ञानसम्पादन कर सकता है। मैं केवलज्ञानका बीज बनूँ। अपनेमें कुछ तो निर्णय रखिये कि आपको क्या बनना है आगे। संसारके धनीमानी व्यक्ति बनना है क्या या संसारके सर्वसंकटोंसे छूटकर केवल आत्मा ज्ञातादृष्टा मात्र रहना है? यदि यह निर्णय हो कि मुझे तो धनी और मान्य बनना है तो समझलो कि इस उत्तम जैन शासनको पाकर मांग लिया घास और भुस, और मान्य बननेसे उन्हें मिल क्या जायगा? यदि कोई कहे कि यहांके लोग मेरी प्रशंसा करेंगे तो भला बतलावोवे प्रशंसा करने वाले लोग कोई भगवान हैं क्या, या संत लोग हैं या मेरे जीवनके ठेकदार हैं? ये जगतमें दिखने वाले लोग अधिकांश तो अज्ञानी, अविवेकी, असभ्य जन हैं। विरले ही विवेकीजन हैं। उन्हीका यह समुदाय है। तो इस समुदायसे कभी दो बातें सुनली प्रशंसाकी तो उससे आत्माका क्या भला हो गया? वे सब बातें असार हैं। जितना यह दृश्यमान समागम है यह मायारूप है। यहां किसीसे क्या चाहना? परमदातार भगवान आत्मासे तो प्रार्थना कर लो, उत्तमसे उत्तम वस्तु मिलेगी। बाहरमें किसी अन्यसे कुछ भी न मिलेगा। तो वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान करना यह है पहली सीढ़ी। फिर वैसा ही ज्ञान बने, और फिर निर्णय पर डटे ही रहनेके लिए स्वाध्याय करना यह है सम्यग्ज्ञानका कर्तव्य और जैसा हमने स्वरूप समझा उस रूपमें अपनेको अनुभवनेके लिए इन बाहरी बाधाओंको दूर करना है। भोगोपभोग परिग्रह इन साधनोंको दूर रखना है यह है व्यवहार सम्यक्चारित्र, और जैसा अपने आपका स्वरूप जाना उसमें

ही उपयोगको मग्न रखना यह है निश्चय सम्यक्चारित्र । यदि श्रावकजन सर्वदेश चारित्र नहीं पाल सकते हैं तो उनको बारह व्रतोंका उपदेश किया है । अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणानुव्रत इन ५ व्रतोंका पालन करें और इन व्रतोंकी वृद्धिके लिए तथा इससे आगे मुनिव्रतके अभ्यासके लिए शिक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करें । इस प्रकार जो बारह व्रतोंका स्वरूप बताया है उसके अनुसार अपने जीवनको बनाना, सो उसीके लिए बताया गया है कि श्रावक व्रतोंका पालन करके यह जीव १६वें स्वर्गमें उत्पन्न होता है । यद्यपि आजकल इतना ऊँचा संहनन नहीं है कि १६वें स्वर्गमें कोई उत्पन्न हो ले पर ८वें स्वर्ग तक उत्पन्न होनेका संहनन आजकल भी है । वह है छठा संहनन । इस संहननके देहमें रहता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की जो आराधना करेगा उसका अवश्य ही कल्याण होगा ।

॥ इति रत्नकरण्ड प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी श्रीमद् 'सहजानन्द' महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आत्म राम ॥टेक ॥

१

मैं वह हूं जो हैं भगवान । जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यह रागवितान ॥

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आशवश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ॥

३

सुख-दुख दाता कोई न आन । मोह राग रुष दुखकी खान ॥
निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहीं लेख निदान ॥

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुंचूँ निजधाम । आकुलताका फिर क्या काम ॥

५

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ॥ दूर हटो परकृत परिणाम । "सहजानन्द"
रहूँ अभिराम ॥